प्रज्ञा

R. Banerjee

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक २८ (भाग २) एवं २९ (भाग १) वर्ष- १९८३.

अंक 28 (भाग 2) एवं 29 (भाग 1)

वर्ष–1983

मूल्य—इक्कीस रूपए

प्रज्ञा

R Balagali



काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अंक 28 (भाग 2) एवं 29 (भाग 1)

वर्ष–1983

मूल्य—इक्कीस रूपए

सम्पादक मण्डल

सम्पादक

डॉ० राममोहन पाण्डेय

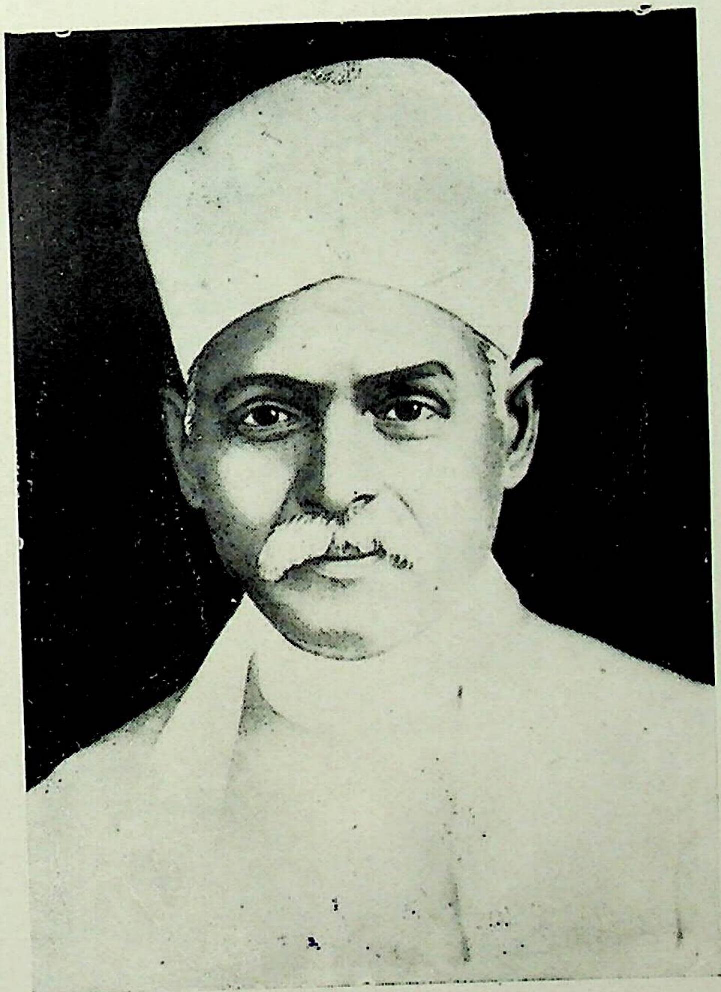
सह सम्पादक

आलोक कुमार मिश्र

मुद्रक—
सिंह प्रिंटिंग प्रेस
नाटी इमली कालोनी, वाराणसी

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना



कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू !

आविर्भाव : वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)

तिरोधान : वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

विषय-सूची

आवरण सज्जा—अनूप अरोडा

———

CONTENTS

Page No.

कामायनी के पौराणिक प्रतीक

डॉ० शिवनाथ पाण्डेय*

"निर्मग्नः श्रुतिजालमार्गणदशादत्तक्षणैर्वीक्षणै–
रन्तस्तन्वदिवारविन्दमहनान्यौदन्वतीनामपाम् ।
निष्प्रत्यूहतरङ्गरिङ्गणमिथः प्रत्यूहपाथच्छटा–
दोलारोहसदोलहं भगवतो मात्स्यं वपुः पातु वः ।" (मत्स्यपुराण)

"जयन्ति ते सुकृतिनः स्थितप्रज्ञा यशोधनाः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ।"

महाकवि 'प्रसाद' हिन्दी कविता की उन महान् विभूतियों में हैं, जिन्होंने अपनी नैसर्गिक काव्यधारा द्वारा सम्पूर्ण हिन्दी काव्यसाहित्य को रसाप्लावित कर दिया है। कारयित्री प्रतिभा के धनी महाकवि 'प्रसाद' को आशुकवि माना जाता है। उनकी साहित्य-साधना की अंतिम परिणति है—'कामायनी', जो बीसवीं शती का श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है। रामचरितमानस के बाद हिन्दी-साहित्य में आज तक जन-जीवन और युग की प्रवृत्तियों का समग्रतः प्रतिनिधित्व करनेवाला यदि कोई काव्य-ग्रन्थ सहृदयों के सम्मुख उपस्थित हुआ है तो वह है—'कामायनी'। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रद्धा और मधु के माध्यम से जहाँ एक ओर सृष्टि-विकास की कथा प्रस्तुत की गई है, वहीं श्लिष्ट रूपक योजना तथा प्रतीकात्मकता द्वारा मानवता के चरम विकास का स्वरूप भी मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। इसका दार्शनिक एवं सांस्कृतिक आधार अत्यन्त पुष्ट है।

प्रस्तुत कृति में शैवागमों में वर्णित आनन्दवाद, समरसता सिद्धान्त और प्रत्यभिज्ञादर्शन की शैवधारणाएँ अनेक प्रतीकों के माध्यम से सामने आयी हैं। इसकी अन्य प्रमुख विशेषता है—सम्पूर्ण कथावस्तु का मानव-चेतना के भीतर ही घटित होना। आधिभौतिक या ऐहिक आधार इसका केवल बाह्य आवरण मात्र है। कथावस्तु के अंतर्मुखी विकास के कारण कामायनी में कार्य व्यापार का अपेक्षाकृत अभाव है।

प्रस्तुत महाकाव्य के सर्गों का नामकरण भी मानव-मन की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर किया गया है। अतः इसका अन्तर्मुखी होना स्वतः सिद्ध है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि महाकवि प्रसाद की काव्य-साधना का प्रकर्ष या पूर्णसिद्धि 'कामायनी' है, जिसकी रचना के पीछे साधना का सातत्य और चिन्तन की व्युत्पन्नता निहित है।

---

*एम. ए. (द्वय), पी-एच० डी०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य,
उप-प्रधानाचार्य, भगत सिंह कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

(१) मूल-प्रेरणा :

यह सुनिश्चित है कि प्रसाद जी ने कामायनी की रचना की मूल प्रेरणा शतपथ ब्राह्मण, ऋग्वेद तथा श्रीमद्भागवत से प्राप्त की थी। उसी को मूल आधार बनाकर उन्होंने कामायनी की कथावस्तु का विस्तार-प्रसार किया है। कवि ने कथासूत्रों को जोड़ने के लिए अपनी कल्पना शक्ति एवं प्रतिभा का भी उपयोग किया है। यद्यपि उन्होंने 'कामायनी' की भूमिका में मनु को ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं—जिसने मनु को देवों से विलक्षण मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया, वह इतिहास ही है। "मनवे वै प्रातः" से इस घटना का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में मिलता है।

इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति यदि की जाय तो 'इति' का अर्थ होगा—'ऐसा' 'ह' का अर्थ है—निश्चय ही' और 'आस' का अर्थ है—'हुआ' पूरे पद का तात्पर्य है—'ऐसा निश्चय ही हुआ। प्रश्न है कि क्या मनु जो कामायनी के अन्तर्गत मानवता के आदि पुरुष ही थे ? दूसरा प्रश्न है—देवसंस्कृति का ध्वंस जलप्लावन और मनु द्वारा मानव-संस्कृति का पुनः सृजन किस प्रकार हुआ ? वस्तुतः प्रसाद जी द्वारा वर्णित देवसंस्कृति, भोगवादिता की प्रतीक मात्र थी, अतः देवसंस्कृति के ध्वंस की कल्पना केवल प्रतीकात्मक है, जो भोगवादी मानव के विनाश की सूचना देती है।

(२) जल-प्लावन :

जलप्लावन की घटना विश्व इतिहास की एक प्रमुख घटना है; जिसका उल्लेख वेद, पुराण, बाइविल एवं कुरान आदि में सर्वत्र थोड़े बहुत अंतर के साथ मिलता है। जलप्लावन के साथ मत्स्य का सम्बन्ध है, अतः सर्वप्रथम मत्स्य पुराण के आधार पर चर्चा करना उचित है। मत्स्यपुराण के अनुसार मनु को मलयदेश का राजा बताया गया है।[1] उन्होंने घोर तपस्या की; जिससे विष्णु ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने को कहा। मनु ने कहा—"जब प्रलय हो, उस समय मैं समस्त स्थावर एवं जंगम जीवों की रक्षा कर सकूँ, ऐसी शक्ति आप मुझे प्रदान करें।" तथास्तु कहकर भगवान विष्णु अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् एक दिन तर्पण करते समय एक मछली उनके हाथ में आ जाती है। राजा दयावश उसकी रक्षा में प्रवृत्त होते हैं। उसे पहले मिट्टी के पात्र में रखा जाता है। रात दिन बढ़कर वह १६ अंगुल की हो जाती है। क्रमशः बढ़ते रहने पर उसे कूप, सरोवर, नदी और अन्त में समुद्र में छोड़ दिया जाता है। उसके निरन्तर बढ़ते रहने से मनु भयभीत हो जाते हैं और उनसे परिचय पूछते हैं। मत्स्य वेषधारी भगवान विष्णु उन्हें अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि शीघ्र ही प्रलय काल उपस्थित होने पर समस्त पृथ्वी डूब जायेगी। देवताओं द्वारा निर्मित एक नौका समस्त चराचर की रक्षा के लिए उपस्थित होगी। तुम उसमें समस्त स्थावर जंगम पदार्थों को रख देना। जब नौका डगमगाने लगे, तो उसे मेरे सृंग में बाँध देना, जिससे वह संयमित हो जायेगी[2]। समस्त स्थावर जंगम पदार्थों के नष्ट हो जाने पर तुम प्रजापति कहलाओगे[3]।

मनु और मत्स्यवपुधारी विष्णु का यह संवाद कृत युग (सत्ययुग) के प्रारम्भ में हुआ था। मन्वंतर के अधिपति होने के कारण वैवस्वत मनु देववत्पूजित हुए[४]।

(३) शतपथ ब्राह्मण का आधार :

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के अष्टम अध्याय के प्रथम ब्राह्मण के प्रथम मंत्र[५] में जलप्लावन की विस्तृत कथा उपलब्ध है; जिसे कामायनी का प्रमुख आधार माना जाता है। इसकी कथा भी मत्स्य पुराण की पूर्ववर्णित कथा से बहुत कुछ मिलती है। जलप्लावन के समय मनु नौका में बैठकर मत्स्य के शृङ्ग में नौका को रस्सी से बाँध देते हैं। मत्स्य उस नौका को हिमालय के समीप ले जाता है; जहाँ उसे वृक्ष से बाँध दिया जाता है। जलप्लावन के पश्चात् केवल मनु ही बचे रहते हैं। वस्तुतः यही कथा कामायनी की मूल कथा का आधार है।

जलप्लावन की यह कथा थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ जैमिनीय ब्राह्मण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, अग्निपुराण तथा भविष्य पुराण आदि में मिलती है। जैमिनीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि सामवेद की ऋचाओं ने ही नौका का रूप धारण कर मनु की रक्षा की थी। श्रीमद्भागवत के अनुसार द्रविड देश के राजा सत्यव्रत ने मलय पर्वत के समीप तपस्या की थी। इनमें केवल नामभेद है। मूलकथा पूर्ववत् है।

स्वायंभुव मनु ही आदि मनु थे। वैवस्वत मनु उनके बाद होने वाले सातवें मनु हैं। अग्निपुराण में विष्णु के पुत्र ब्रह्मा, उनके पुत्र मरीचि, उनसे कश्यप, उनसे सूर्य और सूर्य से वैवस्वत मनु हुए। वस्तुतः वैवस्वत् का अर्थ ही है—सूर्य से उत्पन्न। भविष्य पुराण में जो कथा मिलती है, वह बाइबिल के समीप है। भागवत में मनु को श्राद्धदेव भी कहा गया है। सृष्टिक्रम में चौदह मनुओं का उल्लेख मत्स्यपुराण में मिलता है।

१. स्वायंभुव	८. सावर्णिक
२. स्वारोचिष	९. रौच्यादि
३. औत्तमीय	१०. ऋत्
४. तामस	११. ऋतधामा
५. रैवत	१२. विष्वक्सेन
६. चाक्षुष	१३. भूति (भौत्य)
७. वैवस्वत	१४. मेरु सावार्णिक

वर्त्तमान समय में वैवस्वत मनु का मन्वंतर चल रहा है। इसके पूर्व छः मनु हो चुके हैं। वे सभी अपने-अपने मन्वंतर के अधिपति थे। उन सभी की 'प्रजापति' संज्ञा रही है। इस मन्वंतर के पश्चात् सात मनु और होंगें। प्रत्येक मन्वंतर में सात ऋषि भी हुए। प्रत्येक मनु ने दस पुत्रों को उत्पन्न किया। वर्त्तमान मन्वंतर के सात ऋषि हैं—अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र एवं जमदग्नि।[६] नवें मनु प्रजापति के पुत्र होने से 'रौच्य' संज्ञा से अभिहित किये जायेंगें।

(४) मन्वंतर-समय :

मत्स्य पुराण में प्रत्येक मन्वंतर का समय एक हजार युग बतलाया गया है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग का चक्र जब एक हजार बार बीत जायेगा, तब प्रलयकाल उपस्थित होगा और एक मन्वंतर समाप्त हो जायेगा।[७] अतः जहाँ तक ऐतिहासिकता का प्रश्न है—कामायनी के मनु मानवता के आदिपुरुष नहीं हैं। इस दृष्टि से स्वायंभुव मनु को हम मानवता का आदिपुरुष मान सकते हैं। वर्त्तमान सृष्टि के मनु वैवस्वत को मानवता के आदिपुरुष का प्रतीक मात्र माना जा सकता है।

(५) मत्स्य की प्रतीकात्मकता :

जलप्लावन के समय नौका द्वारा मनु की रक्षा हुई। यह नौका सामान्य नौका नहीं, बल्कि वेदों ने ही नौका का रूप धारण किया। 'वेदनावम्' से यह बात स्पष्ट होती है। नाव में जिस रस्सी का प्रयोग किया गया, वह शेषनाग ही थे, तथा मत्स्य जिसके शृंग में नाव बांधी गई, वे स्वयं सृष्टिकर्त्ता विष्णु ही थे।

प्रलय के पूर्व मनु ने नौका में सभी पदार्थों के बीज (सत्त्व बीजानि) रख दिये थे, जिससे अग्रिम सृष्टि में ये सारी वस्तुएँ पुनः अस्तित्व को प्राप्त करें।

मत्स्य की प्रतीकात्मकता का जहाँ तक प्रश्न है, वेदों एवं पुराण साहित्य में अनेक वर्णन उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर 'कामायनी' के प्रतीकों की व्याख्या की जा सकती है। जहाँ तक मत्स्य के स्वभाव का प्रश्न है, वह अण्डे का (egg) प्रतीक मात्र है। यह समस्त संसार ब्रह्म का अण्ड है; जिसे ब्रह्माण्ड भी कहते हैं। ब्रह्म में स्वयं मत्स्य रूप ग्रहण किया था; अतः ब्रह्माण्ड और मत्स्याण्ड एक ही हुआ।

वेदों में जहाँ 'हिरण्याण्ड' की चर्चा मिलती है, वहाँ ब्रह्म को जीवनी सिद्धान्त का आधार माना गया है। वह चेतना अथवा जीवनी शक्ति को पुनः जागृत करता है। वही जीवों की उत्पत्ति का कारण भी है। एक जीव से दूसरे जीव उत्पन्न होते रहते हैं। उत्पत्ति की यह प्रक्रिया आगे आने वाले समय में बराबर चलती रहती है।

वैदिक-साहित्य में मिलनेवाली 'हिरण्यगर्भ' की कथा मत्स्यावतार में वर्णित मत्स्य से मिलती है। मत्स्य अण्ड-सिद्धान्त का पूर्ण एवं उचित प्रतीक है। आज के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर ही मत्स्य का जन्म होता है। मछलियाँ जल के एक विशेष तापमान वाले भाग में समुद्र के निम्न सतह में रहती हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता है—अत्यधिक मात्रा में अण्डे देना। बहुत सी मछलियाँ ऐसी भी होती हैं, जो वर्ष में करोड़ों अण्डे देती हैं। मछलियों का, अण्डे से बढ़कर पूर्ण रूप में विकसित हो जाने की प्रक्रिया ठीक वैसी ही है, जैसे गर्भ में बच्चे का भ्रूण से विकसित होना। मत्स्य अण्डज जीवों का प्रतीक है। मछलियों के अण्डों में अनेक जीवधारी कीटाणु रहते हैं। मनुष्य को जरायुज कहा जाता है।

(६) अण्ड के विशिष्ट गुण :

(क) जल में तैरना :

वेदों में जल को मातृशक्ति का प्रतीक माना गया है; वहाँ जल को सोम का

समुद्र कहा गया है[c]। वेदों में इस वात का भी उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में जल मातृ-सिद्धान्त के रूप में ही स्थित था। व्रह्मा ने सृष्टि विस्तार की कामना से तपस्या की तदनन्तर तपस्या के प्रभाव से जल में एक हिरण्याण्ड उत्पन्न हुआ। उससे संवत्सर उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् वह हिरण्याण्ड कई संवत्सर तक जल में पड़ा रहा[९]।

(ख) सृष्टि का प्रथम सिद्धान्त-- सोम :

हिरण्याण्ड के संदर्भ में जल की चर्चा स्पष्ट रूप से अपना एक विशेष अर्थ रखती है। जीव को विकसित करनेवाली शक्ति को यहाँ जल के माध्यम से प्रकट किया गया है। यह जल माता के गर्भ में रहनेवाले रेतस् का प्रतीक है। जिस प्रकार वहाँ पुरुष वीर्य के पहुँचने पर तत्काल जीव की उत्पत्ति हो जाती है; उसी प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया में अग्नि के सम्पर्क से जीवों की उत्पत्ति होती है। सृष्टि-प्रक्रिया में भी ऋषियों ने इसी सिद्धान्त को अपनाया है। वेदों में यह सिद्धान्त 'सोम सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध है; इसे 'व्रह्मणस्पति सोम' अथवा 'व्यापक ऋत्' भी कहते हैं।

यह व्यापक सोम छावापृथिवी में फैला रहता है और जीवनी-सिद्धान्त को विकसित एवं कार्य करने के लिए बराबर शक्ति प्रदान करता है। सोम अन्न और जीवन प्रदान करता है, यही अग्नि का भी कार्य है अर्थात् सोम और अग्नि एक साथ रहते हैं और संसार को जीवनी शक्ति प्रदान करते रहते हैं। सोम माता और अग्नि उसका पुत्र।

अण्ड के सम्बन्ध में प्रयुक्त सोम अथवा जल समुद्र रूप में स्थित रहता है और अग्नि अथवा जीवधारी कीटाणु के संयोग से जीवों की उत्पत्ति होती है। सोम और अग्नि अथवा रेतस् एवं वीर्य के संयोग से जीवों की उत्पत्ति होती है।

(ग) द्वितीय सिद्धान्त—अग्नि :

अण्ड का द्वितीय विशिष्ट गुण है—अग्नि की उत्पत्ति अर्थात् जीवन-सिद्धान्त (Life Principle) या प्राण की उत्पत्ति। यह अग्नि अण्ड के अन्दर मिलावट को नियन्त्रित करती है, तथा जीवाणु को विकसित करती है।

वैदिक शब्दावली में—

(i) अग्नि=प्राण=हिरण्य=शुक्र=वीज=रेतस्=ज्योतिः।

(ii) वरुण = समुद्र=सोम=जल।

इन्द्र सुवर्णमय जीव की रक्षा करते हैं, जो अण्ड में स्थित होता है।

(घ) तृतीय सिद्धान्त—वृद्धि (विकास) (Growth) :

अण्ड के भीतर तीसरी वस्तु जो उपस्थित रहती है वह है—महिमा; जिसके परिणामस्वरूप 'अणु' 'महत्' वन जाता है और वामन विराट् वन जाते हैं। इसको नियमित करने वाले विष्णु हैं, जो इन तीन तत्त्वों (सोम, अग्नि एवं महिमा) से अणु रूपी जीव को पूर्ण विराट् पुरुष के रूप में वदल देते हैं। इसीलिए व्राह्मण ग्रन्थ कहते हैं—'प्रारम्भ में जो वामन (सूक्ष्म) था, वही विराट् रूप में वदल गया।' वैदिक-

साहित्य[10] की उपर्युक्त प्रक्रिया पुराण ग्रन्थों में आकर त्रिविक्रम (वामन) की कथा के रूप में प्रचलित हो गई, जहाँ विराट् विष्णु ने अपने तीन पग द्वारा त्रैलोक्य को नाप लिया।

(७) जीवन के तीन सिद्धान्त :

जीवन के तीन प्रमुख तत्त्व हैं—

(i) रेतस् और वीर्य का मिलना (Assimilation and Elemination)
(ii) बढ़ना (Growth)
(iii) पुनरुत्पत्ति (Precreation)

ये तीनों तत्त्व ऋग्वेद के अश्ववामीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में मिलते हैं। इन्हीं तीन तत्त्वों को अग्नि का तीन भाई। बतलाया गया है। इसी को त्रयी विधा भी कहते हैं, जिस पर जीवनी-सिद्धान्त आधारित है। माता सोम हैं, पिता अग्नि हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाला पुत्र महिमा है; जो उन दोनों के कारण उत्पन्न हुआ। वरुण सोम अथवा जल को नियन्त्रित करते हैं। इन्द्र, अग्नि को नियंत्रित करने वाले हैं तथा विष्णु महिमा को अर्थात् विकास को नियन्त्रित करने वाले हैं। ये ही तीन प्रधान देवता भी माने गये हैं, जो जीवन को नियंत्रित करते हैं।

(८) एकार्णव समुद्र :

पुराणों में जलप्लावन के लिए 'एकार्णव' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो अपना एक विशेष अर्थ रखता है। प्रत्येक सृष्टि की संरचना में देश और काल महत्व-पूर्ण भूमिका निभाते हैं। सृष्टि का लय भी अन्त में ही होता है। समुद्र की अनन्त जलराशि ही पुनः सृष्टि का साधन बनती है। तात्पर्य यह है कि समुद्र की अनन्त जल राशि से ही सृष्टि का प्रारम्भ होता है और समाप्ति के बाद भी अन्त में जल ही अवशिष्ट रह जाता है। हरिवंश पुराण में समुद्र को महार्णव, एकार्णव, अगाध, स्तब्ध सलिल तथा केवल 'सलिल' की संज्ञा दी गई है[11]। भागवत उसे 'युगान्तसोम' कहकर पुकारता है[12]। जलप्लावन से एकाकार हुआ समुद्र नीहार के द्वारा आच्छन्न रहता है[13]। संसार की समस्त वस्तुओं की सत्ता समाप्त हो जाती है और वे सभी अन्धजार से ढँक जाती है। एकमात्र समुद्र की ही सत्ता अवशिष्ट रह जाती है[14]। हरिवंश के टीकाकार नीलकंठ ने जल को "कारण ब्रह्मणि" कहा है, क्योंकि जल ही अंतिम रूप है, जिससे पुनः सृष्टि की संरचना होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रभृति पाँच तत्त्वों में से केवल जल की ही सत्ता अवशिष्ट रहती है, जिसे एकार्णव समुद्र कहते हैं। प्रलयकाल उपस्थित होने पर छोटे-छोटे जलाशयों की पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है और वे सभी समुद्र में मिलकर एकाकार हो जाते हैं। जब पुनः सृष्टि का प्रारम्भ होता है, तो यही व्यष्टि की सत्ता पुनः अस्तित्व को प्राप्त करती है, जो कमण्डलु, कूप, नदी तथा समुद्र प्रभृति नामों से प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किये जाते हैं। विष्णु पुराण में बतलाया गया है कि

एकार्णव समुद्र की कल्पना अत्यन्त प्राचीन है। सृष्टि एवं प्रलय की प्रक्रिया के रहस्य को वे ही समझ सकते हैं, जो ब्रह्मवादिन् हैं[१५]।

(९) शेषशायी विष्णु का अर्थ :

प्रलयकाल उपस्थित होने पर एकार्णव समुद्र में सभी प्रकार के जल आकर समाहित हो जाते हैं और जब पुनः सृष्टि-रचना प्रारम्भ होती है, तो उसमें क्रियाशीलता उत्पन्न होती है। प्रलयकालीन जल की 'स्थिति' संज्ञा है। उस जल में क्रियाशीलता का प्रतीक अनंत शेष को माना गया है, जिसकी भोगिशय्या पर भगवान विष्णु प्रलय-काल में सोते हुए विश्राम करते हैं। सृष्टिकर्त्ता के दो पहलू हैं। एक पहलू को 'विष्णु' संज्ञा से अभिहित किया गया है। 'विष्णु' शब्द 'विश्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—प्रवेश करना। सृष्टि कर्त्ता जो बनाता है, उसमें स्वयं प्रविष्ट हो जाता है[१६], इसीलिए उसे 'विष्णु' संज्ञा से अभिहित करते हैं। उस सृष्टिकर्त्ता का जो अंश सृष्टि की जानेवाली वस्तु या जीव में प्रविष्ट न होकर अवशिष्ट रह जाता है, उसे 'शेष' (बचा हुआ) कहते हैं। इसी शेष को 'पराब्रह्मन्' भी कहा गया है। 'शेष' और 'विष्णु' दोनों परब्रह्म के दो पहलू हैं, जो परस्पर सम्बद्ध हैं। उन्हें कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। पुराणों की प्रतीकात्मक शब्दावली में शेषशायी विष्णु का यही अर्थ है, जिसे स्थान-स्थान पर व्यक्त किया गया है।[१७]

(१०) सर्वंहुत् यज्ञ :

ऋग्वेद में सृष्टि के प्रारंभ होने की प्रक्रिया को 'प्रथमच्छदवराँ आविवेश' (ऋग्वेद १०।८१।१) द्वारा व्यक्त करते हुए बतलाया गया है कि जब विश्वकर्मा प्रजापति ने पुनः सृष्टि करने की इच्छा की, तो सर्वप्रथम उन्होंने अपने आप को (अहं को) सृष्टिकर्त्ता को समर्पित कर दिया, अर्थात् अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर दिया।[१८] इसी को सर्वंहुत् यज्ञ कहा गया है। सृष्टि-रचना एक यज्ञ है। इस यज्ञ की तुलना स्वयं पुरुष प्रजापति से की गई है, जो अनन्त हैं, हजारों सिर वाले हैं, और नारायण पुरुष हैं। यही कारण है कि विष्णु पुराण नारायण और ब्रह्मा को एक मानता है, क्योंकि ब्रह्मा, नारायण की अमृत शक्तिसम्पन्न नाभिकुण्ड से उत्पन्न हुए थे। सृष्टि प्रक्रिया के संदर्भ में पौराणिक प्रतीकों को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

(११) मनु-सिद्धान्त :

मनुस्मृति के अनुसार मनु शाश्वत ब्रह्म के प्रतीक माने गये हैं। जीवनी-सिद्धान्त, जिसे 'प्राण कहते हैं, 'इन्द्र' शब्द से प्रकट किया गया है। 'इन्द्र' शब्द 'इन्ध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—'जलना' या चमकना'[१९]। प्राण-तत्त्व ही जीवन को गतिशील बनाता है। मनु विश्वचेतना के प्रतीक हैं। उन्हें 'प्राण' 'चेतना' 'समज्ञा' आदि विभिन्न नामों से व्यक्त किया गया है। 'मनु' सृष्टिकर्त्ता के मन के रूप में कल्पित किये गये हैं। मन 'अहं' का ही रूप है। यही कारण है कि वामदेव ऋषि ने अपने अहं की तुलना

मनु और सूर्य से की है[२०]। मनु और सूर्य पिता और पुत्र के रूप में कल्पित किये गये हैं। सूर्य को ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है[२१]। इसी आधार पर मनुस्मृति में मनु को शाश्वत ब्रह्म के समान बतलाया गया है।

(१२) मनु के दो रूप :

सृष्टि कर्त्ता का मन (Mind) समुद्रवत् है। वह अपने मस्तिष्क या मन में जो विचार करता है, सृष्टि की संरचना उसी के अनुरूप होती है। सृष्टि के विषय में अपने मस्तिष्क में जो योजना वह बनाता है, सृष्टि की संरचना उसी के अनुसार होती है। सृष्टिकर्त्ता और सृष्टिसंरचना में इसी कारण पूर्ण समानता है। मनु के दो रूप हैं—मनु पहले प्रजापति हैं, जो देश और काल से अपरिच्छिन्न हैं। इसके अतिरिक्त मनु प्रत्येक मन्वंतर के शासक भी हैं। प्रत्येक मनु अपने मन्वंतर के पूर्ण अधिकार सम्पन्न शासक हैं, और यह इनका अधिकार है कि वे अपने मन्वंतर में सृष्टिकर्ता के नियमों का पालन करें और करायें।

हिन्दू राजनीति के अनुसार प्रत्येक राजा मनु का प्रतिनिधि होता है और उसका कर्तव्य होता है कि वह मनु द्वारा बनाये नियमों के अनुसार प्रजाओं का पालन करें।[२२]

इस संदर्भ में कालिदास की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जहाँ उन्होंने कहा है कि राजा को अपने मार्ग से जरा भी नहीं चूकना चाहिए।[२३] यही कारण है कि मत्स्यावतार की कथा में भी मनु की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि वे प्रलयकाल उपस्थित होने पर सभी वस्तुओं के बीजों की रक्षा करें।

(१३) वेद रूपी नौका :

मत्स्य पुराण के अनुसार एकार्णव समुद्र में तैरने वाली नौका वेद रूपा ही थी।[२४] यह जलप्लावन छठें मन्वन्तर के अंत में हुआ था, जो चाक्षुष मनु का समय माना जाता है। यह समय वर्त्तमान सृष्टि के पूर्व का समय था, किन्तु मत्स्यवपुधारी विष्णु ने वैवस्वत मनु को ही प्रलयकाल में रक्षा का आश्वासन दिया था।[२५] वस्तुतः यह आश्वासन चाक्षुष मनु को दिया जाना चाहिए।

इस मनु सम्बन्धी नाम भेद का कारण यह है कि समय-समय पर एक मनु के पश्चात् दूसरे मनु आते रहे हैं, अतः कहीं-कहीं नामभ्रम हो जाना संभव है। मूल तत्त्व सभी मनुओं में एक समान था। अर्थात् प्रत्येक मनु अपने-अपने मन्वंतर के प्रजापति थे और नियमानुसार प्रजा का पालन करते थे।

नौका को वेद का प्रतीक मानना पुराणसाहित्य का एक बहुचर्चित विषय है। इस प्रतीक का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है, जहाँ वरुण का समस्त पक्षियों का जानने वाला बतलाया गया है।[२६] वेद का समुद्र में तैरनेवाली नौका के रूप में कल्पित किया गया है। वेदों से ही यह प्रतीक पुराण-साहित्य में आया है।

वेद, ज्ञान ही है; अतः इसे सृष्टिकर्त्ता के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है। सृष्टि संरचना सृष्टिकर्त्ता की समाधि का परिणाम है। वेदों को सृष्टिकर्त्ता के मस्तिष्क, विचार

अथवा ज्ञान का प्रतीक माना गया है। वेदों का ज्ञान अमृतस्वरूप है, जो देश एवं काल की सीमा से परे है। यही कारण है कि वेदों को अपौरुषेय कहा जाता है। यह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा रचित न होकर स्वयं सृष्टिकर्त्ता के मुख से ही प्रादुर्भूत हुआ था। मंत्र रूप में ही वेदों को सुना गया; अतः उसे 'श्रुति' संज्ञा भी प्राप्त है। वेदों को 'मंत्रात्मक वेद', 'ब्रह्मराशि' 'शब्दराशि' अथवा अमृतावाक्' भी कहते हैं। वेदों की अनंत शब्दराशि अंतरिक्ष में स्थित है और सृष्टिकर्त्ता के स्वयं मुख से प्रादुर्भूत है[२७]।"

(१४) वेद ऋषि रूप में :

वेदों को ऋषि अथवा छन्द रूप में स्वीकार किया गया है। जहाँ ऋषि हैं, वहाँ वेद हैं, अर्थात् सर्वप्रथम वेदों की रचना हुई, तदनन्तर प्राणरूपी ऋषि प्रादुर्भूत हुए। शतपथ ब्राह्मण में इस प्रक्रिया पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है[२८]। इस प्राणिक शक्ति से वस्तुरूपात्मक जगत् की सृष्टि हुई। इससे तीन सिद्धान्त स्पष्ट हुए :—

(१) मन (Mind) सृष्टि रचना का विचार ('इदं इच्छन्तः') (२) जीवनी तत्त्व (Life) (३) वस्तु Matter (४) श्रम (Toil) इन तीनों शक्तियों ने परस्पर संघर्ष किया, तत्पश्चात् एक व्यापक शक्ति उत्पन्न हुई, जिससे आकाश एवं गंभीर समुद्र की रचना की, तदनन्तर सृष्टिकारक बीज से (भुवनस्य रेतः) व्यापक वृक्ष की सृष्टि हुई जिसे वेदों में हजार शाखाओं वाले वनस्पति के रूप में कल्पित किया गया है। उपनिषदों ने उसे 'अश्वत्थ' अभिधान प्रदान किया है।

(१५) हिरण्यगर्भ विधा :

जल से जीवन प्राप्त करनेवाले जीवों का प्रतिनिधित्व मत्स्य करता है, इसलिए जलप्लावन के सन्दर्भ में मत्स्य की कल्पना की गई है। यह विश्व 'अण्ड' का प्रतीक है, जिसे 'विराज' कहते हैं। पुराणकारों के लिए हिरण्य अण्ड के रूप में विश्व की कल्पना अत्यन्त प्रसिद्ध रूपक है, जिसे हिरण्यगर्भ विधा भी कहते हैं।[२९] मत्स्यपुराण के अनुसार यह संसार सर्वप्रथम हिरण्य अण्ड के रूप में था, जो मानो प्रजापति का दूसरा रूप ही था।[३०] इस अण्डे की ब्रह्माण्ड, जगदाण्ड, मार्त्तण्ड, एवं विराज अण्ड के अभिधानों से पुकारा गया है। तात्पर्य यह है कि यह विश्व (भुवन) अण्ड रूप में स्थित था, जो स्वर्णिम एवं अपूर्व शक्ति सम्पन्न था। यह अण्ड समुद्र में, जो कि मातृशक्ति सम का प्रतीक है, हजारों वर्षों तक पड़ा रहा[31], जिसे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने दो हिस्सों में अलग कर दिया, जिसका एक हिस्सा आकाश के रूप में स्थित है और दूसरा समुद्र रूप में।[3]

(१६) अण्ड की तीन स्थितियाँ :

उत्पत्ति के पूर्व अण्ड की तीन स्थितियाँ मानी गई हैं। प्रथम स्थिति है—स्वयंभू परमेश्वर की जो स्वयं स्थित हैं और सृष्टि के पिता के रूप में कार्य करते हैं। वे अव्यक्त देशकाल की सीमा से परे एवं सनातन पुरुष हैं। वे एक ही साथ सबसे छोटे एवं सबसे बड़े 'अणु' एवं 'ज्यायान्' हैं। उनमें सृष्टि को पुनः गति में ले आने की पुंस्त्वशक्ति भी

है। दूसरी स्थिति है—मातृशक्ति का सिद्धान्त, जिसे ऋग्वेद में 'विराज' संज्ञा से अभिहित किया गया है। हजारों सिर वाले सनातन पुरुष, जो संपूर्ण सृष्टि के पिता हैं तथा विराज जो माता हैं, जब एक दूसरे में संपृक्त होते हैं, तो उससे हिरण्यरूपी अण्ड की उत्पत्ति होती है। यह अण्ड विराज का पुत्र है, अतः विराज 'अण्ड' कहा जाता है। इसे 'विराज मनु' भी कहते हैं, जो अण्ड में स्थिति जीवनी सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करता है। यही ऋग्वेद में वर्णित 'विराजपुरुष' हैं। 'विराज मनु' भी यही हैं। 'विराज पुरुष' और हिरण्यगर्भ अथवा नारायण भी यही हैं।

(१७) नर-नार-नारायण :

उपर्युक्त 'हिरण्यगर्भ विद्या' का स्पष्टीकरण हो जाने के अनंतर 'नारायण' शब्द का अर्थ स्वयं स्पष्ट हो जाता है। प्रारंभ में केवल सनातन पुरुष (ईश्वर) था, जिसे 'नर' कहते हैं। उसने स्वयं ही मातृसिद्धान्त जल या सोम को उत्पन्न किया, जिसे 'नार' कहते हैं। 'नारायण' 'नार' का पुत्र है, जो 'नर' और 'नार' के संयोग से उत्पन्न हुआ। बहुत से पुराणकारों ने नर-नार-नारायण की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकार किया है।[33]

इस प्रकार पुराणों के प्रतीक अपना निश्चित अर्थ रखते हैं। चूँकि 'कामायनी' की कथा मत्स्यावतार, प्रलय, देवसृष्टि के ध्वंस एवं मनु की परंपरा से जुड़ी है, अतः उसके तात्पर्य को समझने के लिए पुराण-सम्बन्धी प्रतीकों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से मनु एवं उनसे सम्बन्धित सृष्टि-प्रक्रिया का अर्थ स्पष्ट हो चुका है।

प्रसाद जी ने 'कामायनी' की कथा को वेदों, शतपथ ब्राह्मण एवं मत्स्यपुराण से ग्रहण किया है और उसे अपनी अद्भुत कारयित्री प्रतिभा के बल पर सुन्दर रूप दिया है। कामायनी के मनु ऐतिहासिक पुरुष न होकर मानवता के आदि पुरुष के प्रतीक मात्र हैं।

संदर्भ

[१] "पुरा राजा मनुर्नाम चीर्णवान् विपुलन्तपः।
पुत्रे राज्यं समारोप्य क्षमावान् रविनंदनः।
मलयस्यैक देशस्तु सर्वात्म गुण संयुतः।
समदुःखसुखोवीरः प्राप्तवान् योगमुत्तमम्।" —मत्स्यपुराण—१।१२-१३

[२] "युगान्तावातभिहिता यदाभवति नौर्नृपः।
शृङ्गेऽस्मिन्मम राजेन्द्र तदेनां संयमिष्यसि।"

[३] "ततोलयान्ते सर्वस्य स्थावरस्य चरस्य च।
प्रजापतिस्त्वं भविता जगतः पृथिवीपते।"

[४] "एवं कृतयुगस्यादौ सर्वज्ञो धृतिमान्नृपः।
मन्वन्तराधिपश्चापि देवपूज्यो भविष्यसि।"

—मत्स्य पुराण १।३३, ३४, ३५

[5] "मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाऽऽहरत्येव तस्यावने निजानस्य मत्स्यः पाणीऽत्रापेदे। स हो वाच। अपीपरं वै त्वा वृक्षे नावं प्रतिवध्नीष्व त्वं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद्यावादुदकं समवायात्तावत्तावदन्वसर्पासीति स ह तावत्तावदेवान्ववससपर्यतदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पण मित्योधौ ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाऽथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे।" शतपथ ब्राह्मण-१।८।१।१

[6] अत्रिश्चैव वशिष्ठश्च कश्यपो गौतमस्तथा।
भरद्वाजस्तथायोगी विश्वामित्रः प्रतापवान्।
जमदग्निश्च सप्तैते साम्प्रतं ते महर्षयः।
कृत्वा धर्मव्यवस्थानं प्रयान्ति परमं पदम्। —मत्स्य ९।२७-२८

[7] एते युग सहस्रान्ते विनश्यन्ति पुनः पुनः।
ब्रह्माद्याविष्णु सायुज्यं याता यास्यन्ति वै द्विजाः। —मत्स्य ९।३९

[8] "आपः सलिलम् समुद्रः ऋत्।"

[9] "आपोऽहवाऽइदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त कथं नु प्रजायेयहीति ता अश्राम्यँस्तरास्तपोऽतप्यन्त, तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं संबभूवाजातो ह तर्हि संवत्सरा आस तदिदं हिरण्मयमाण्डं यावत्संवत्सरस्य वेला तावत्पर्यप्लवते।" —शतपथब्राह्मणम् ११।१।६।१

[10] वामनो हि विष्णुरास।—शतपथब्राह्मणम्। १, २, ५, ५
स हि वैष्णवो यद् वामनः। —वही ५, २, ५, ४।

[11] हरिवंशपुराण—३, १०, १

[12] भागवतम्—३, ८, २३।

[13] यथाचैकार्णवजले नीहारेण वृतान्तरे।
अव्यक्तभीषणे लोके सर्वभूत विवर्जिते। —हरिवंश—३, १०, ३१।

[14] भित्वा सहस्रशश्चैव महीं नीत्वा रसातलम्।
रसातलजलं कृत्स्नं पिवते रसमुत्तमम्। —वही—३, ९, ३

[15] वेदवादविदोविद्वन् नियता ब्रह्मवादिनः।
पठन्ति चैतमेवार्थम्। —विष्णु पुराण १.२.२२

[16] "तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशत्।"

[17] "एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मानारायणात्मकः।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः।" —विष्णु—१.३.१४

[18] य इमा विश्वा भुवनानि जुहद्।

[19] शतपथ ब्राह्मणम्—६, १, १, १।

[20] "अहं मनुरभवं सूर्यश्च।"—ऋग्वेद, चतुर्थ मण्डल २६, १।

[21] "ब्रह्मसूर्यसमं ज्योतिः।" यजुर्वेद २३, ४८।

[22] "रेखामात्रमपि क्षुण्णादात्मनोवर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुः नेमिवृत्तयः।" रघुवंश—१।१७

२३ "रेखामात्रमपि क्षुण्णादात्मनो वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुः नेमिवृत्तयः ।" —रघुवंश १।१७
२४ "एतदेकार्णवं सर्वं करिष्यति जगत्रयम् ।
वेदनावमिमं गृह्य सत्वबीजानि सर्वशः ।" —मत्स्य–२-१०
२५ "एवमेकार्णवे जाते चाक्षुन्तरसंक्षये ।
वेदान् प्रवर्त्तयिष्यामि त्वां सर्गायौ महीपते ।" मत्स्य—२, १४, १५
२६ वेद यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुप्रियः । —ऋग्वेद–प्रथम मण्डल १२।७
२७ "सहस्राक्षरा परमे व्योमन् । ऋग्वेद १।१६४।४१
२८ "असद् वा इदमग्र आसीत् तदाहुः किं तदसदासीदिति । ऋषयो वा व ते अग्रे असदिति । तदाहुः के ते ऋषय इति । प्राणा वा ऋषयः । ते यत् पुरा अस्मात्सर्वस्माद् इदमिच्छन्तः । श्रमेण तपसा अरिषंस्तस्माद् ऋषयः ।"
—शतपथ ब्राह्मणम् ६।१।१।१
२९ "जगदण्डमिदं पूर्वमासीद दिव्यं हिरण्मयम् ।" —मत्स्य २।१५
३० "प्रजापतेरियं मूर्त्तिरितीयं वैदिकी श्रुतिः ।" —मत्स्य २४८।१
३१ "मुमोचाण्डं महायोगी धृतं वर्षसहस्रकम् ।" —मत्स्य २४७।४३
३२ वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम् ।
कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत् ।" —भागवत २।५।३४
३३ आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं प्रोक्तं तस्मान्नारायणः स्मृतः । —मनुस्मृति–१।१०
—शांतिपर्व–३२८।३५
—मत्स्य–२४८।४६

खजुराहो की जैन मूर्तियाँ

डॉ० मारुतिनन्दन प्रसाद तिवारी*

मध्य प्रदेश के छतरपुर जिले में स्थित खजुराहो चन्देल शासकों की राजधानी रही है। चन्देलों ने नवीं (नन्नुक—825–40 ई०) से बारहवीं शती ई० के मध्य (मदनवर्मन 1129–63 ई०) इस क्षेत्र में शासन किया। चन्देल शासकों के शासन काल में यहाँ अनेक मंदिरों एवं मूर्तियों का निर्माण हुआ। ये मंदिर एवं मूर्तियाँ शैव, वैष्णव, शाक्त एवं जैन सम्प्रदायों से सम्बन्धित हैं। जनश्रुति के अनुसार खजुराहो में कुल 85 मंदिर थे। किन्तु वर्तमान में केवल 25 मंदिर ही सुरक्षित हैं। खजुराहो के इन मंदिरों का निर्माण काल सामान्यतः नवीं से ग्यारहवीं शती ई० के मध्य स्वीकार किया गया है। खजुराहो के ये मंदिर अपनी वास्तुकला एवं शिल्प वैभव के लिए विश्वप्रसिद्ध हैं। विभिन्न मंदिरों पर उत्कीर्ण कामक्रिया से सम्बन्धित मूर्तियाँ पर्यटकों की विशेष आकर्षण हैं।

धर्मसहिष्णु चन्देल शासकों ने जैन धर्म को भी अपना समर्थन दिया था। खजुराहो के तीन विशाल जैन मंदिर एवं वहाँ की बिखरी प्रभूत जैन मूर्तियाँ इसकी स्पष्ट साक्षी हैं। पार्श्वनाथ का विशाल जैन मंदिर धंग के शासन काल में निर्मित हुआ। जैन आचार्य वासवचन्द्र धंग के महाराज गुरु थे,[1] जिन्होंने अपने प्रभाव का निश्चित ही उपयोग किया होगा। इसका प्रमाण धंग के शासन काल का पार्श्वनाथ मंदिर है। साथ ही व्यापारी पाहिल्ल द्वारा पार्श्वनाथ मंदिर को पांच वाटिका दान दिये जाने के फलस्वरूप धंग द्वारा उसके सम्मान का उल्लेख भी जैन धर्म के प्रति शासन के उदार दृष्टिकोण का ही सूचक है। पार्श्वनाथ मंदिर का निर्माण सम्भवतः पाहिल्ल द्वारा किया गया था।[2] पार्श्वनाथ मंदिर के वि० सं० 1011 (=954 ई०) के अभिलेख में धंग के साथ ही महाराज गुरु वासवचन्द्र का भी उल्लेख है। मंदिर की विशालता, भव्यता एवं दीवारों पर ब्रह्मा, शिव, विष्णु, राम व बलराम जैसे हिन्दू देवों की स्वतन्त्र एवं शक्तिसहित मूर्तियाँ स्पष्टतः मंदिर के निर्माण में शासकीय सहयोग एवं हिन्दू प्रभाव को दरशाते हैं।

खजुराहो की जैन मूर्तियों के निर्माण में व्यापारी वर्ग की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यहाँ के विभिन्न मूर्ति-लेखों से ज्ञात होता है कि व्यापारी परिवार के पाहिल्ल, उसके पिता श्रेष्ठी देदू तथा उसके पूर्वजों ने जैन धर्म स्वीकार किया था और जैन धर्म को सक्रिय समर्थन भी दिया था। खजुराहो के एक मूर्तिलेख (1075 ई०) में श्रेष्ठी बीवनशाह की भार्या पद्मावती द्वारा आदिनाथ की मूर्ति स्थापित कराने का उल्लेख है।[3] खजुराहो के 1148 ई० के एक अन्य मूर्तिलेख में श्रेष्ठी पाणिधर के पुत्रों (त्रिविक्रम,

*व्याख्याता, कला इतिहास विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

आल्हण तथा लक्ष्मीधर) के नामों का, तथा 1158 ई० के एक तीसरे लेख में पाहिल्ल के वंशज एवं ग्रहपति कुल के साधु साल्हे द्वारा संभवनाथ की मूर्ति की स्थापना का उल्लेख है।[4]

खजुराहो में संप्रति चार प्राचीन एवं कई नवीन जैन मंदिर (32)[5] हैं। पार्श्वनाथ, घण्टई, शांतिनाथ एवं आदिनाथ प्राचीन जैन मंदिर हैं। प्राचीन जैन मंदिरों के उत्तरंगों के अतिरिक्त हमें खजुराहो में 17 से अधिक ऐसे उत्तरंग भी मिले हैं जिनपर जिनों तथा चक्रेश्वरी, अंबिका एवं पद्मावती जैसी जैन यक्षियों की मूर्तियाँ बनी हैं। ये उत्तरंग निःसंदेह चंदेल काल में उपर्युक्त चार मंदिरों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य जैन मंदिरों के निर्माण की सूचना देते हैं। ये मंदिर संभवतः आकार में छोटे रहे होंगे। खजुराहो के जैन मन्दिरों का समूह खजुराहो का पूर्वी देव मंदिर समूह कहलाता है। संप्रति केवल पार्श्वनाथ एवं आदिनाथ मंदिर ही पूरी तरह सुरक्षित हैं। घण्टई मंदिर के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन एवं नवीन जैन मंदिर एक विशाल परकोटे में स्थित हैं।

खजुराहो की सम्पूर्ण जैन शिल्प सामग्री दिगंबर सम्प्रदाय से सम्बद्ध है, और उसकी समय सीमा लगभग 950 से 1150 ई० है। जिनों की निर्वस्त्र प्रतिमाएँ एवं मंदिरों के प्रवेश द्वारों पर 16 मांगलिक स्वप्नों[6] का अंकन खजुराहो के जैन शिल्प की विशेषताएँ हैं। ज्ञातव्य है कि ये विशेषताएँ केवल दिगंबर संप्रदाय से ही सम्बद्ध हैं। प्रारंभ में हम खजुराहो के प्राचीन जैन मंदिरों की मूर्तियों का प्रतिमा निरूपण करेंगे। तदुपरान्त खजुराहो की शेष शिल्प सामग्री का विवेचन करेंगे। इस अध्ययन में जिनों एवं यक्ष-यक्षी युगलों के निरूपण पर हमारा विशेष बल होगा।

पार्श्वनाथ मंदिर

पार्श्वनाथ मंदिर जैन मंदिरों में प्राचीनतम और स्थापत्यगत योजना एवं मूर्त अलंकरणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट एवं विशालतम है। कृष्णदेव ने पार्श्वनाथ मंदिर को धंग के शासनकाल के प्रारम्भिक दिनों (950-70 ई०) में निर्मित माना है।[7] पार्श्वनाथ मंदिर मूलतः प्रथम जिन ऋषभनाथ को समर्पित था। गर्भगृह में स्थापित 1860 ई० की काले प्रस्तर की पार्श्वनाथ मूर्ति के कारण ही कालान्तर में इसे पार्श्वनाथ मंदिर के नाम से जाना जाने लगा। गर्भगृह में मूल प्रतिमा के सिंहासन और परिकर सुरक्षित हैं। मूल प्रतिमा की पीठिका पर ऋषभनाथ के वृषभ लांछन और यक्ष-यक्षा, गोमुख-चक्रेश्वरी, उत्कीर्ण हैं। मूलनायक के पार्श्वों में सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। अर्धमण्डप के ललाटबिंब पर भी चक्रेश्वरी की ही मूर्ति बनी है।

मंदिर की बाह्य भित्ति पर तीन समानान्तर पंक्तियों में देवमूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।[8] प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से केवल निचली दो पंक्तियों की मूर्तियां ही महत्व की हैं। ऊपरी पंक्ति में केवल पुष्पमाल से युक्त विद्याधर युगल, गंधर्व एवं किन्नर-किन्नरियों की उड्डीयमान आकृतियां ही उत्कीर्णित हैं। मध्य की पंक्ति में विभिन्न देवयुगलों, लक्ष्मी एवं

लांछनरहित जिनों की मूर्तियां बनी हैं। निचली पंक्ति में जिनों, अष्टदिक्पालों, देवयुगलों (शक्ति के साथ आलिंगन मुद्रा में) जैन यक्षी, अंबिका, शिव, विष्णु, ब्रह्मा एवं विश्व प्रसिद्ध अप्सराओं की मूर्तियां हैं। ये अप्सरा मूर्तियां स्त्री सौन्दर्य की साकार अभिव्यक्ति है। मंदिर की दर्पण देखती, पत्र लिखती, पैर से कांटा निकालती, पैर में पायजेब बांधती कुछ अप्सरा मूर्तियाँ अपनी मनमोहक भावभंगिमाओं एवं शिल्पगत विशेषताओं के कारण विश्वप्रसिद्ध हैं। ज्ञातव्य है कि अप्सरा मूर्तियों का उत्कीर्णन खजुराहो के सभी मंदिरों में विशेष लोकप्रिय था।

निचली दोनों पंक्तियों की देवयुगल[9] एवं स्वतन्त्र मूर्तियों में देवता सदैव चतुर्भुज हैं। पर देवताओं की शक्तियाँ सर्वदा द्विभुजा हैं। सभी मूर्तियां त्रिभंग में खड़ी हैं। इन मूर्तियों में शक्ति की एक भुजा आलिंगन मुद्रा में है और दूसरी में दर्पण या पद्म है। तात्पर्य यह कि विभिन्न देवों के साथ पारंपरिक शक्तियों, यथा विष्णु के साथ लक्ष्मी, ब्रह्मा के साथ ब्रह्माणी एवं शिव के साथ पार्वती, के स्थान पर सामान्य एवं व्यक्तिगत विशेषताओं से रहित देवियाँ निरूपित हैं। दूसरी ओर देवता पारम्परिक लक्षणों वाले हैं। यहाँ यह उल्लेख प्रासंगिक होगा कि विभिन्न देवताओं का शक्तियों के साथ आलिंगन मुद्रा में अकन जैन परम्परा के विरुद्ध है। जैन परम्परा में कोई भी देवता कभी अपनी शक्ति के साथ नहीं निरूपित है, फिर शक्ति के साथ और वह भी आलिंगन मुद्रा में उनके चित्रण का प्रश्न ही नहीं उठता।[10]

जंघा की स्वतन्त्र देवमूर्तियों में शिव (19), विष्णु (10) एवं ब्रह्मा (1) की मूर्तियाँ हैं। देवयुगलों में शिव (9), विष्णु (7), ब्रह्मा (1), अग्नि (1), कुबेर (१), राम (1) एवं बलराम (1) की मूर्तियाँ हैं। मंदिर के दक्षिणी शिखर पर राम कथा से सम्बन्धित एक दृश्य उत्कीर्ण है जिसमें हनुमान को अशोकवाटिका में बैठी क्लांतमुख सीता को राम की अंगूठी देते हुए दिखाया गया है।[11] जैन यक्षी अंबिका (2–दक्षिणी जंघा एवं शिखर) एवं चक्रेश्वरी (1) तथा सरस्वती (6), लक्ष्मी (5) एवं त्रिमुख ब्रह्माणी (3) की भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जिन, अंबिका एवं चक्रेश्वरी की मूर्तियों के अतिरिक्त मण्डोवर की अन्य सभी मूर्तियाँ हिन्दू देवकुल से सम्बन्धित और प्रभावित हैं। उत्तरी एवं दक्षिणी शिखर पर कामक्रिया में रत दो युगल भी चित्रित हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि खजुराहो के दुलादेव, लक्ष्मण, कन्दरिया महादेव, देवीजगदंबी एवं विश्वनाथ मंदिरों के विभिन्न भागों पर उत्कीर्ण कामक्रिया से सम्बन्धित मूर्तियों में अनेकशः मुण्डित मस्तक वाले निर्वस्त्र एवं मयूरपीचिका लिये हुए जैन साधुओं को रतिक्रिया की विभिन्न मुद्राओं में दरशाया गया है—जो तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था में दिगम्बर जैन साधुओं एवं सम्प्रदाय की स्थिति के विवेचन के लिए एक गम्भीर प्रश्न चिह्न उपस्थित करता है।[12]

गर्भगृह की भित्ति पर अष्टदिक्पालों, जिनों, बाहुबली एवं शिव (8) की मूर्तियाँ हैं। उत्तरंगों पर द्विभुज नवग्रहों (3 समूह) और द्वार शाखाओं पर मकरवाहिनी गंगा

और कूर्मवाहिनी यमुना की स्थानक मूर्तियाँ हैं। मण्डप की भित्ति की जिन मूर्तियों में लांछन और यक्ष-यक्षी नहीं उत्कीर्ण हैं। पर गर्भगृह की भित्ति की जिन मूर्तियों (9) में लांछन, अष्टप्रातिहार्य एवं यक्ष-यक्षी आमूर्तित हैं। यक्ष-यक्षी सामान्यतः अभयमुद्रा (या पद्म) एवं फल (या जलकलश) से युक्त हैं। तात्पर्य यह कि जिनों के साथ पारम्परिक यक्ष-यक्षी का अंकन नहीं हुआ है। लांछनों के आधार पर केवल अभिनंदन (कपि लांछन) पुष्पदंत (मकर लांछन) चंद्रप्रभ (अर्धचन्द्र लांछन) एवं महावीर (सिंह-लांछन) की पहचान सम्भव है।[13] मन्दिर की जिन मूर्तियाँ मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से प्रारम्भिक कोटि की हैं।

गर्भगृह की दक्षिणी भित्ति पर ऋषभनाथ के पुत्र बाहुबली की एक मूर्ति है। यह उत्तर भारत में बाहुबली की दूसरी प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति है।[14] बाहुबली कायोत्सर्ग मुद्रा में सिंहासन पर निर्वस्त्र खड़े हैं। बाहुबली के साथ जिन मूर्तियों की सामान्य विशेषताएँ, यथा सिंहासन, चामरधर सेवक, प्रभामण्डल, उड्डीयमान गन्धर्व, धर्मचक्र एवं गज आकृतियाँ प्रदर्शित हैं जो बाहुबली को जिनों के समान प्रतिष्ठा प्रदान किये जाने की सूचक हैं। इस प्रवृत्ति को देवगढ़ में (मन्दिर–11–12वीं शती ई०) बाहुबली के साथ यक्ष-यक्षी युगल को सम्बद्ध करके पूर्णता प्रदान की गयी। खजुराहो में बाहुबली के मस्तक के ऊपर त्रिछत्र के स्थान पर एक छत्र प्रदर्शित है। बाहुबली के शरीर से माधवी लिपटी है और वक्षःस्थल पर छिपकली और वृश्चिक उत्कीर्ण हैं। बाहुबली के पार्श्वों में दिगम्बर परम्परा के अनुरूप ही दो विद्याधरियों को बाहुबली के शरीर से लिपटी हुई माधवी को हटाते हुए दिखाया गया है।[15]

घण्टई मन्दिर

कृष्णदेव ने स्थापत्य, मूर्तिकला और लिपि सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर घण्टई मंदिर को दसवीं शती ई० के अंत में निर्मित माना है।[16] वर्तमान में इस मंदिर के मण्डप और अर्धमण्डप का ही कुछ भाग शेष बचा है। मंदिर के अर्धमण्डप के उत्तरंग पर ललाट-बिम्ब के रूप में अष्टभुज चक्रेश्वरी की मूर्ति उत्कीर्ण है, जो मन्दिर के ऋषभनाथ को समर्पित रहे होने की सूचक है। उत्तरंग पर द्विभुज नवग्रहों एवं गोमुख (3) की भी मूर्तियाँ हैं। गोमुख आकृतियों की भुजाओं में पद्म और घट हैं। प्रवेशद्वार पर 16 मांगलिक स्वप्न और गंगा-यमुना की संवाहन मूर्तियाँ हैं। अर्धमण्डप की छत तथा मण्डप के स्तम्भों पर जिनों एवं जैन आचार्यों की मूर्तियाँ हैं। जैन आचार्यों को सामान्यतः शास्त्रार्थ करते हुए दिखलाया गया है।

आदिनाथ मन्दिर

योजना, निर्माण शैली एवं मूर्तिकला की दृष्टि से आदिनाथ मन्दिर खजुराहो के के वामन मन्दिर (लगभग 1050-75 ई०) के निकट है। कृष्णदेव ने इसी आधार पर मन्दिर को ग्यारहवीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में निर्मित माना है।[17] गर्भगृह में 1158 ई०

की काले पत्थर की ऋषभनाथ की मूर्ति स्थापित है। ललाटबिंब पर ऋषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी आमूर्तित है।

मन्दिर के मण्डोवर पर मूर्तियों की तीन समानान्तर पंक्तियाँ हैं। ऊपर की पंक्ति में गन्धर्व, किन्नर एवं विद्याधर मूर्तिया हैं। मध्य की पंक्ति में चार कोनों पर त्रिभंग में आठ चतुर्भुज गोमुख आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं, जो सम्भवतः अष्ट वासुकियों का चित्रण है।[18] इनके करों में वरदमुद्रा, चक्राकार सनाल पद्म (या परशु), चक्राकार सनाल पद्म एवं जलपात्र हैं।[19] निचली पंक्ति में अष्टदिक्पालों की चतुर्भुज मूर्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त मनभावन अप्सराओं एवं शार्दूल की भी कई मूर्तियाँ बनी हैं। दक्षिणी अधिष्ठान पर ललितमुद्रा में आसीन चतुर्भुज क्षेत्रपाल की एक मूर्ति है। क्षेत्रपाल का वाहन श्वान है, और उसके करों में गदा, नकुलक, सर्प एवं फल प्रदर्शित हैं। सिंहवाहना अंबिका की तीन और गरुडवाहना चक्रेश्वरी की दो मूर्तियाँ हैं।

आदिनाथ मन्दिर के मण्डोवर की 16 रथिकाओं में 16 देवियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ये मूर्तियाँ प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्व की हैं। भिन्न आयुधों एवं वाहनों वाली स्वतन्त्र देवियों की संभावित पहचान 16 महाविद्याओं से की जा सकती है।[20] ज्ञातव्य है कि 24 जिनों और उनके यक्ष-यक्षी युगलों के बाद जैन देवकुल में विद्याओं को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया। प्रारम्भिक ग्रन्थों में विद्याओं के अनेक उल्लेख हैं। इन्हीं विद्याओं में से 16 प्रमुख विद्याओं को लेकर आठवीं-नवीं शती ई० में 16 महाविद्याओं की सूची नियत हुई, जिसके प्रारम्भिकतम उल्लेख बप्पभट्टि सूरिकृत चतुर्विंशतिका (743- 838ई०) एवं शोभनमुनि कृत स्तुति चतुर्विंशतिका (973 ई०) में हैं। आठवीं-नवीं शती ई० में ही शिल्प में भी इनका निरूपण प्रारम्भ हो गया, जिसके प्रारम्भिकतम उदाहरण ओसियां के महावीर मन्दिर पर देखे जा सकते हैं। श्वेतांबर स्थलों पर नवीं से बारहवीं शती ई० के मध्य इनका चित्रण विशेष लोकप्रिय रहा है। दिगंबर स्थलों पर महाविद्याओं का अंकन नहीं हुआ है। श्वेतांबर स्थलों पर 16 महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण के उदाहरण कुंभारिया के शांतिनाथ मन्दिर (11वीं शती ई०), विमल वसही (दो समूह : रंग मण्डप एवं देवकुलिका 41, 12वीं शती ई०) एवं लूणवसही (रंगमण्डप—1230 ई) से प्राप्त होते हैं।

खजुराहो के आदिनाथ मन्दिर के मण्डोवर की रथिका मूर्तियों में देवियाँ ललितमुद्रा में आसीन या त्रिभंग में खड़ी हैं; और चार से आठ भुजाओं वाली हैं। उत्तर और दक्षिण की भित्तियों पर 7-7, और पश्चिम की भित्ति पर दो देवियाँ निरूपित हैं।[21] सभी उदाहरणों में रथिका बिंब काफी विरूप हैं, जिसकी वजह से उनकी पहचान कठिन हो गयी है। केवल कुछ ही देवियों के निरूपण में पश्चिम भारत के लाक्षणिक ग्रन्थों के निर्देशों का आंशिक अनुकरण किया गया है। सभी देवियाँ वाहन से युक्त हैं, और उनके शीर्षभाग में लघु जिन आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। देवियों के स्कन्धों के ऊपर सामान्यतः अभयमुद्रा, पद्म, पद्म और जलपात्र से युक्त देवियों की दो छोटी मूर्तियाँ बनी हैं। हमने दिगम्बर ग्रंथों (प्रतिष्ठासारोद्धार आशाधरकृत एवं प्रतिष्ठासारसंग्रह-वसुनन्दिकृत)

से तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कुछ देवियों की संभावित पहचान का प्रयास किया है। वाहनों या कुछ विशिष्ट आयुधों, या फिर दोनों के आधार पर जांबूनदा, गौरी, काली, महाकाली, गान्धारी, अच्छुप्ता एवं वैरोट्या महाविद्याओं की पहचान की गयी है।

मन्दिर के प्रवेशद्वार पर वाहन से युक्त चतुर्भुज देवियाँ निरूपित हैं। इनमें केवल गजलक्ष्मी, चक्रेश्वरी, अम्बिका एवं पद्मावती की ही निश्चित पहचान सम्भव है।[22] दहलीज पर दो चतुर्भुज पुरुष आकृतियाँ ललितमुद्रा में उत्कीर्ण हैं। इनकी तीन अवशिष्ट भुजाओं में अभयमुद्रा, परशु एवं चक्राकार पद्म हैं। देवता की पहचान सम्भव नहीं है। दहलीज के बायें छोर पर गजलक्ष्मी की मूर्ति है। दाहिने छोर पर पद्मासना देवी की मूर्ति है। तीन सर्पफणों के छत्र वाली देवी का वाहन कूर्म है। देवी के एक अवशिष्ट हाथ में पद्म है। देवी यक्षी पद्मावती हो सकती है। प्रवेशद्वार पर मकरवाहिनी गंगा और कूर्मवाहिनी यमुना तथा 16 मांगलिक स्वप्न भी उत्कीर्ण हैं।

शांतिनाथ मंदिर (मंदिर–1)

मन्दिर में 16वें जिन शांतिनाथ की चमकदार आलेप वाली 12 फीट ऊँची एक कार्योत्सर्ग मूर्ति है। कनिंघम ने इस मूर्ति पर 1028 ई० का लेख देखा था, जो संप्रति प्लास्टर के अन्दर छिप गया है।[23]

अब हम खजुराहो की जिन एवं यक्ष-यक्षी मूर्तियों का अतिसंक्षेप में प्रतिमाशास्त्रीय विवेचन करेंगे। ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त मन्दिरों के अतिरिक्त स्थानीय नवीन जैन मन्दिरों एवं तीन संग्रहालयों (शांतिनाथ, पुरातात्विक एवं जार्डिन) में भी जिनों एवं यक्ष और यक्षियों की अनेक मूर्तियाँ हैं। प्रस्तुत अध्ययन में उन सभी का उपयोग किया गया है।

जैन देवकुल में जिनों को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। उन्हें देवाधिदेव कहा गया है। जैन देवकुल के अन्य सभी देवता किसी न किसी रूप में सहायक देवता के रूप में जिनों से ही सम्बन्ध हैं। वर्तमान अवसर्पिणी युग में कुल 24 जिनों की कल्पना की गयी है, जिनमें से केवल अन्तिम दो जिनों, पार्श्वनाथ एवं महावीर, की ही ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। प्राचीनतम जिन मूर्ति लगभग तीसरी शती ई० पू० की है। यह मूर्ति पटना के समीप लोहानीपुर से मिली है और संप्रति पटना संग्रहालय में है। मूर्ति की नग्नता और कायोत्सर्ग-मुद्रा स्पष्टतः इसके जिन मूर्ति होने की सूचना देते हैं। लोहानीपुर से ही शुंगकाल या कुछ बाद की एक अन्य मूर्ति भी मिली है।[24] लगभग दूसरी-पहली शती ई० पू० की पार्श्वनाथ की एक कायोत्सर्ग मूर्ति (कांस्य) प्रिंस आँव वेल्स संग्रहालय, बम्बई में सुरक्षित है। पार्श्वनाथ निर्वस्त्र हैं और उनके सिर के ऊपर पाँच सर्पफणों का छत्र है।[25] लगभग पहली शती ई० पू० की पार्श्वनाथ की एक अन्य कायोत्सर्ग मूर्ति चौसा (बिहार) से मिली है। यहाँ भी पार्श्वनाथ निर्वस्त्र हैं, और उनके सिर पर सात सर्पफणों का छत्र है।[26] उपर्युक्त प्रारम्भिकतम जिन मूर्तियों में वक्षःस्थल पर श्रीवत्स चिह्न का अंकन नहीं हुआ है। जिनों के वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न का अंकन सर्वप्रथम

पहली शती ई० पू० में मथुरा में प्रारम्भ हुआ। लगभग पहली शती ई० पू० में ही मथुरा के आयागपटों पर सर्वप्रथम जिनों का ध्यान मुद्रा में अंकन भी प्रारम्भ हुआ। ज्ञातव्य है कि जिन मूर्तियाँ सदैव केवल इन्हीं दो मुद्राओं में बनीं।

कुषाणकाल में मथुरा में जिनों की पर्याप्त मूर्तियाँ बनीं। ऋषभनाथ एवं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त मथुरा से संभवनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ एवं महावीर की कुषाण कालीन मूर्तियाँ मिली हैं। कुषाणकाल में ही सर्वप्रथम जिन मूर्तियों में प्रातिहार्यों, धर्मचक्र, मांगलिक चिह्नों एवं धर्मचक्र के दोनों ओर उपासकों का अंकन प्रारम्भ हुआ। कुषाण काल में आठ में से केवल सात ही प्रातिहार्य (सिंहासन, प्रभामण्डल, चामरधर सेवक, उड्डीयमान मालाधर, छत्र, चैत्यवृक्ष एवं दिव्यध्वनि) प्रदर्शित हुए। जैन परम्परा में वर्णित सभी आठ प्रातिहार्यो का अंकन गुप्त काल में प्रारम्भ हुआ।[27] कुषाणकाल में ऋषभनाथ एवं महावीर के जीवन दृश्यों का भी अंकन हुआ।

जिन मूर्तियों के विकास की दृष्टि से गुप्तकाल विशेष महत्वपूर्ण था। जिन मूर्तियों की कई महत्वपूर्ण लाक्षणिक विशेषताएँ सर्वप्रथम गुप्त काल में ही नियत हुईं। गुप्तकालीन ग्रन्थ बृहत्संहिता (वराहमिहिरकृत–58.45) में जिन मूर्ति के सामान्य लक्षणों की चर्चा है। जिन मूर्तियों में पारम्परिक लांछनों, यक्ष-यक्षी युगलों एवं अष्टप्रातिहार्यों का प्रदर्शन गुप्तकाल में ही प्रारम्भ हुआ। लांछनों से युक्त प्राचीनतम जिन मूर्तियाँ नेमिनाथ एवं महावीर की हैं। ये मूर्तियाँ क्रमशः राजगिर (विहार) और वाराणसी (भारत कला भवन, वाराणसी–क्रमांक 161) से मिली हैं। ऋषभनाथ एवं पार्श्वनाथ के साथ पूर्ववत् लटकती जटाओं और सात सर्पफणों के छत्र का प्रदर्शन हुआ है। यक्ष-यक्षी युगल से युक्त पहली जिन मूर्ति (लगभग छठीं शती ई०) श्वेताम्बर स्थल अकोटा (गुजरात) से मिली है। ऋषभनाथ की इस मूर्ति में यक्ष-यक्षी सर्वानुभूति (या कुबेर) और अम्बिका हैं।[28] लगभग सातवीं-आठवीं शती ई० से जिन मूर्तियों में यक्ष-यक्षी युगलों का नियमित अंकन होने लगा।

जैन ग्रंथों में लगभग आठवीं-नवीं शती ई० तक सभी 24 जिनों के लांछन और यक्ष-यक्षी युगलों की सूची निर्धारित हुई। प्रारम्भिकतम सूचियाँ **कहावली** एवं **तिलोयपण्णत्ति** में हैं। 24 यक्ष-यक्षी युगलों की स्वतन्त्र लाक्षणिक विशेषताएँ लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती ई० में नियत हुई, जिनके उल्लेख **निर्वाणकलिका, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, प्रतिष्ठासारसंग्रह** एवं **प्रतिष्ठासारोद्धार** में हैं।

24 जिनों में प्रथम जिन ऋषभनाथ एवं अन्तिम तीन जिन, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर ही सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं। सर्वत्र इन्हीं चार जिनों की सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ बनीं। इन्हीं चार जिनों से सम्बन्धित यक्ष और यक्षियों (गोमुख-चक्रेश्वरी, कुबेर अम्बिका, धरणेन्द्र-पद्मावती, मातंग-सिद्धायिका) को भी साहित्य और शिल्प दोनों ही में सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। **रूपमण्डन** में 24 जिनों में से उपर्युक्त चार जिनों एवं उनसे सम्बन्धित यक्षियों को विशेष रूप से पूज्य बताया गया है।[29]

खजुराहो में जिनों की सर्वाधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई। खजुराहो में लगभग 950 ई० से 1150 ई० के मध्य की 200 से अधिक जिन मूर्तियाँ हैं। इस संख्या में मन्दिरों की दीवारों एवं उत्तरगों की छोटी जिन मूर्तियाँ नहीं सम्मिलित हैं।[30] स्वतन्त्र जिन मूर्तियों के साथ ही खजुराहो में जिनों की द्वितीर्थी, त्रितीर्थी और चौमुखी (सर्वतोभद्रिका प्रतिमा) मूर्तियां भी बनीं। खजुराहो की जिन मूर्तियाँ प्रतिमा लाक्षणिक दृष्टि से पूर्ण विकसित जिन मूर्तियाँ हैं, जिनमें लांछन, यक्ष-यक्षी युगल, अष्ट प्रातिहार्य, लघु जिन मूर्तियाँ, नवग्रह एवं अन्य पारम्परिक विशेषताएँ प्रदर्शित हैं। खजुराहो की प्राचीनतम जिन मूर्तियाँ पार्श्वनाथ मन्दिर (950-70 ई०) की हैं।

संक्षेप में खजुराहो की जिन मूर्तियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं। सभी जिन मूर्तियों के वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न है। जिनों को केवल पारम्परिक मुद्राओं (ध्यान-मुद्रा और कायोत्सर्ग) में ही निरूपित किया गया है। ध्यानमुद्रा में आसीन जिन मूर्तियाँ तुलनात्मक दृष्टि से अधिक हैं। खजुराहो की जिन मूर्तियाँ मथुरा एवं देवगढ़ जैसे सम-कालीन दिगम्बर कला केन्द्रों की जिन मूर्तियों के समकक्ष ठहरती हैं।

खजुराहो में जिनों को अलंकृत आसनों पर कायोत्सर्ग में खड़ा या ध्यानमुद्रा में विराजमान दिखाया गया है। अलंकृत आसन के नीचे सिंहासन है, जिसके छोरों पर सिंहासन के सूचक दो रौद्र-मुख सिंह बने हैं। सिंहासन के मध्य में उपासकों द्वारा पूजित या बिना उपासकों के धर्मचक्र उत्कीर्ण है। सिंहासन छोरों पर दो अर्धस्तम्भ और यक्ष-यक्षी युगलों की मूर्तियाँ हैं। धर्मचक्र के समीप ही जिनों के लांछनों का अकन किया गया है। मूलनायक के पार्श्वों में मुकुट एवं हार आदि से शोभित चामरधारी सेवकों की दो स्थानक मूर्तियाँ हैं। इनके एक हाथ में चामर है जबकि दूसरा हाथ कटि पर स्थित है। कभी-कभी दूसरे हाथ में पद्म भी प्रदर्शित है। मूलनायक के कन्धों के ऊपर दोनों ओर गजों, उड्डीयमान मालाधारों एवं मालाधार युगलों की मूर्तियाँ बनी हैं। गजों पर सामान्यतः घट लिए एक या दो आकृतियाँ बैठी हैं। जिनों के सिरों के सिरों के पीछे ज्यामि-तीय, पुष्प एवं अन्य अलंकरणों से युक्त प्रभामण्डल उत्कीर्ण है।

जिनों की गुच्छकों के रूप में प्रदर्शित केश रचना उष्णीष के रूप में आबद्ध है। ऋषभनाथ, सुपार्श्वनाथ एवं पार्श्वनाथ के साथ क्रमशः लटकती जटाओं, पाँच तथा सात सर्पफणों के छत्रों का नियमित प्रदर्शन हुआ है। मूलनायक के सिरों के ऊपर त्रिछत्र और दुन्दुभि बजाती अधलेटी आकृति बनी है। परिवार के ऊपरी भाग में कभी-कभी कुछ अन्य मालाधार गन्धर्वों एवं वाद्यवादन करती आकृतियों का भी निरूपण हुआ है। कुछ उदाहरणों में सिंहासन पर या परिकर में द्विभुज नवग्रहों की भी ललित मुद्रा में आसीन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। परिकर में लघु जिन मूर्तियों का चित्रण विशेष लोकप्रिय था। कभी-कभी परिकर की 23 छोटी जिन मूर्तियाँ मूलनायक के साथ मिलकर जिन चौवीसी का निरूपण करती हैं। जिन मूर्तियों के छोरों पर एक के ऊपर एक क्रम से गज, व्याल, मकर एवं योद्धा की आकृतियाँ बनी हैं।

मूर्तियों में यक्ष एवं यक्षी (शासन देवताओं) की मूर्तियाँ क्रमशः सिंहासन के दक्षिण और वाम छोरों पर बनी हैं। यक्ष-यक्षी युगल सामान्यतः द्विभुज या चतुर्भुज तथा ललितमुद्रा में आसीन हैं। कुछ उदाहरणों में यक्ष-यक्षी अनुपस्थित हैं। ऐसी मूर्तियों में सिंहासन छोरों पर दो लघु जिन आकृतियाँ बनी हैं। खुजराहो में सभी 24 जिनों की स्वतन्त्र मूर्तियाँ नहीं उत्कीर्ण हुई। यहाँ केवल ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, पुष्पदंत, सुपार्श्वनाथ, चंद्रप्रभ, शांतिनाथ, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की ही मूर्तियाँ बनीं। इस प्रकार खुजराहो में केवल 14 जिनों की ही मूर्तियाँ बनीं। पार्श्वनाथ ओर महावीर की केवल 15 और 9 मूर्तियाँ हैं, जबकि ऋषभनाथ की लगभग 60 मूर्तियाँ हैं। यह मूर्ति संख्या ऋषभनाथ की सवाधिक लोकप्रियता का सूचक है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त खजुराहो के तीनों प्रमुख जैन मन्दिरों (पार्श्वनाथ, घण्टई एवं आदिनाथ) का ऋषभनाथ को समर्पित रहा होना भी इसी तथ्य का उद्‌घाटन करता है। अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पुष्पदंत, पद्ममप्रभ, चन्द्रप्रभ एवं मुनिसुव्रत की केवल एक-एक मूर्ति मिली हैं। शेष जिनों की 2 म 6 मूर्तियाँ हैं।

खजुराहों में 24 शासन देवताओं का निरूपण नहीं हुआ है। उपलब्ध जिन मूर्तियों में भी सभी जिनों के साथ पारम्परिक यक्ष-यक्षी नहीं आमूर्तित हैं। खजुराहो का कलाकार केवल ऋषभनाथ के यक्ष-यक्षी, गोमुख-चक्रेश्वरी, नेमिनाथ के सर्वानुभूति (कुबेर)—अम्बिका एवं पार्श्वनाथ के धरणेन्द्र-पद्मावती के ही पारम्परिक लभणों से परिचित था। महावीर के साथ निरूपित यक्ष-यक्षी पारम्परिक लक्षणों वाले नहीं हैं। महावीर के मातंग-सिद्धायिका यक्ष-यक्षी स्वतन्त्र लक्षणों वाले हैं, जो सम्भवतः किसी स्थानीय परम्परा से निर्देशित हैं जो वर्तमान में हमें उपलब्ध नहीं है। अन्य जिनों के यक्ष-यक्षी विशिष्टतारहित और सामान्य लक्षणों वाले हैं। सामान्य लक्षणों वाले यक्ष-यक्षी के करों में अभय (या वरद-) मुद्रा, पद्म, पर्स, कलश एवं फल में से कोई दो सामग्री प्रदर्शित हैं।

ऋषभनाथ

प्रथम जिन ऋषभनाथ के साथ लटकती जटाओं और वृषभ लांछन का अंकन हुआ है। कभी दोनों पार्श्वों में पाँच और सात सर्प फणों के छत्र वाले सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ भी बनी हैं। जार्डिन संग्रहालय (क्रमांक 1651) की एक विशिष्ट मूर्ति में ऋषभनाथ के पारम्परिक यक्ष-यक्षी, गोमुख-चक्रेश्वरी, के साथ ही लक्ष्मी एवं अम्बिका की भी मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो ऋषभनाथ की विशेष प्रतिष्ठा की सूचक हैं। एक उदाहरण में परिकर में बाहुबली की लघु मूर्ति बनी है। गोमुख-चक्रेश्वरी के निरूपण में मुख्य लक्षणों के सन्दर्भ में दिगम्बर ग्रन्थों के निर्देशों का पालन किया गया है। कुछ उदाहरणों में यक्ष के रूप में पर्स धारण किये हुए कुबेर का भी अंकन हुआ है। जिन-संयुक्त मूर्तियों में गोमुख यक्ष के साथ कभी-कभी वृषभवाहन (पार्श्वनाथ मन्दिर-गर्भगृह) प्रदर्शित है। गोमुख यक्ष के करों में सामान्यतः अभय (या वरद) मुद्रा, गदा

(या परशु), पुस्तक (या पद्म) एवं कलश (या फल) प्रदर्शित हैं। गरुडवाहना चक्रेश्वरी के करों में सामान्यतः वरद (या अभय-) मुद्रा, गदा (या चक्र), चक्र एवं शंख हैं।

गोमुख यक्ष की स्वतन्त्र मूर्ति नहीं मिली है। पर चक्रेश्वरी यक्षी की कम से कम 13 स्वतन्त्र मूर्तियाँ हैं। यक्षियों में अम्बिका के बाद चक्रेश्वरी ही सर्वाधिक लोकप्रिय थीं। किरीट मुकुट से शोभित चक्रेश्वरी गरुड (मानव रूप में) पर आरूढ़ और चार से दस हाथों वाली हैं। घण्टई और पार्श्वनाथ मन्दिरों के ललाटबिंबों में चक्रेश्वरी की आठ और दस भुजाओं वाली मूर्तियाँ हैं। चक्रेश्वरी के हाथों में चक्र, शंख, गदा और अभय (या वरद-) मुद्रा का नियमित प्रदर्शन हुआ है। अतिरिक्त हाथों में चक्र, खड्ग, धनुष, बाण एवं कलश आदि प्रदर्शित हैं। देवी स्पष्टतः हिन्दू देवी वैष्णवी के लक्षणों से प्रभावित_हैं।

सुपार्श्वनाथ

सातवें जिन सुपार्श्वदाथ का लांछन स्वस्तिक है। पर मूर्तियों में स्वस्तिक लांछन नहीं प्रदर्शित किया गया है। केवल पाँच या नौ सर्पफणों के छत्रों के आधार पर ही सुपार्श्वनाथ की पहचान की जा सकी है। इनकी दो मूर्तियाँ (11 वीं-12 वीं शती ई०) मन्दिर 5 और 28 में हैं। दोनों में यक्ष-यक्षी अनुपस्थित हैं।

नेमिनाथ

22 वें जिन नेमिनाथ की केवल दो ही मूर्तियाँ (के० 14, 11 वीं-12 वीं शती ई०) हैं। इनमें ध्यानमुद्रा में विराजमान नेमिनाथ के साथ लांछन शंख है, और यक्ष-यक्षी के रूप में कुवेर और अम्बिका निरूपित हैं। कुवेर के एक हाथ में पर्स है, और द्विभुजा अम्बिका आम्रलुम्बि और बालक से युक्त हैं।

जिन-संयुक्त मूर्तियों के अतिरिक्त कुवेर एवं अम्बिका की स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी मिली हैं। यक्षों में केवल कुवेर (या सर्वानुभूति) की ही स्वतन्त्र मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें चतुर्भुज एवं ललितमुद्रा में विराजमान कुवेर के करों में अभयमुद्रा, पद्म, फल एवं पर्स प्रदर्शित हैं। चरणों के समीप निधि के सूचक दो घट बने हैं।

जैन परम्परा की प्राचीनतम यक्षी अम्बिका की खजुराहो में सर्वाधिक स्वतन्त्र मूर्तियाँ हैं। पार्श्वनाथ मंदिर की दक्षिण जंघा की द्विभुजी मूर्ति के अतिरिक्त अन्य सभी उदाहरणों में अम्बिका चतुर्भुजा हैं। द्विभुजी मूर्ति में अम्बिका के एक हाथ में आम्रलुम्बि है और दूसरे में बालक। ज्ञातव्य है कि दिगंबर परम्परा के ग्रंथों में अम्बिका के चतुर्भुज स्वरूप का निरूपण नहीं हुआ है। इन ग्रंथों में अम्बिका का सदैव द्विभुजी रूप में ही निरूपण हुआ है। चतुर्भुजी मूर्तियों में शीर्षभाग में नेमिनाथ की छोटी मूर्ति एवं आम्रवृक्ष की टहनियों से युक्त अम्बिका के ऊपरी हाथों में सामान्यतः पद्म या पद्म में लिपटी पुस्तिका प्रदर्शित है। केवल मन्दिर 27 की एक मूर्ति में ऊर्ध्वकरों में अंकुश एवं पाश हैं, जो स्पष्टतः श्वेताम्बर परम्परा से निर्देशित। है सिंहवाहना अम्बिका के निचले हाथों में सर्वदा आम्रलुम्बि और बालक (स्तन स्पर्श-

करता) प्रदर्शित हैं। समीप ही दूसरे बालक को भी दिखाया गया है। पुरातात्विक संग्रहालय, खजुराहो की एक विशिष्ट चतुर्भुजी मूर्ति (क्रमांक 1608-11वीं शती ई०) में अम्बिका के साथ द्विभुज यक्ष-यक्षी युगल तथा कुछ अन्य देवियों का अंकन हुआ है, जो स्पष्टतः अम्बिका की विशेष प्रतिष्ठा का परिचायक है। यक्ष अभयमुद्रा एवं पर्स; और यक्षी अभयमुद्रा एवं कलश से युक्त हैं।

पार्श्वनाथ

23वें जिन पार्श्वनाथ का लांछन सर्प है और यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र (या पार्श्व) और पद्मावती हैं। इनके शीर्ष भाग में सात सर्पफणों के छत्र के प्रदर्शन की परम्परा है। खजुराहो में इनकी 15 मूर्तियाँ हैं, पर किसी में पीठिका पर सर्प लांछन नहीं बना है। सात सर्पफणों का छत्र सभी उदाहरणों में उत्कीर्ण है। पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ अधिक हैं। मूलनायक के शरीर के पिछले भाग में सामान्यतः सिर से पैर तक सर्प की कुण्डलियाँ प्रदर्शित हैं। सर्पफणों के कारण ही पार्श्वनाथ के साथ प्रभामण्डल नहीं दिखाया गया है। कायोत्सर्ग मूर्तियों में यक्ष-यक्षी का निरूपण नहीं हुआ है। केवल ध्यानस्थ मूर्तियों में तीन उदाहरणों में यक्ष-यक्षी की मूर्तियाँ बनी हैं। दो उदाहरणों में पार्श्वनाथ के एक ओर चामरधारी धरणेन्द्र और दूसरी ओर छत्र धारिणी पद्मावती की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इन दोनों के सिरों पर सर्पफणों का छत्र प्रदर्शित है। दो सुन्दर मूर्तियाँ (11 वीं शती ई०) क्रमशः मन्दिर। और जार्डिन संग्रहालय (क्रमांक 1668) में हैं। इन ध्यानस्थ मूर्तियों में चामरधारी धरणेन्द्र एवं छत्रधारिणी पद्मावती आमूर्तित हैं। पुरातात्विक संग्रहालय, खजुराहो (क्रमांक 1618) की एक मूर्ति में सर्पफणों के छत्र वाला द्विभुज यक्ष नमस्कार मुद्रा में है। तीन सर्पफणों के छत्र वाली द्विभुजी यक्षी के अवशिष्ट बायें हाथ में सर्प प्रदर्शित है। द्विभुज यक्ष और चतुर्भुजी यक्षी की आकृतियों वाली एक मूर्ति स्थानीय शांतिनाथ संग्रहालय (क्रमांक के० 100) में सुरक्षित है। यक्ष और यक्षी दोनों ही सर्पफणों के छत्र से युक्त हैं। यक्ष के हाथों में फल व जलपात्र हैं। यक्षी के दो अवशिष्ट करों में पद्म और अभयमुद्रा प्रदर्शित हैं।

पारम्परिक विशेषताओं वाले यक्ष-यक्षी का अंकन केवल एक उदाहरण (शांतिनाथ संग्रहालय, के० 68) में हुआ है। बारहवीं शती ई० की इस मूर्ति में यक्ष-यक्षी चतुर्भुज और सर्पफणों के छत्र से युक्त हैं। उनके करों में अभयमुद्रा, सर्प और जलपात्र हैं। यहाँ भी केवल शीर्षभाग में सर्पफणों के छत्र एवं हाथ में सर्प के प्रदर्शन में ही परम्परा का पालन किया गया है।

अम्बिका और चक्रेश्वरी के बाद पद्मावती की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ बनीं। खजुराहो में पद्मावती की तीन मूर्तियाँ हैं। 11 वीं शती ई० की ये मूर्तियाँ उत्तरंगों (जार्डिन संग्रहालय, क्रमांक 1467) एवं प्रवेश द्वारों पर हैं। पाँच या सात सर्पफणों के छत्र वाली पद्मावती का वाहन कुक्कुट है, और हाथों में पाश, अंकुश, पद्म (या जलपात्र) और अभय (या वरद) मुद्रा प्रदर्शित हैं।

महावीर

अन्तिम जिन महावीर का लांछन सिंह और यक्ष-यक्षी मातंग-सिद्धायिका हैं। खजुराहो में महावीर की 9 से अधिक मूर्तियाँ हैं। एक उदाहरण के अतिरिक्त अन्य सभी में महावीर ध्यानमुद्रा में बैठे हैं। सिंह-लांछन सभी में प्रदर्शित है। पर यक्ष-यक्षी युगल केवल छः ही उदाहरणों में निरूपित हैं। महावीर मूर्तियों की एक विशिष्टता यह है कि यहाँ सिंह लांछन को कुछ मूर्तियों में सिंहासन के मध्य से झाँकते हुए दिखाया गया है। इस कारण सिंह की पूरी आकृति के स्थान पर केवल सामने का भाग प्रदर्शित है। सिंह लांछन का इस रूप में चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

महावीर की प्राचीनतम मूर्ति पार्श्वनाथ मन्दिर के गर्भगृह की दक्षिणी भित्ति पर है। इसमें द्विभुज यक्ष-यक्षी सामान्य लक्षणों वाले (अभयमुद्रा एवं फल) हैं। मन्दिर 2 की मूर्ति (1092 ई०) में यक्ष-यक्षी चतुर्भुज हैं। यक्ष के हाथों में पर्स, शूल, पद्म और दण्ड हैं, तथा वाहन सिंह है। सिंहवाहना यक्षी के हाथों में फल, चक्र, पद्म और शंख प्रदर्शित हैं। अन्य उदाहरणों में भी यक्ष-यक्षी दोनों का वाहन सिंह है, और यक्षी के हाथों में चक्र एवं शंख प्रदर्शित हैं। एक उदाहरण में (शांतिनाथ संग्रहालय, क्रमांक के० 13) चतुर्भुज यक्ष का वाहन कूर्म है और हाथों में अभयमुद्रा, परशु, पुस्तक एवं फल हैं। एक अन्य में सिंह पर आरूढ़ चतुर्भुज यक्ष के हाथों में गदा, अस्पष्ट, पद्म एवं पर्स हैं। एक अन्य में (के० 28.1) द्विभुज यक्ष का वाहन मेष है और एक हाथ में शक्ति है। बायाँ हाथ नीचे लटका है। इस प्रकार स्पष्ट है कि खजुराहो में महावीर के यक्ष का कोई एक स्वतंत्र स्वरूप नियत नहीं हो सका। पर यक्षी के निरूपण में निश्चित ही चक्रेश्वरी यक्षी के लक्षणों (चक्र एवं शंख) को ग्रहण कर उसके स्वतन्त्र स्वरूप की कल्पना की गयी। यक्ष के साथ सिंहवाहन का प्रदर्शन महावीर के लांछन (सिंह) से प्रभावित प्रतीत होता है। पर यक्षी के साथ सिंहवाहन का प्रदर्शन परम्परा सम्मत है।

सिद्धायिका की एक मूर्ति मंदिर 24 के उत्तरंग पर भी है। चतुर्भुजा सिद्धायिका सिंह पर आरूढ़ और वरदमुद्रा, खड्ग, चक्र एवं जलपात्र से युक्त हैं।

द्वितीर्थी, त्रितीर्थी एवं चौमुखी जिन मूर्तियाँ

अन्य दिगम्बर स्थलों के समान ही खजुराहो में भी द्वितीर्थी एवं त्रितीर्थी जिन मूर्तियों का अंकन लोकप्रिय था। खजुराहो में द्वितीर्थी तथा त्रितीर्थी जिन मूर्तियों के क्रमशः नौ और एक उदाहरण हैं। इनमें दो या तीन जिनों की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ बनी हैं। प्रत्येक जिन के साथ स्वतन्त्र सिंहासन एवं अन्य प्रातिहार्य तथा सामान्य लक्षणों वाले द्विभुज यक्ष-यक्षी निरूपित हैं। यक्ष-यक्षी युगलों के करों में अभयमुद्रा (या पद्म) और पद्म (या फल या जलपात्र) प्रदर्शित हैं। मन्दिर 8 की त्रितीर्थी जिन मूर्ति (11 वीं शती ई०) में अन्तिम तीन जिनों, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की कायोत्सर्ग मूर्तियाँ हैं। द्वितीर्थी मूर्तियों में जिनों के लांछन नहीं प्रदर्शित हैं। इस वर्ग की जिन

मूर्तियों का उद्देश्य सम्भवतः दो या अधिक जिनों को समान महत्व के साथ निरूपित करना रहा है।

खजुराहो में जिन चौमुखी का केवल एक उदाहरण है, जो पुरातात्विक संग्रहालय खजुराहो (क्रमांक 1588) में है। ग्यारहवीं शती ई० की इस मूर्ति में कुषाणकालीन चौमुखी मूर्तियों की परम्परा में ही केवल लटकती जटाओं वाले ऋषभनाथ एवं सात सर्प-फणों के छत्र वाले पार्श्वनाथ की पहचान सम्भव है। सभी जिनों के लांछनों से परिचित होने के वाद भी शेष दो जिनों के साथ लांछन नहीं उत्कीर्ण है। चार प्रमुख जिनों के अतिरिक्त चारों ओर 48 छोटी जिन मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं। इस प्रकार कुल 52 जिन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं; जो सम्भवतः नन्दीश्वर द्वीप का भाव व्यक्त करती हैं। यक्ष-यक्षी युगल का अंकन नहीं हुआ है और मूर्ति का ऊपरी भाग मन्दिर के शिखर के रूप में निर्मित है। मुख्य जिन मूर्तियाँ ध्यान मुद्रा में आसीन हैं।

पाद-टिप्पणी

1 जन्नास, ई० तथा अवुय्य, जे०, **खजुराहो**, हेग, १९६०, पृ०, ६१।

2 कृष्णदेव, दि टेम्पल्स ऑव खजुराहो इन सेन्ट्रल इण्डिया, **ऐन्शियण्ट इण्डिया**, अ० १५, १९५९, पृ० ४५।

3 शास्त्री, परमानन्द जैन, "मध्यभारत का जैन पुरातत्व", **अनेकान्त** वर्ष १९, अं० १–२, पृ० ५७।

4 विजयमूर्ति (सम्पादक), **जैन शिलालेख संग्रह**, भाग ३, बम्बई, १९५७, पृ० ७९, १०८।

5 कोष्ठ की संख्या मन्दिरों एवं मूर्तियों की संख्या का संकेत देती है।

6 श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मांगलिक स्वप्नों की संख्या १४ वतायी गयी है। मत्स्य युगल, सिंहासन एवं नागेन्द्र भवन का श्वेताम्बर सूची में उल्लेख नहीं है। श्वेताम्बर सूची में सिंहासन के स्थान पर सिंहध्वज का उल्लेख है।

7 कृष्णदेव, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ५५।

8 विस्तार के लिये द्रष्टव्य, ब्रुन, क्लाज, "दि फिगर ऑव टू लोअर रिलिफस ऑन दि पार्श्वनाथ टेम्पल ऐट खजुराहो," **आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरि स्मारक ग्रंथ, बम्बई**, १९५६, पृ० ७-३५।

9 देवयुगलों की कुछ मूर्तियाँ मन्दिर के अन्य भागों पर भी हैं।

10 ये मूर्तियाँ स्पष्टतः हिन्दू मन्दिरों पर उत्कीर्ण आलिंगन मुद्रा में देवयुगल मूर्तियों से प्रभावित हैं। वैसे पूर्व मध्यकाल में जैन धर्म के प्रति सामान्य संसारी व्यक्तियों को आकर्षित करने के उद्देश्य से जैन धर्म ग्रन्थों में इस प्रकार के कुछ उल्लेख प्राप्त होते हैं। **हरिवंशपुराण** (७८३ ई०) में एक स्थल पर उल्लेख है कि जिन मन्दिर में एक सेठ ने सम्पूर्ण प्रजा के कौतुक

के लिये कामदेव और रति की भी मूर्ति बनवायी। यह भी उल्लेख है कि उपर्युक्त जिन मन्दिर कामदेव के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और कौतुकवश आये लोगों के लिये जिन धर्म की प्राप्ति का कारण है। **हरिवंशपुराण** (जिनसेनकृत), सर्ग २९, श्लोक १-५।

(सं० पन्ना लाल जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला, संस्कृत ग्रन्थांक २७, वाराणसी, १९६२, पृ० ३७८)।

11 तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, "ए नोट आन ऐन इमेज ऑव राम ऐण्ड सीता आन दि पार्श्वनाथ टेम्पल खजुराहो", **जैन जर्नल**, खं० ८ अ० १, पृ० ३०-३२।

12 लक्ष्मण मन्दिर की उत्तरी भित्ति की एक मूर्ति में मयूर पीचिका से युक्त मुण्डित मस्तक वाले निर्वस्त्र जैन साधु के वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न भी उत्कीर्ण है। जैन साधु के लिंग को नीचे बैठी एक स्त्री आकृति मुख में प्रविष्ट कराये हुये है, जो मुख मैथुन का भाव व्यक्त करता है।

13 केवल चार उदाहरणों में लांछन स्पष्ट है।

14 बाहुबली की उत्तर भारत में प्राचीनतम ज्ञात मूर्ति जूनागढ़ संग्रहालय में है। द्रष्टव्य, तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, "ए नोट ऑन सम बाहुबली इमेजेज फ्राम नार्थ इण्डिया", **ईस्ट ऐण्ड वेस्ट**, ख० २३, अ० ३ ४, सितम्बर-दिसम्बर १९७३, पृ० ३४७-५३।

15 **हरिवंशपुराण**, ११-१०१।

16 कृष्णदेव, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ० ६०

17 **वही**, पृ० ५८।

18 खजुराहो के चतुर्भुज, दूलादेव एवं कुछ अन्य हिन्दू मन्दिरों पर भी समान विवरणों वाली आठ गोमुख आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनकी भुजाओं में वरमुद्रा (या वरदाक्ष), त्रिशूल (या स्रुक), पुस्तक-पद्म ओर जलपात्र प्रदर्शित हैं।

19 इस लेख में हाथों के आयुधों की गणना सर्वदा घड़ी की सूई की गति के क्रम में निचले दाहिने हाथ से प्रारम्भ करके की गयी है।

20 दिगम्बर परम्परा में १६ महाविद्याओं के सामूहिक चित्रण का यह एकमात्र संभावित उदाहरण है।

21 उत्तर भित्ति की दो रथिकाओं के बिंब संप्रति गायब हैं।

22 द्रष्टव्य, तिवारी, मारुति, नन्दन, प्रसाद, "खुजराहो के आदिनाथ मन्दिर के प्रवेश द्वार की मूर्तियाँ" **अनेकान्त**, वर्ष २४, अ० ५, पृ० २१८-२१।

23 कनिंघम, ए०, **आर्किअलाजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट** 1864-65, खं० २, पृ० ४३४।

24 जायसवाल, के० पी० जैन इमेज ऑव मौर्य पीरियड", **जर्नल बिहार, उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी**, खं० २३, भाग। १९३७, पृ० १३०-३२।

25 शाह, यू० पी०, **स्टडीज इन जैन आर्ट**, बनारस, १९५५, पृ० ८-९।

[26] प्रसाद, एच० के०, "जैन ब्रोन्जेज इन दि पटना म्यूजियम", **महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबिली वाल्यूम**, बम्बई, १९६८, पृ० २७५-८०।

[27] ये अष्ट-प्रातिहार्य अशोक वृक्ष, चामरधर सेवक (चांवर), मालाधर गन्धर्व (देवपुष्पवृष्टि), दिव्यध्वनि, सिंहासन, त्रिछत्र, देवदुन्दुभि एवं प्रभा-मण्डल हैं।

[28] विस्तार के लिए द्रष्टव्य, चन्दा, आर० पी०, जैन रिमेन्स एट राजगिर, **आर्किअलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट**, १९२५–२६, १२५–२६; तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद, "एन अन्पब्लिश्ड जिन इमेज इन दि भारत कला भवन, वाराणसी", **विश्वेश्वरानन्द इण्डोलाजिकल जर्नल**, ख० १३, अं० १–२, पृ० ३७३–७५; शाह, यू० पी०, **अकोटा ब्रोन्जेज**, बम्बई, १९५९, पृ० २८–२९।

[29] **रूपमण्डन**, ६.२५–२७।

[30] यहाँ उल्लेखनीय है कि खजुराहो के देवी जगदम्बी एवं विश्वनाथ मन्दिरों के अधिष्ठानों पर भी जिनों की दो लघु मूर्तियाँ बनी हैं। ये मूर्तियाँ क्रमशः उत्तरी और दक्षिणी अधिष्ठान पर हैं। दोनों ही उदाहरणों में मध्य की ध्यानस्थ जिन मूर्ति के दोनों ओर कायोत्सर्ग मुद्रा में दो जिन खड़े हैं। इनमें लांछन, प्रातिहार्य या यक्ष-यक्षी का अंकन नहीं हुआ है। हिन्दू मन्दिरों पर इन जिन मूर्तियों का उत्कीर्णन स्पष्टतः खजुराहो में हिन्दू एवं जैन सम्प्रदायों के मध्य के अच्छे सम्बन्धों का परिचायक है।

—: o :—

सोलहवीं सदी के मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति : एक विश्लेषण

*डॉ० राजेन्द्र प्रसाद सिंह

मध्ययुगीन इतिहास में सोलहवीं सदी उदारवादी युग माना जाता है। इस युग की पृष्ठभूमि में सूफी सन्तों का एक महान् योगदान था। चिश्ती तथा सुहरावर्दी पंक्ति के प्रमुख सन्तों ने इस्लाम की रूढ़िवादिता का परित्याग करके भारतीय सामाजिक परिवेश में समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया। इस प्रकार मुस्लिम समाज में एक ऐसे वर्ग का आविर्भाव हुआ, जिसका दृष्टिकोण उदारवादी था। हिन्दू समाज में भी परिवर्तन की चिनगारी सुलग रही थी। रामानुजाचार्य, रामानन्द, कबीर, चैतन्य आदि हिन्दू सन्तों ने समाज में सुधार करने का प्रयास किया। इन लोगों ने जातिवाद तथा वाह्या-डम्बर का विरोध कर एकेश्वरवाद, मानववाद तथा समन्वयवाद का नारा लगाया। सोलहवीं सदी के मुगल शासकों ने उपरोक्त वातावरण और परिस्थितियों में अपने को रखकर उनको अनुकूल बनाने की चेष्टा की तथा अपनी बुद्धिमानी और राजनीतिक दक्षता से नयी धार्मिक नीति परिचालित की। धार्मिक नीति के परिचालन में मुगल शासकों ने अपनी राजनीतिक और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को बनाये रखा। यहाँ हम सोलहवीं सदी के मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सल्तनत काल के सुल्तानों की भाँति वावर अनुदार नहीं था। सुन्नी धर्मावलम्वी होने पर भी उसने शिया से मित्रता की। ईश्वर के प्रति उसका अटूट विश्वास था। उसका कहना था कि ईश्वर ही उसे आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करता है। राणा सांगा के विरुद्ध उसने जिहाद किया। श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि 'राणा सांगा के विरुद्ध उसने धर्मयुद्ध (जिहाद) आरम्भ किया था और उसने सैनिकों को यह कहकर, उसके विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित किया था कि वह काफ़िर है। उसके खिलाफ़ युद्ध करना हमारा धार्मिक कर्तव्य है।[1]

वावर ने धर्म के नाम पर विजय प्राप्त की तथा कालान्तर में उसने धर्म के नाम पर पुस्तक भी लिखी, जिसका नाम था रिसाला।[२] वह कहता था कि सुन्नी होना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इस्लाम के अनुयायी कहलाने के वही अधिकारी हैं।[3]

वावर के ऊपर ईरान के शाह तथा वहाँ के साहित्य का काफी प्रभाव था। वहाँ का सम्राट शहवानी खाँ उसका मित्र था।[४] जिसका उसे फक्र था। वावर कहता था

* प्रवक्ता इतिहास विभाग, का० हि० वि०वि०

कि शहवानी खाँ केवल शासक नहीं है, वल्कि वह धार्मिक विचारों का पंडित भी है।[५]

वावर ने अफ़गानों से सत्ता प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त उसने धार्मिक विचारों का ज्ञान प्राप्त किया था। ग्वालियर किले की घेरावन्दी करके उसने (जिहाद) के नाम पर विजय प्राप्त की थी।[६] उसने वहाँ के मन्दिरों को नष्ट किया था।[७] वहाँ को इमारतों को व्वस्त करके मस्जिद में परिवर्तन कर अपने को कट्टर मुसलमान सिद्ध किया।[८]

वावर ने अयोध्या में, उस स्थान पर मस्जिद का निर्माण करवाया, जहाँ हिन्दू लोग भगवान् रामचन्द्र का स्थान मानकर पूजते थे। परन्तु उसने किसी हिन्दू को धर्म परिवर्तन के लिए वाध्य नहीं किया।[९] श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि—"वावर ने प्रचलित धार्मिक नीति की कठोरता में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने दी।[१०]

धार्मिक नीति में हुमायूँ ने अपने पिता के पदचिह्नों का ही अनुसरण किया। राजनैतिक लाभ के लिए उसने फारस में शिया धर्म अपना लिया। पिता के समान विशाल हृदयी तथा शिया सन्तों में श्रद्धा रखने के कारण उसने शिया मत अपनाने में संकोच नहीं दिखाया।[११] हुमायूँ की माता माहम वेगम खुरासान[१२] की रहने वाली थी और पत्नी हमीदा वानू वेगम[१३] शिया धर्म माननेवाली थी। हुमायूँ अपनी माता और पत्नी दोनों से वहुत प्रभावित रहता था। माहम वेगम का पति और पुत्र दोनों पर समान प्रभाव था और इसी कारण वे राजनीति में भी प्रभावित करती थीं।[१४] हुमायूँ ने अपनी माता तथा पिता के सुखी जीवन का अलग-अलग अनुभव प्राप्त किया था, लेकिन माता के प्रभाव के कारण शिया धर्म की ओर उसका ज्यादा झुकाव था। हुमायूँ दूसरे धर्म के मानने वालों से भी प्यार करता था। उसके चित्तौड़ की महारानी कर्मवती की राखी स्वीकार किया और अपनी वहन के रूप में उसे सम्मान प्रदान किया।[१५] वहादुर शाह का मुकाविला करने के लिए उसने अपनी सेना तथा राजपूतों की सेना के साथ प्रस्थान किया। अपनी राजधानी में केवल विद्वान न्यायाधीशों की नियुक्ति की, जिनमें केवल पर्शिया और तुर्कीस्तान के ही नहीं वल्कि भारत के भी विद्वान थे।

हुमायूं ने जव भारत के लिये प्रस्थान किया तो उसके साथ मुहम्मद का दामाद सद्रूद्दीन भी साथ आया।[१६] ये लोग शिया तथा इमाम की शिक्षा देते थे, जिससे हुमायूँ वहुत प्रभावित हुआ। उनके अनुसार शिया ही सच्चा धर्म था, परन्तु हुमायूं ने शिया को सही रूप में स्वीकार नहीं किया।[१७] शिया धर्म के प्रति कृतज्ञता जरूर प्रकट की, क्योंकि शाह की सहायता से दूसरी वार भारत लौट पाया था।[१८] उसकी सेना में सैनिक तथा सलाहकार सुन्नी धर्म माननेवाले थे तथा सम्राट स्वयं सुन्नी मुसलमान था। ऊमर शेख उसके दादा तथा हैदरअली इसके साथी कट्टर सुन्नी विचारधारा के थे।[१९] इन सव चीजों के कारण हुमायूँ का काफी प्रभाव था।

हुमायू की तुलना अगर 'कामरान' से की जाय तो पता चलता है कि दोनों में कितना अन्तर है। कामरान सुन्नी विचारधारा का व्यक्ति था लेकिन हुमायूं शिया तथा सुन्नी दोनों प्रकार की विचारधारा रखता था। इस बात को लेकर उन दोनों में कई बार मतभेद भी हो गया।[२०] कामरान अपनी नीति के कारण ज्यादा दिन नहीं रह सका।[२१] इसी कारण जो हुमायूं का अनुसरण करने वाले थे वे कामरान को छोड़ चुके थे।[२२]

हुमायूं अपने व्यवहार तथा धर्म निरपेक्षता के कारण जनता का प्यारा बन गया। उसने राजा तथा मनुष्य दोनों रूपों में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने जब दूसरी बार भारत विजय प्राप्त किया तो दिल्ली में सबको बड़ी आसानी से मिला लिया। वह स्वयं कहता था कि—"मैं भगवान का भेजा हुआ एक सैनिक हूँ तथा उसी के आदेशानुसार जनता की सेवा करता हूँ।[२३]

कर्मनिष्ठ सुन्नी मुसलमान के लिये कोई भी धर्म विरुद्ध बात कुफ़ के समान थी किन्तु बैरम खाँ की स्वामिभक्ति के कारण, शिया मत के प्रति मुगल साम्राज्य की धार्मिक नीति में परिवर्तन हुआ। ईरान की यात्रा के समय हुमायूं को वहाँ पर शिया मत के प्रति कुछ न कुछ आदर भाव प्रदर्शित करना पड़ा। अतः पूर्ववर्ती सुल्तानों की अपेक्षा हुमायूं ने अपने धार्मिक विश्वासों से भिन्न मतों की ओर अधिक उदारता प्रदर्शित की।[२४]

शेरशाह की धार्मिक नीति के विषय में आधुनिक विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। डा० कानूनगों ने लिखा है कि 'हिन्दुओं के प्रति धार्मिक सहिष्णुता की समझदारपूर्ण नीति के लिये उसकी प्रशंसा की जाती है। हिन्दू धर्म के प्रति शेरशाह का झुकाव घृणा-पूर्ण सहिष्णुता से ओत-प्रोत नहीं थी बल्कि उसका उदारपूर्ण व्यवहार था।[२५] प्रो० श्रीराम शर्मा ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि 'शेरशाह का धार्मिक दृष्टिकोण दिल्ली सल्तनत के तुर्क अफगान शासकों से अच्छा नहीं था।[२६] कुछ भी हो उक्त दोनों इतिहासकारों सहित यह सबने स्वीकार किया है कि शेरशाह अपने व्यक्तिगत जीवन में एक कट्टर सुन्नी मुसलमान था।[२७]

'शेरशाह ने अपनी धार्मिक उदारता सिद्ध करने के लिये हिन्दू सेनापति तथा डाक घरों में हिन्दू कर्मचारियों की नियुक्ति की थी।'[२८] लेकिन शेरशाह ने जिन डाकघरों की एवं विश्रामगृहों की स्थापना की, उनके संचालन के लिये मुसलमान उपलब्ध नहीं थे, वही हिन्दुओं में आज भी एक ऐसी जाति है, जिसका व्यवसाय एक स्थान से दूसरे स्थान पर समाचार पहुँचाना है। यह सच है कि उच्च श्रेणी के हिन्दू इस कार्य को करने को तैयार नहीं थे।[२९]

विश्राम गृहों में हिन्दुओं के लिये जो व्यवस्था थी, वह भी सरकारी कर्मचारियों की एक श्रेणी के लिये ही थी, हिन्दू जाति के नियम भी ऊँची जाति के लोगों द्वारा, इन विश्राम गृहों के उपयोग की अनुमति प्रदान नहीं करते। अतः डाकघरों में हिन्दुओं

की नियुक्ति तथा विश्राम गृहों में हिन्दुओं के लिये की गई व्यवस्था के आधार पर शेरशाह की धार्मिक नीति को उदार नहीं कहा जा सकता, यह तो केवल सरकारी कार्य को चलाने की व्यवस्था मात्र थी।[30]

शेरशाह ने पूरनमल के साथ भी विश्वासघात किया। इस धार्मिक कार्य को करने के उपरान्त शेरशाह ने एक प्रार्थना सभा की। आक्रमण के पूर्व शेरशाह रोगग्रस्त हो गया था और उसने अपने अधिकारियों को वुलवा कर कहा कि वह सिंहासन पर वैठने के समय पूरनमल को पराजित करने का तथा धार्मिक कार्य सम्पन्न करने के लिए चिन्तित रहा है। इस अभियान से पता चलता है कि यह कार्य धार्मिक कारणों से ही किया गया था, अतः किसी भी तर्क से सच्चाई को छिपाया नहीं जा सकता।[31]

१५५६ ई० में अकवर महान सिंहासन पर वैठा। वह एक उदार, धर्म-सहिष्णु समन्वयवादी सम्राट था। उसकी उदारता अकस्मात उत्पन्न नहीं हुई थी, बल्कि परिस्थितियों तथा वातावरण की ऐसी उपज थी, जो क्रमागत् विकसित हुई थी। कार्य व्यवहार में अपूर्व बुद्धिमान होने के साथ अकवर एक आदर्शवादी और स्वप्नद्रष्टा था।[32] जैसा कि अवुल फजल ने लिखा है—"उसका उद्देश्य जनता में शिष्टाचार का सुधार करना भी था।' अकवर की अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में अपने पूर्ववर्तियों ही की भाँति धार्मिक नीति थी, क्योंकि पानीपत के द्वितीय युद्ध में पराजित हेमू की, जो शस्त्रहीन हो चुका था हत्या करना, अकवर का प्रथम राजकीय कार्य था, जिसका उद्देश्य केवल धार्मिक महत्ता एवं गाजी की उपाधि धारण करना था।[33]

कालान्तर में देश की स्थिति को देखते हुए तथा हिन्दुओं की वाहुल्यता को ध्यान में रखकर अकवर ने अपने विचारों को धीरे-धीरे परिवर्तित किया और अपना दृष्टिकोण उदार वनाने लगा इस प्रकार एक ओर तो उसने वालहत्या, सतीप्रथा, अत्यधिक माद्यपान, गोहत्या आदि वन्द करवायी और दूसरी ओर उसने विधवा विवाह का प्रचलन किया। उसने कई प्रकार की असहनीय तीर्थयात्रा कर[34] जजिया कर[35] समाप्त कर दिया और अपनी प्रजा के दोनों मुख्य वर्गों के पारस्परिक भेदों को मिटाने का यत्न किया। उसने दोनों जातियों में परस्पर विवाह की प्रथा का उदाहरण उपस्थित किया। ऊँचे पद और उपाधियाँ देने में उसने सवको वरावर समझा। उसने एक नया धर्म चलाया, जिससे एक नये संसार की सृष्टि हुई।[36]

अकवर ठीक कहता था, 'एक शासक के अधीन साम्राज्य में यदि जनता परस्पर विभक्त है और एक इधर जाता है और दूसरा उधर जाता है तो यह व्रड़ा दोष है। अतः हमको चाहिये कि हम सवको एक कर दें परन्तु इस प्रकार कि वे एकता के साथ एक ओर सम्पूर्ण हो, ताकि किसी धर्म के गुण से वंचित न रह जायें—एक धर्म के गुण के साथ-साथ उन्हें दूसरे धर्म की अच्छाई का भी लाभ मिल जाय। इस प्रकार ईश्वर का सम्मान होगा, लोगों को शान्ति प्राप्त होगी और साम्राज्य की रक्षा होगी।'[37]

विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना



हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे,
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)

मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

अकबर के इस कीर्तिमय आदर्शवाद को गलत समझा गया है और विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। बारत्तोली के इस कथन में चालकी और धूर्तता की नीति दिखायी देती है। स्मिथ का भी कहना है कि 'यह धार्मिक कट्टरता का उन्माद था जो मई १५७८ के आरम्भ में अकबर को आया। यह उसकी विभिन्न धर्मों में गहन रुचि का लक्षण था जो आगामी वर्ष के सितम्बर में उसने अपनी अचूक व्यवस्था जारी की थी।[३८]

स्मिथ का विचार है कि 'दीन-ए-इलाही अकबर की मूर्खता का स्मारक' है, बुद्धिमत्ता का नहीं। यह समस्त योजना हास्यास्पद धर्म का परिणाम थी, उसकी अनियन्त्रित निरंकुशता की उपज थी।[३९] इस विस्तृत आलोचना को देखते हुए यह आवश्यक है कि अकबर के धार्मिक और सामाजिक सुधारों का पूर्ण निरीक्षण किया जाय।[४०]

हिन्दू तथा मुसमान एकाई है और एकाई ईश्वर है। इस प्रकार अकबर ने अपने को इसी प्रकार के वातावरण में विकसित किया।[४१] प्रत्येक मनुष्य अपने वातावरण तथा परिस्थितियों की उपज होता है अकबर भी इसी प्रकार का था। अकबर के माता-पिता का प्रभाव उसके ऊपर पड़ा। उसकी माता सूफी सन्त की पुत्री थी, पिता उदारवादी सुन्नी था। अब्दुल लतीफ गुरु था।[४२] यही नहीं उस पर अपनी स्त्री का भी प्रभाव पड़ा था। उसने राजपूत राजकुमारियों से शादी की थी। अपनी राजपूत रानियों द्वारा हिन्दू देवताओं के पूजा की व्यवस्था उसने अलग करवायी थी।[४३] उसमें सुन्नी मुसलमान की कट्टरता नहीं थी। उसपर दोस्तों का भी प्रभाव पड़ा। बैरम खाँ का प्रभाव पड़ा, रहीम खानखाना का प्रभाव पड़ा तथा अबुल फजल का प्रभाव पड़ा।[४४] इस प्रकार अकबर जन्म से लेकर शासक होने के बाद तक कई लोगों के सम्पर्क में आया। इनके प्रभाव में आकर उसने कट्टरता की नीति छोड़ दी और उसने उदारवादी नीति ग्रहण की। अकबर की मां शिया सन्त की लड़की थी। शिया में धार्मिक कट्टरता बिलकुल नहीं होती है। बैरम खां प्रारम्भिक अवस्था में शिक्षक था तथा अब्दुल लतीफ भी शिक्षक था।

समकालीन मुगल नेताओं को विश्वास था कि इस्लाम ही एक सच्चा धर्म है और अन्य में यथार्थता नहीं है। अकबर ने इसके लिये इस्लाम, जैन, बौद्ध, हिन्दू तथा ईसाई धर्मों के विषय में अध्ययन किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी धर्मों में कुछ न कुछ तथ्य अवश्य है।[४५]

इबादत खाना की स्थापना :

अकबर ने सन् १५७५ में धार्मिक शास्त्रार्थ के लिये इबादतखाना बनवाया।[४६] प्रारम्भ में इसका उपयोग केवल शेख, शैय्यद, उलमा और अमीर ही करते थे। बृहस्पति वार की रात्रि को शास्त्रार्थ शुरू होता था और प्रायः शुक्रवार की दोपहर तक चलता था। लेकिन मुस्लिम मुल्ला छोटी और निस्सार बातों पर झगड़ा किया करते थे। इससे अकबर को सन्तोष नहीं होता था। बदायुनी ने इन अवस्थाओं का वर्णन किया है जिनके कारण अकबर ने दूसरे स्रोतों से अपनी प्यास बुझायी—[४७]

उलमाओं के दो दलों में मतभेद हुआ। एक दल दूसरे को काफिर जबकि दूसरा अपने विचारों को सही बताता था। इससे अकबर का विश्वास हो गया कि दोनों दल गलत हैं। सत्य उनके विवादों से परे होना चाहिये।[४८] इसलिये सत्य की खोज के निमित्त उसका ध्यान पारसी, जैन, ईसाई और हिन्दुओं की ओर गया। अबुल फजल कहता है कि इस प्रकार सात देशों के सत्यान्वेषक बादशाह के दरबार में आ पहुँचे। उसका दरबार प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के विद्वानों की सभा बन गया।[४९]

अध्यादेश मजहर

अकबर ने सितम्बर १५७९ ई० को एक क्रान्तिकारी कदम उठाया, परम्परा और प्रथा के अनुसार किसी मुस्लिम राज्य में इमाम-ए-आदिल (आध्यात्मिक गुरु) के नाम खुतबा पढ़ा जाता था। अकबर ने स्वयं आध्यात्मिक गुरू बनने का निश्चय किया। अकबर न केवल सम्पूर्ण राज्य का शासक बनाना चाहता था बल्कि इमाम-ए- आदिल बनना चाहता था। इसका कट्टर मुसलमानों ने विरोध किया। किन्तु वह इस्लामिक प्रथा तथा परम्परा के विरुद्ध था।[५०]

अकबर के समर्थकों ने सुझाव दिया कि पैगम्बर मुहम्मद तथा इसके उत्तराधिकारी और अन्य शासकों ने खुतबा पढ़ा था, अतः अकबर भी उनका अनुकरण कर सकते हैं। अकबर का उद्देश्य खुतबा पढ़ना ही नहीं था बल्कि मुजताहिद उपाधि भी प्राप्त करना था। सितम्बर १५७९ के दिन अकबर ने सम्राट के नाम स्वयं खुतबा पढ़ा।[५१]

इसपर टीका करते हुए बदायूंनी लिखता है—'ज्यों ही सम्राट ने यह कानूनी साधन प्राप्त कर लिया अपेक्षाकृत किसी भी धार्मिक प्रश्न को हल करने का मार्ग खुल गया। इमाम की बुद्धि सर्वोपरि मान ली गई और उसका विरोध करना असम्भव हो गया। हमारे समस्त कानून जिसमें मान्यतायें और निषेध थे, रद्द हो गये तथा इमाम की सर्वोपरि बुद्धि ही कानून बन गयी।[५२]

अकबर ने स्पष्ट घोषणा की थी—'मनुष्य की वाह्य धर्मान्धता से और इस्लाम के मानने से कोई लाभ नहीं है, जब तक की हृदय में पूरा विश्वास न हो। पुनः पुनः कलमा पढ़ना, खतना करवाना और सम्राट के डर से भूमि पर सिजदा करना ईश्वर की दृष्टि में कुछ भी महत्व नहीं रखता।[५३]

इस साल (हिजरी ९८८) नीच और निकम्मे लोगों ने जो विद्वान होने का दम्भ भरते थे, लेकिन वास्तव में मूर्ख थे, इस बात के प्रमाण इकट्ठे किये कि बादशाह साहिब-ए-जमां (युगस्वामी) हो गया है जो इस्लाम के ७२ सम्प्रदायों के भेद को मिटा देगा। शिया लोगों ने भी इसी प्रकार की मूर्खता की बातें कहीं। इस प्रकार की बातों से सम्राट पैगम्बर होने का दावा करने लगा, बल्कि मुझे कहना चाहिए शायद इससे भी बड़ा पद चाहता है।[५४]

इसी समय वादशाह के प्रति विश्वास की चार सीढ़ियों की परिभाषा की गयी। ये चार सीढ़ियां थीं — सम्पत्ति, जीवन, सम्मान और धर्म वादशाह को समर्पण कर देना। जो इन चारों पदार्थों को अपर्ण कर देता था, उसे चार सीढ़ियां मिलती थीं। जो एक पदार्थ अर्पण करता था, उसे एक सीढ़ी। सब दरबारियों ने अपने नाम सिंहासन के वहवूद शिष्यों की सूची में लिखवा दिये थे।'[५५]

सितम्बर १५७९ में शेख मुवारक ने एक अध्यादेश तैयार किया, जिसे 'मजहर' कहते हैं। उसका उद्देश्य अकवर को विवादग्रस्त विषयों में न्याय देने का सर्वोच्च अधिकार देना था। अध्यादेश के अनुसार अकबर को 'इमाम-ए-वादिल, सर्वोच्च अधिकार दिया गया। अकवर शासन के मामले में सर्वश्रेष्ठ था ही, अव वह धार्मिक मामलों में भी सर्वोच्च हो गया — इसने यह स्पष्ट कर दिया।'[५६]

दीन इलाही

कावुल से लौटने के वाद अपने सामन्तों की स्वामिभक्ति की ओर से आशंका और गुजरात'[५७] विद्रोहियों की तरफ से चिन्ता से उत्पन्न आतंक से छुटकारा पाकर अकवर ने जिस योजना को गुप्त रूप से दीर्घकाल तक अपने मन में संजोये रखा था, उसका खुलेआम प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। यह योजना थी अपने को एक नवीन धर्म का संस्थापक और मुख्याधिष्ठाता बनाना जिसमें विभिन्न धार्मिक तत्वों का मिश्रण था, आंशिक रूप से मुहम्मद के कुरान से लिया गया था, आंशिक रूप से ब्राह्मणों के धर्म शास्त्रों से तथा कुछ सीमा तक जितना उसके लिये सुविधाजनक था, ईसा की शिक्षा से भी।'[५८]

किसी भी सूफी सम्प्रदाय की तरह दीन इलाही की अपनी अलग प्रवेश विधि थी। इसमें केवल उन्हीं लोगों को सदस्य वनाया जाता था, जिनकी लगन और निष्ठा सन्देह रहित होती थी। अकवर सभी तरह के लोगों को इसमें शामिल नहीं करना चाहता था। उसका कहना था कि किसी को शिष्य बनाने के तात्पर्य से उसे व्यक्तिगत सेवक वनाना नहीं, अपितु उसे परमात्मा की भक्ति में दीक्षित करना है। 'जब कोई शिष्य वनने की बड़ी लगन दिखाता था तो 'रविवार' के दिन उसे सदस्य बना लिया जाता था और फिर अबुल फजल उसका परिचय अकबर से करवाता था। प्रार्थी तब अपनी पगड़ी उतार कर अपने हाथों में ले लेता था और अपना मस्तक उसके चरणों में रखकर अकवर को वह आश्वासन देता था कि उसने सभी कुविचार हृदय से निकाल दिये हैं और फिर वह उससे दीने इलाही मेंले लिये जाने की प्रार्थना करता था। तब अकवर अपने हाथों से उसके सिर पर पगड़ी रखता तथा उसे एक शस्त्र देता था। मह शस्त्र सोने की एक गोल सी अंगूठी जैसी चीज होती थी, जिसपर खुदा का नाम तथा अकवर का इष्ट वाक्य 'अल्लाह अकवर' खुदा रहता था। शस्त्र देने का तात्पर्य यह था 'शुद्ध शस्त्र और शुद्ध नजर कभी धोखा नहीं खाती।' दीन इलाही के सदस्य अकवर की सोने की मूर्ति रत्नजटितसिक्के के टुकड़े में लपेट कर अपनी अपनी पगड़ियों में रखते थे।'[५९]

दीक्षा समारोह के अवसर पर दीन इलाही के सदस्य सम्राट की प्रतिछवि भी प्राप्त करते थे जो कि पगड़ियों में धारण करते थे।[६०] 'महान नाम' ईश्वर की विशेष संज्ञाओं अथवा नामों में से कोई एक होता था। इनमें से कौन सा प्रमुख माना जाये, इस सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद है। यह ज्ञात नहीं होता कि अकबर ने कौन सा चुना था। शस्त्र का प्रदान करना या 'महान नाम' का मंत्र देना हिन्दू पद्धति अनुसरित प्रतीत होता है। गुरु अथवा आध्यात्मिक उपदेश अपने शिष्य के काम में सदैव एक गुप्त मंत्र फूकता था। अल्लाह वाक्यांश में द्वयार्थकता, जिसका अर्थ यह हो सकता है कि ईश्वर महान है अथवा अकबर ईश्वर है। अनेक व्यक्तियों का विश्वास था कि अकबर ने अपने को दैवी मानने का साहस किया था और यद्यपि उसने इस आरोप का तीव्रतापूर्वक खंडन किया था, यह विचार निराधार नहीं था। उसकी अंकित उक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि वह राजाओं के अपने पद के नाते, ईश्वर के सम्बन्ध की निकटता के विषय में अबुल फजल द्वारा व्यक्त विचारों से पूर्ण सहमत था।[६१]

अबुल फजल ने दीन इलाही का विवरण कतिपय अध्यादेशों, जिनका सम्प्रदाय के सदस्य पालन करते थे, के निम्नांकित वर्णन से समाप्त करता है।[६२]

'दीन इलाही के सदस्य एक दूसरे को देखने पर निम्नांकित रीति का पालन करते हैं,' एक कहता है—'अल्लाह अकबर' और दूसरा उत्तर देता है—'जल्ला जलालहू'[६३]। अभिवादन का यह रूप निर्धारित करने की याद रखें और ईश्वर की अभिनव, सजीव, कृतज्ञ स्मृति बनाये रखें।[६४]

आला हजरत द्वारा यह भी आदेश दिया गया कि जो भोज मनुष्य की स्मृति में बहुधा उसकी मृत्यु के बाद दिया जाता है, उसके स्थान पर प्रत्येक को अपने जीवन काल ही में भोज की तैयारी करनी चाहिये और इस प्रकार अंतिम यात्रा के लिए सामग्री एकत्रित करें।[६५]

प्रत्येक सदस्य को अपने जन्म दिवस पर गोष्ठी आयोजित करना है। उसे दान देना है और इस प्रकार उसे दीर्घ यात्रा के लिए सामग्री भी तैयारी करनी है।[६६]

आला हजरत ने यह भी आदेश दिया है कि सदस्यों को मांसाहार से वंचित रहने का प्रयत्न करना चाहिये। वे स्वयं स्पर्श किये बिना, वगैर अन्य व्यक्तियों को मांसाहार की अनुमति दे सकते हैं किन्तु अपने जन्म मास के समय उन्हें मांस के निकट नहीं जाना है। न ही सदस्य ऐसे जीव के निकट जायेंगे, जिसका वध उन्होंने स्वयं किया है, न ही उसका भक्षण करेंगे, न ही वे कसाइयों, मछुओं और चिड़ीमारों के साथ एक ही भोज पात्रों का उपयोग करेंगे।[६७] सदस्यों को गर्भिणी, वृद्धा और बन्ध्या स्त्रियों के साथ संभोग नहीं करना चाहिये न ही यौवनारम्भ की वय से नीचे की कन्याओं के साथ।[६८]

यदि दर्शनियाँ शिष्यों में से किसी की मृत्यु हो जाय, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, तो उन्हें मृतक के गले में कुछ कच्चे अनाज के दाने और एक पक्की ईट बांध देना चाहिये

और फिर उन्हें शव को नदी से निकाल लेना चाहिये तथा ऐसे स्थान में दाह देना चाहिये जहाँ जल न हो।[६९] किन्तु यह आदेश एक आधारभूमि पर आधारित है, जिसे आला हजरत ने इङ्गित किया था।[७०] मृतकों का, उनका सिर पूर्व की ओर रखकर दफनाना चाहिये और उनके पाँव पश्चिम की ओर रहें। आला हजरत ने सोने तक के लिये, इस आसन का अनुमोदन किया था।[७१] इसका दोहरा तात्पर्य था, उगते हुए सूर्य के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना तथा मुसलमानों का अपमान करना, जो मक्का की ओर अभिमुख होते हैं।[७२]

आलोचना

१५८२ की सभा के अनन्तर दरबार से नवीन विनियमों का ताँता सा बंध गया, अनेक विनियमों का प्रसारण १५८३ और १५८४ में हुआ। १५८८ से १५९४ तक अनेक नये अनर्गल आदेश जारी किये गये। सम्राट के शिष्य होने के नाते इलाही के सदस्यों से यह आशा की जाती थी कि वे प्रत्येक आदेश पर विशेष ध्यान देंगे। दीन इलाही के अनुयायियों का संगठन का रूप धर्म की अपेक्षा एक संघ का था। वह धर्म जहाँ तक कि इसे धर्म कहा जा सकता है, एकेश्वर, एकेश्वरवाद का समर्थन करता था, जिसमें अनेक देवतावाद का पुट था, ईश्वर के उपराज्य के रूप में सम्राट को वस्तुतः देवत्व प्रदान करना एक विशिष्ट अंग पूरित करता था और सूर्य पूजा तथा गौण रूप में अग्नि और कृत्रिम ज्योति की उपासना का भी उसमें विशिष्ट स्थान था। पशु पक्षियों के मांसाहार का पाक्षित निषेध, विशेष रूप से जन प्रभाव के कारण अधिक था।[७३]

किसी बालक का मुहम्मद नाम नहीं दिया जाता था। यदि उसका यह नाम पहले रख दिया गया तो उसका परिवर्तन आवश्यक था। नवीन मस्जिदों का निर्माण निषिद्ध था और न ही पुरानी मस्जिदों की मरम्मत का जीर्णोद्धार की आज्ञा थी। शासन के उत्तर काल में मस्जिदों को ध्वस्त कर देने की आज्ञा दी गयी थी।[७४]

गो वध वर्जित कर दिया गया था, जिसका दण्ड प्राण-दण्ड था। जैसा कि हिन्दू राज्यों में प्रचलित था। १५८३ ई० के वर्ष में सौ दिवसों से अधिक दिनों तक के लिये मांसाहार निषिद्ध कर दिया गया था। पूरे साम्राज्य के लिये यह आदेश प्रयुक्त किया गया था और जो भी इस आज्ञा का उल्लंघन करता उसे प्राण दण्ड दिया जाता था। अनेक परिवारों का सर्वनाश और सम्पत्ति अपहरण सहन करना पड़ता था।[७५] ये नियम बहुसंख्यक मुसलमानों के लिए भारी रूप से उत्पीड़क प्रमाणित हुए।

दाढ़ियाँ मुड़वा देना लहसुन और प्याज तथा गोमांस भी हिन्दुओं के प्रतिकूल होने के कारण वर्जित कर दिया गया था।[७६]

गोहरे तथा रेशमी वस्त्रों का उपयोग जो मुसलमानों में वर्जित था, सार्वजनिक समाज के समय अनिवार्य घोषित कर दिया गया। यहाँ तक की नमाज 'रमजान' के व्रत तथा मक्का की तीर्थयात्रा भी निषिद्ध कर दिये गये।[७७]

अरवी के अध्ययन, मुसलमानी विधान कुरान के भाष्यों के अध्ययन पर प्रतिवन्ध आरोपित किया गया, विशेष रूप से अरवी वर्णमाला को वहिष्कृत कर दिया गया, इत्यादि ।[७८]

इन सब नियमों का सार यह था कि हिन्दू, जैन, पारसियों की रीतियों के ग्रहण करने में प्रोत्साहन दिया जाय, साथ ही मुसलमानी प्रथाओं को निरुत्साहित अथवा निश्चित रूप से वर्जित कर दिया जाय ।[७९]

इस्लाम को निराहृत् और उत्पीड़ित करने की नीति, जो वाद में वहुत अधिक सीमा तक पहुँच गई थी। १५८२ से १५८५ की अवधि में सक्रिय रूप से प्रयुक्त की गई है ।[८०]

१५८१-८२ के वर्ष के वहुसंख्यक शेष और फकीर, प्रकट रूप से वे जिन्होंने अत्याचारों का विरोध किया था, निष्कासित कर दिये गये थे। अधिकांशतः कन्दहार में घोड़ों के वदले में वेचे गये थे, सम्भवतः दासों के रूप में ।[८१]

शेखों के एक सम्प्रदाय के मतावलम्वी, जिन्होंने सम्राट के अनुयायियों के समान अपने को शिष्य घोषित करने का दुःसाहस किया था और जो सामन्यतः इलाही कहलाते थे। सिन्ध और कन्दहार भेज दिये गये तथा तुर्की घोड़ों के एवज में व्यापारियों को दे दिये गये ।[८२]

बदायूनी ने दीन-ए-इलाही अपनाने वाले केवल सोलह दरवारियों का उल्लेख किया है जवकि अवुल फजल ने अन्य और नामों का उल्लेख किया है। ब्लाखमैन कहता है—'वीरवल के अतिरिक्त वे सव मुसलमान थे। लेकिन वदायूनी के कहने से यह मालूम होता है कि अनुयायियों की संख्या और अधिक होगी।'[८३] स्वयं बदायूनी ने लिखा है—'राजा भगवानदास और मानसिंह ने दीन-ए-इलाही के अनुयायी बनने से इन्कार कर दिया था।[८४] इस कारण उनको सताया नहीं गया वल्कि उनकी प्रतिष्ठा और विशेष अधिकार ज्यों के त्यों वने रहे।

दीन-ए-इलाही के सदस्य वे ही बनते थे जिन्हें पद प्रतिष्ठा तथा जन प्राप्त होता था। फादर पिन्हेरी, ३ सितम्वर १५९५ ई० को लाहौर से गुजरते समय लिखा है कि नगर में राजकीय सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी थे, किन्तु वे सभी उस धन के कारण वने थे, जो उन्हें दिया गया था।[८५]

यह संगठन जैसा कहना चाहिये, उसके प्रधान धर्माध्यक्ष, अवुल फजल की हत्या के बाद भली प्रकार नहीं पनप सका होगा और निश्चय ही अकवर की मृत्यु के साथ समाप्त हो गया।[८६]

यह सम्पूर्ण योजना हास्यास्पद अहमन्यता का प्रतिफल था, अवाध निरंकुशता का प्रतिकुत्सित प्रस्फुटन। इसकी अवमानात्मक असफलता कोतवाल के प्रतिवाद की बुद्धिमत्ता

को चरितार्थ करती है, जो तीन शताब्दियों पूर्व दिल्ली के सुल्तान को सम्बोधित किया गया था, और उन बादशाहों की मूर्खता को जो पैगम्बर की भूमिका धारण करने का प्रयत्न करते हैं।[८७]

डा० स्मिथ का कहना है कि– 'दीन इलाही अकबर की बुद्धिमत्ता का नहीं अपितु उसकी मूर्खता का प्रतीक था।[८८] दीन इलाही एक धर्म न होकर केवल एक सूफी संप्रदाय मात्र था।[८९] लेकिन फिर भी वे कहते हैं कि अकबर के लिए एक पैगम्बर का पद ग्रहण करना मूर्खतापूर्ण था।[९०] एक सूफी संप्रदाय के संस्थापक को पैगम्बर नहीं शेख कहा जाता है, और स्पष्टतः अकबर ने पैगम्बर का पद ग्रहण नहीं किया था। वह स्वय कहा करता था कि मैं मनुष्यों के पथ निर्देशन का दावा क्यों करूँ जबकि मैं स्वयं निर्देशित हूँ।[९१] वह कहता था कि यह सोचना ही अविवेकपूर्ण है कि कोई मनुष्य देवत्व का एक अंश मात्र प्राप्त करने का दावा कर सकता है। फिर मेरे मस्तिष्क में ऐसा विचार आ ही कैसे सकता है।[९२]

तोहीद-ए-इलाही

दीन इलाही का राजकीय नाम तोहीद-ए-इलाही या दैवी एकेश्वरवाद था।[९३] इसका मुख्य सिद्धान्त एक सर्व प्रमुख परमात्मा में विश्वास और दूसरा आदर्श वाक्य सुलह कुल था। जिसके अर्थ सबके साथ शांति और सबके लिए सहनशीलता है। दूसरा कोई मन्दिर, मस्जिद या कोई उपासना गृह या कोई धर्म ग्रन्थ नहीं था।[९४] सदस्यों को दिन में तीन बार, सूर्योदय, दोपहर ओर सूर्यास्त होने के समय प्रार्थना करनी पड़ती थी और सम्भवतः मुसलमानों की नमाज की तरह कोई एक सी प्रार्थना निश्चित नहीं थी। अकबर उस संगठन का आदर्श और वही इसके पैगम्बर के पद पर आसीन था, वही नेता था उसको पूर्ण मनुष्य माना जाता था और उसे आदमी के रूप में अपनाया जाता था।[९५]

सदस्यों की वृद्धि में सम्राट की तरफ से न कोई प्रलोभन, न कोई दावत दिया जाता था। जिसकी इच्छा होती थी वह स्वेच्छा के साथ इसे स्वीकार करता था न होती थी तो नहीं करता था।[९६] अकबर के दीन-इलाही उद्देश्यों को लेकर बड़ा मतभेद है। समकालीन और आधुनिक यूरोपीय लेखकों ने इसे एक धर्म माना है।[९७] इतिहासकार बदायूँनी का भी यही मत है।[९८] दरबारी जीवन लेखक अबुल फजल इस बात पर मौन है।[९९] लगभग सभी आधुनिक भारतीय लेखकों का मत है कि दीने-ए-इलाही एक धर्म नहीं था और अकबर कभी एक धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करना चाहता था। और यह कहना कठिन है कि अकबर का असली उद्देश्य क्या था। अगर उसे इस योजना में वास्तविक प्रारम्भिक सफलता मिलती तो वह क्या करता। पर इसमें सन्देह नहीं कि अकबर का विश्वास था कि औसत हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सन्तों से इसकी आध्यात्मिक देन श्रेष्ठ है।[१००] उसने स्वयं को धर्म प्रणेता समझ लिया और रोगों तथा

बीमारियों को दूर करने का प्रयत्न किया। वह स्वयं को ईश्वरीय पैगम्बर के समकक्ष समझता था। सम्भवतः पहले दीन-ए-इलाही को पूर्ण विकसित राष्ट्र धर्म के रूप में प्रचलित किये जाने की योजना रही हो लेकिन दीन-ए-इलाही प्रारम्भ से ही एक प्रकार का सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक भाई चारे का संगठन बना रहा।[१०१] इसका कोई धर्म ग्रन्थ, कोई निश्चित प्रार्थना, कोई मन्दिर वा निश्चित उपासना का स्थान वा कोई पुजारी वर्ग न था। इसका उद्देश्य केवल ऐसे समझदार और उदार हृदय भारतीयों के समीप लाना था, जो अकबर को अपना राजनीतिक और साथ ही साथ आध्यात्मिक नेता भी मानते थे।[१०२]

सब धर्मों में निहित सत्य पर विश्वास कर एक साथ, एक स्थान पर एकत्र हो सकते थे। इसमें सन्देह है कि दीन-ए-इलाही को किसी उपयोगी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हो सकी क्योंकि इसकी सदस्यता कुछ सहस्त्र से आगे नहीं बढ़ी। बीरबल को छोड़कर इसके सब सदस्य मुसलमान ही थे।[१०३] बदायूँनी कहता है कि अकबर कुछ प्रमुख हिन्दुओं को दीन-ए-इलाही में लेने को अधिक उत्सुक था।[१०४] उन मुसलमानों पर जो इनमें सम्मिलित थे, होने की सच्ची इच्छा प्रकट करते थे, भौंहे चढ़ा लेता था। अकबर की यह इच्छा पूरी नहीं हुई, क्योंकि भगवानदास, टोडरमल, मानसिंह जैसे प्रमुख हिन्दुओं ने अस्वीकार कर दिया।[१०५] फिर भी दीन-ए-इलाही उन शक्तिशाली तलों में से एक था ही, जिन्होंने सम्राट के चारो ओर महानता और आध्यात्मिक प्रभामण्डल खींच कर उसके प्रति दृढ़ भक्ति को परिपोषित किया। इस सम्प्रदाय को कभी औपचारिक रूप से समाप्त नहीं किया गया, पर अकबर की मृत्यु के पश्चात् इसका अस्तित्व ही धीरे धीरे लोप हो गया।[१०६]

अकबर का मूल्यांकन

तुजक-ए-जहाँगीरी—'मेरे पिता हमेशा प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के विद्वानों के सम्पर्क में रहा करते थे, विशेषकर भारतवर्ष के विद्वान् पंडितों के। यद्यपि वे निरक्षर थे तो भी विद्वानों और बुद्धिमानों की निरन्तर सगति से और उनके साथ बातचीत करने से उनका उतना ज्ञान हो गया था कि कोई उनको निरक्षर नहीं समझता था ओर वे गद्य और पद्य की सूक्ष्मताओं को इतना समझते थे कि उनकी अनभिज्ञता पर किसी का ध्यान नहीं जाता था।[१०७]

कर्नल मैलीसिन—'अकबर का विचार समस्त भारत को एक शासक के आधिपत्य में करना था। साम्राज्य सस्थापक तथा शासक के लिए उसका विधान सर्वोत्तम था। उसने ऐसे सिद्धान्त जारी किये थे जिनपर चलकर ही उसके पश्चिमी उत्तराधिकारी इसको आजतक मानते हैं। अकबर ने ऐसी गहरी नींव डाली थी कि उसका पुत्र उसके समान योग्य न होते हुए भी उस साम्राज्य को जिसका संगठन उसके पिता के सिद्धान्तों पर हुआ था, चलता रहा।'[१०८]

अकबर उन प्रसिद्ध लोगों में से था, जिसको ईश्वर राष्ट्र की विपत्ति के समय जन्म देता है ताकि उसको वह शांति और सहिष्णुता के पथ पर चला सके, जिससे करोड़ों आदमियों को सुख प्राप्त हो।'[१०९]

स्टेनले लेन पुल—'भारत के शासकों में सर्वोत्तम शासक हुआ।[११०] साम्राज्य का उच्च संस्थापक और व्यवस्थापक था।[१११]' 'हिन्दू राजाओं को अपने में मिलाना अकबर का सबसे बड़ा कार्य था।[११२]

अकबर ने हिन्दुओं को शासन कार्य के लिए भी नियुक्त किया, जिससे बहुत उन्नति हुई क्योंकि ये अधिक कार्य कुशल थे अपेक्षाकृत उन लोगों के जो अशिक्षित और किराये के टट्टू थे और जो अधिकांशतः मुसलमानी हमलावर थे।[११३] भारतवर्ष में एक ऐसी नयी भाषा अर्थात् उर्दू का जन्म सम्भव हो सका जो हिन्दुओं द्वारा माध्यम रूप में उपयोग के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती थी।'[११४]

एडवर्डस् और गैरेट—'अकबर ने विभिन्न कार्य क्षेत्रों में अपनी योग्यता सिद्ध की थी। वह अपनी धार्मिक नीति के ही कारण अत्यन्त शक्तिशाली शासक होने का दावा कर सकता था। उसके राज्य में ही मुगल लोग जो केवल सैनिक आक्रान्ता थे, स्थायी भारतीय शासक बन गये।'[११५]

विसेण्ट ए स्मिथ—'वह प्रजा का जन्मजात बादशाह था। इतिहास में वह बड़ा ही शक्तिमान सम्राट माने जाने का अधिकारी था। यह अधिकार उसके असाधारण स्वाभाविक गुण, उसके मौलिक विचार और उसके जाज्वल्यमान कार्यों पर आश्रित है।'[११६]

लारेंस बिनियम—'उसका गुरुतर कार्य यह था कि शासक की हैसियत से उसने विभिन्न राज्यों, विभिन्न जातियों और विभिन्न धर्मों को एक कर दिया। यह उसकी महान व्यवस्था का परिणाम था। जनता को इसकी न्याय परायणता पर विश्वास हो गया था। एक विदेशी होते हुए भी भारतवर्ष में घुल मिल गया।'[११७] 'अकबर के दोषों और निर्बलताओं में भी कुछ न कुछ आकर्षण है, जो छोटी मोटी नहीं थी, परन्तु फिर भी ये बातें अकबर को महान सिद्ध करती हैं। वह मानवता से परे था।'[११८]

सभी धर्मों के आचार्यों को उसने बुलाया और सभी को ध्यान और आदर से सुना। किसी न किसी कारण सम्राट को कोई काबू न कर सका।[११९]

ई० बी० हैबेल- 'अन्य सुधारकों की भाँति अकबर के चरित्र की भी लोगों ने अनुचित मीमांसा की है। अकबर रूढ़िवादी ढंग का साधु था, न सन्त। परन्तु संसार के शासकों में ऐसे बहुत कम हैं, जिन्होंने मानवता के लिए ऐसे सत्कार्य किये हों, या जिन्होंने अपने धार्मिक जीवन को आदर्श लोक सेवा में इस भाँति लगाये हों। पाश्चात्य विचारों में उसका कार्य धार्मिक नहीं, राजनीतिक था। परन्तु उसका यत्न यह था कि राजनीति में

धार्मिक सिद्धान्त की प्रेरणा हो। इसलिए भारतवर्ष के इतिहास में उसका नाम अमर है। उसने इस्लाम की राजनीतिक नैतिकता को इतना ऊँचा उठा दिया है, जितना ऊँचा वह पहले कभी नहीं था। उसके आदर्श पूरे नहीं हुए, परन्तु इससे उसके मानव या शासक की पृष्ठभूमि में उसकी महत्ता कम नहीं होती, दीने-इलाही के शासक वर्ग का आध्यात्मिक उद्धार नहीं हुआ, सदियों का कुशासन नहीं मिट सका, उसकी योजनाओ में प्राचीन आर्य शासन पद्धति का पूर्ण समावेश नहीं हुआ। इस पद्धति पर भारत की आर्थिक शक्ति और राजनीतिक महानता दृढ़ता से इतने समय तक टिकी रही, जितना संसार का अन्य कोई साम्राज्य नहीं टिका, परन्तु फिर भी अकबर ने आर्य आदर्श खड़ा करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से भारत के ब्रिटिश शासकों को उसका अनुकरण करना चाहिये और उन राजनीतिज्ञों के लिए भी वह अनुकरणीय है जो राजनीति को धर्म समझते हैं, न कि छल और कला का खेल।[१२०]

लार्ड टेनीसन—'अकबर में धार्मिक सहिष्णुता और धार्मिक अत्याचारों के प्रति घृणा थी। शक्ति, न्याय और मानवता की दृष्टि से उसका कानून आश्चर्यजनक था।[१२१]

—:❀:—

[१] श्रीराम शर्मा, रिलीजियस पालिसी आफ़ मुगल। पृ० १९३
[२] बाबर, बाबरनामा—(अनु० बेवरिज)। पृ० ४३७-३८।
[३] श्रीराम शर्मा, रिलीजियस पालिसी आफ़ मुगल्स। पृ० १९७ :
[४] हसन-इस्लामिक कल्चर (हैदराबाद, १९३४) पृ० ४३।
[५] ब्राऊन, लिट्रेरी हिस्ट्री आफ पर्सिया, ४ पृ० ५६१।
[६] वही, ३, पृ० २११।
[७] वही, ४, पृ० ६१२।
[८] जी० एच० कीन, दि तुर्क इन इण्डिया, पृ० १३।
[९] जी० एच० कीन, दि तुर्क इन इण्डिया, पृ० १५।
[१०] श्रीराम शर्मा, रिलिजियस पालिसी आफ मुगल, पृ० १९३
[११] कीन, पृ० १७।
[१२] ब्राऊन, ४, पृ० ६३।
[१३] बाबरनामा, पृ० ९।
[१४] कीन, पृ० २१९।
[१५] गुलबदन बेगम, पृ० १३७।
[१६] गुलबदन, पृ० १३९।

[१७] वही, पृ० १४१ ।
[१८] एस० के० बनर्जी, हुमायूं, पृ० १२० ।
[१९] बदायूनी, ३, पृ० ७६ ।
[२०] अर्सकीन, हुमायूं २, पृ० ३३६, ३४७ ।
[२१] अकबरनामा २, पृ० ५०२, ५१० ।
[२२] एस० के० बनर्जी, पृ० २११ ।
[२३] कीन, पृ० १९५–१९८ ।
[२४] ब्राऊन, पृ० ९८, ९९, १०० ।
[२५] डा० कानूनगो, शेरशाह एण्ड हिज़ टाइम्स (अनु०), पृ० १५२ ।
[२६] श्रीराम शर्मा, पृ० १३१ ।
[२७] एस० के० बनर्जी, पृ० २१३ ।
[२८] डा० कानूनगो, पृ० १५३-५४ ।
[२९] एम० के० बनर्जी, पृ० २१७-१८ ।
[३०] श्रीराम शर्मा, पृ० १३३ ।
[३१] श्रीराम शर्मा, पृ० १३६-३७ ।
[३२] वही, पृ० १३५-३६ ।
[३३] बारतोली के अनुसार, स्मिथ द्वारा उद्धृत, अकबर, पृ० २११-१२ ।
[३४] स्मिथ, पृ० २१९ ।
[३५] वही, पृ० २१९-२० ।
[३६] श्रीराम शर्मा, पृ० १३८ ।
[३७] बारतोली के अनुसार, स्मिथ द्वारा उद्धृत अकबर, पृ० २१२-१३ ।
[३८] वही, पृ० ११२ ।
[३९] वही, पृ० २२२ ।
[४०] एस० एम० जाफर, मुगल एम्पायर, पृ० ९३।
सी० एच आई०, ४, पृ० १२९-३२ ।
[४१] श्रीराम शर्मा, पृ० १३९ ।
[४२] स्मिथ, पृ० २२५ ।
[४३] ब्राऊन, पृ० १०१ ।
[४४] वही, पृ० १०२-३ ।
[४५] स्मिथ, पृ० २२६-२७ ।
[४६] रेवरेन्ड एच० हेरास, दी मुगल पैंटिंग्ज आन अकबर्स रिलिजियस गडस्कशन्स, जे० बी० ब० आर० ए० एस०, भाग ३ अध्याय १ और २ (सन् १९२८)
सी० एच० आई० ४, पृ० ११३–१४ ।
[४७] आईने अकबरी १ (अनु० ब्लोकमैन), पृ० १७१। एलिएट हाऊसन, ४ पृ० ५९–६० ।

[४८] स्मिथ, पृ० १६२ ।
[४९] अकबरनामा, ३ (अनु०), पृ० ३६६ ।
[५०] स्मिथ, पृ० १७१-७२ ।
[५१] आईने अकबरी, १ (अनु०) पृ० १६९-७०
[५२] वही, पृ० १८४-८७ ।
[५३] एलिएट एण्ड डाऊसन, ६ पृ० ६०-६१ ।
[५४] आईने अकबरी, १ (अनु०) पृ० १९० ।
[५५] वही, पृ० १९१ ।
[५६] स्मिथ, पृ० १७१-७२ ।
[५७] वही, पृ० १७६ ।
[५८] आईने अकबरी, १ (अनु० ब्लाकमैन), पृ० ७५-७७ ।
[५९] स्मिथ, पृ० १९१–९२, आईने अकबरी, ३ (द्वितीय सं०), पृ० ४२९ ।
[६०] अबुल फजल आ० ए० अ० १ (अनु० ब्लाखमैन), पृ० २०७ ।
[६१] एस० एम० जाफर, मुगल एम्पायर, पृ० १२८–२९ ।
[६२] स्मिथ, पृ० २०१ ।
[६३] आईने अकबरी, १ पृ० २०८ ।
[६४] वही, पृ० २०९-२१० ।
[६५] आईने अकबरी, पृ० १४४-४९ ।
[६६] वही पृ० १६३-६४ ।
[६७] वही, पृ० १६३-६४ ।
[६८] बदायूनी, मुन्तखब-उत्-तवारीख, १, पृ० ३१० । आईन अकबरी, १, पृ० १६५-६७ ।
[६९] आईने अकबरी, १, पृ० १६७-६९ ।
[७०] बदायूनी, मुन्तखब-उत्-तवारीख, १, पृ० ३१६ ।
[७१] वही, पृ० ३०८ ।
[७२] वही, पृ० ३२१-२२ ।
[७३] स्मिथ, अकबर, पृ० १५६ ।
[७४] वही, पृ० २५८-५९ ।
[७५] बदायूनी, मुन्तखब-उत-तवारिख, १, पृ० ३०९ ।
[७६] वही, पृ० ३१०-११ ।
[७७] बदायूनी, मुन्तखब-उत-तवारीख, १, पृ० ३१७ ।
[७८] अबुल फजल, आ० ए० अ०, १, पृ० ४६८ नं० १९४ ।
[७९] स्मिथ, पृ० २५९ ।
[८०] श्रीराम शर्मा, पृ० २१३ ।

[81] आईने अकबरी, १ पृ० ३ ।

[82] बदायूनी, २ पृ० ३५५-५५, ३९०-९५ । आईने अकबरी, २ पृ० ४४-४५ ।
वही, ३, पृ० ४२४, ४६, ४९, ५०, ५१ ।

[83] वही, १, पृ० २०९ ।

[84] वही, पृ० १९८-२०६ ।

[85] वही, ३, पृ० ४२१ ।

[86] स्मिथ, पृ० २१७ ।

[87] वही, पृ० २१७-१८ ।

[88] वही, पृ० २१९-२१ ।

[89] वही, पृ० ३१० ।

[90] वही, पृ० २१० ।

[91] आईने अकबरी, १, पृ० १७४ ।

[92] अकबर नामा, ३, पृ० २७१-७५ ।

[93] स्मिथ, पृ १३९ ।

[94] आईने अकबरी, ३, पृ० ३८७-८८ ।

[95] आईने अकबरी, १, पृ० १६३-६४ ।

[96] वही, पृ० १७५-७६ ।

[97] आईने अकबरी, १, पृ० १७५-७६ ।

[98] वही, १, पृ० ३२९ ।

[99] बदायूँनी, २, पृ० ३१३ ।

[100] अकबर दी ग्रेट मुगल (१९१७ का संस्करण), पृ० २१९-२१ ।

[101] वही, पृ० ३१० ।

[102] वही, पृ० ३२२ ।

[103] आईने अकबरी, १, पृ० १७२-७३ ।

[104] वही, पृ० १७४ ।

[105] अकबरनामा, ३, पृ० २७१-७४ ।

[106] श्रीराम शर्मा, पृ० ९८०-८९ ।

[107] जहांगीर, तुजुक-ए-जहांगीरी, १ (अनु० आर० बी०), पृ० ६० ।

[108] मैलीसन, अकबर, पृ० १९६, १९९-२० ।

[109] लेनपुल, मेडीवियल इण्डिया, पृ० २८८ ।

[110] वही, पृ० २८८ ।

[111] वही, पृ० २३८ ।

[112] वही, पृ० २४१ ।

[113] वही, पृ० २६१ ।

[११४] वही, पृ० २६५-६६ ।

[११५] ग्रेट मुगल रूल इन इण्डिया, पृ० ५३ ।

[११६] स्मिथ, अकबर दी ग्रेट मुगल, पृ० ३५२-५३ ।

[११७] लारेंस विनियन, अकबर, पृ० ८-९ ।

[११८] लारेंस विनियन, अकबर, पृ० २३ ।

[११९] वही, पृ० २५-२६ ।

[१२०] हैवेल, आर्यन रूल इन इण्डिया, पृ० ५३६-३७ ।

[१२१] लार्ड टेनीसन – 'ए साइड लाइट आन अकबर्स', दी मुस्लिम यूनिवर्सिटी । जर्नल, जिल्द ३, १ (सन् १९३६) ।

आधुनिक शिक्षा और महामना मालवीय

डा० कृष्णदत्त द्विवेदी*

शिक्षा का अर्थ, परिभाषा तथा उद्देश्य

'शिक्षा' शब्द सामान्यतः अतीव व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है। वस्तुतः शिक्षा शब्द उन सम्पूर्ण प्रभावों की ओर संकेत करता है, जो प्रभाव प्रकृति एवं समाज द्वारा व्यक्ति के ऊपर पड़ते हैं। इस प्रकार यह अनुभूति पर आधृत अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया है। जान स्टुअर्ट मिल[1] के मतानुसार—'प्रकृति की पूर्णता तक पहुँचाने के प्रयोजन से जो कुछ भी हम करते हैं अथवा समाज के अन्य लोग करते हैं, वह शिक्षा से सम्बद्ध होता है।' काँट के मतानुसार - 'प्रत्येक व्यक्ति में जीवन की समग्रता का यथेष्ट विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।' शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार – 'शिक्षा तो सदैव एक महत्वपूर्ण विषय रहा है, परन्तु फिर भी इसका महत्व मानव इतिहास में कभी इतना नहीं रहा, जितना कि यह आधुनिक समय में है......। विज्ञान तथा प्राविधिकी पर आश्रित संसार में शिक्षा ही ऐसा तत्व है, जो लोगों की समृद्धि, कल्याण तथा सुरक्षा के स्तर का निर्धारण करता है।'[2] प्राचीन भारत में धर्म एक व्यक्ति की क्रियाओं का प्रमुख स्रोत था तथा यह शैक्षिक आदर्श को भी परिपूर्ण करता था। शिक्षा व्यवस्था का लक्ष्य चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व विकास तथा मातृभूमि की प्राचीन संस्कृति का संरक्षण होता था।[3]

सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में शिक्षा की प्रमुख भूमिका होती है। प्रस्तुत प्रसंग में मालवीयजी के शिक्षा-सम्बन्धी आधुनिक विचारों का अध्ययन किया गया है। क्रौ[4] के शब्दों में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं :—

(१) आत्मानुभूति, (२) सामाजिक सम्बन्धों का यथेष्ट सृजन एव नियम, (३) आचरण-निर्माण, (४) आर्थिक, प्राविधिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक कुशलता और (५) जन-जीवन का उत्तरदायित्व। मालवीयजी के मतानुसार—'विद्यार्थियों का चरित्र-गठन शिक्षा का प्राथमिक लक्ष्य है।'[5] आचरण की पुष्टि और परिपक्वता के लिए मालवीयजी भी धर्म, नागरिकता और नैतिकता की शिक्षा आवश्यक समझते थे। उनकी 'धर्म' की व्याख्या नैतिकता से ओत-प्रोत और नागरिकता से सम्बन्धित थी। वह देशभक्ति को धर्म का महत्वपूर्ण अग मानते थे।[6] वह हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रो० विलियम जेम्स के इस मत से सहमत थे कि इस विधि से 'लेबरेटरी वर्क और वर्क शाप प्रेक्षण का अभ्यास यथार्थ और अस्पष्टता के अन्तर का ज्ञान तथा प्रकृति की पेचीदगी की ओर वास्तविक तथ्य के सभी शाब्दिक विवरणों की त्रुटियों की पूरी जानकारी उत्पन्न करते हैं जो एक बार बुद्धि में बैठ जाने पर आजीवन बने रह जाते हैं।'[7] इस प्रकार मालवीयजी पुस्तकीय शिक्षा की

*समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अपेक्षा प्रौद्योगिक शिक्षा के समर्थक थे। वह चाहते थे कि वैज्ञानिक ढंग की शिक्षा अपने देश में भी चालू की जाय और प्रयोगशाला तथा वर्कशाप में विद्यार्थियों को अपने हाथों से प्रयोग करने का अभ्यास कराया जाय, उनमें शिक्षा से प्रेरणा की शक्ति उत्पन्न की जाय। उनके ज्ञान को यथातथ्य तथा जीवनोपयोगी बनाया जाय। उनकी धारणा थी कि भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करने में तब तक सर्वथा असमर्थ रहेगा, जब तक वह वर्तमान वैज्ञानिक अन्वेषण का अध्ययन नियमित और अनिवार्य नहीं बनाता।[8]

मालवीयजी के अनुसार—प्रत्येक जिला अथवा कमिश्नरी में इस प्रकार की माध्यमिक स्तर की औद्योगिक शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की जायँ, जिनमें बुनाई, रंगाई, धुलाई, वस्त्र-छपाई, बढ़ईगिरी, मीनाकारी आदि की शिक्षा की व्यवस्था हो। इन संस्थाओं में कार्य-देशको (फोरमेन) और उनके सहायकों के प्रशिक्षण का भी प्रबन्ध किया जाना चाहिए। वह यह भी चाहते थे कि प्रत्येक प्रान्त में एक उच्चस्तरीय औद्योगिक शिक्षा महाविद्यालय स्थापित किया जाय, जिसमें शिल्प-विज्ञान-सम्बन्धी विषयों की उच्च-स्तरीय शिक्षा का प्रबन्ध हो।[9]

शिक्षा व्यवस्था का व्यवहृत रूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मालवीयजी की यह विशेषता थी कि वह अपने विचारों का व्यवहृत रूप अवश्य रखते थे, जो उनके विचारों की साकार अभिव्यक्ति माना जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने विचारों के अनुरूप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।[10] यह विश्वविद्यालय उनके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का मूर्त रूप है।

मालवीयजी यह मानते थे कि चरित्र-निर्माण में शिक्षकों का विद्यार्थियों पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अतः उनके अनुसार—उनके विश्वविद्यालय में जो अध्यापक होते हैं, उन्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ती हैं—प्राचीन धर्म शिक्षा मानेंगे, हिन्दू शास्त्रों का पालन करेंगे, शिक्षा का प्रचार करेंगे, समाज का कल्याण करेंगे, सदाचारी रहेंगे, देश-सेवा के साथ-साथ सदाचारी जीवन व्यतीत करेंगे[11]।

उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में अपनी विचारधारा का साकार व्यवहृत स्वरूप एक विशिष्ट प्रयोगशाला के रूप में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को दिया जो उनकी स्वप्न कल्पना का साकार रूप है। शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में कई विद्वानों ने प्रकाश डाला है। न्योगार्टेन के अनुसार—शिक्षा की निम्नलिखित दो प्रकार्यात्मक भूमिकाएँ हैं—

(क) सामाजिक स्थिरता (सातत्य) और

(ख) सामाजिक परिवर्तन।

मालवीयजी की शिक्षा-व्यवस्था की विचारधारा उपर्युक्त सातत्य और परिवर्तन विषयक विचारधारा के समान थी। वह प्राचीन आयुर्वेद के साथ अर्वाचीन शल्य-विज्ञान की

शिक्षा का मेल, आयुर्वेदिक औषधियों का वैज्ञानिक परीक्षण तथा उन पर अनुसन्धान विभिन्न विषयों पर प्राच्य और अर्वाचीन ज्ञान का तुलनात्मक और समन्वयात्मक अध्ययन, प्राचीन भारतीय संस्कृति, दर्शन, साहित्य तथा इतिहास के गहन अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ आधुनिक मनोविज्ञान, नीतिविज्ञान, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन, वेद-वेदांत, संस्कृत-साहित्य और वाङ्मय की शिक्षा के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान, धातु विज्ञान, खनन विज्ञान, विद्युत् इन्जीनियरिंग, यांत्रिक इन्जीनियरिंग, कृषि विज्ञान आदि का अध्ययन-अध्यापन कराना चाहते थे।[13] उक्त शिक्षा-व्यवस्था उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में लागू करने का प्रयास किया है। इस प्रकार मुख्य रूप से सामाजिक स्थिरता हेतु मालवीयजी प्राचीन शिक्षा व्यवस्था तथा परिवर्तन और आधुनिकता हेतु आधुनिक वैज्ञानिक प्राकृतिक विज्ञान की शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे। उनके अनुसार—'व्यक्ति' में मानवोचित विकास तथा प्रगति एवं कार्यशीलता के लिए उपर्युक्त शिक्षा आवश्यक है। उक्त प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रारम्भ की थी, जो इस विश्वविद्यालय की शिक्षा-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। अपनी इन्हीं चतुर्मुखी शिक्षा-सम्बन्धी विशेषताओं के कारण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संसार के अन्य विश्वविद्यालयों से भिन्न अपना पृथक् महत्व रखता है।

शिक्षा के व्यापक प्रसार सातत्य तथा परिवर्तन के सन्दर्भ में अमेरिकी शिक्षाविद् थ्योडोर ब्रैमेल्ड[14] के मतानुसार—'आधुनिक शिक्षा के समक्ष अनेक गहन चुनौतियाँ हैं, विशेषकर मानव सम्बन्धों में विज्ञान, अर्थशास्त्र, कला, धर्म तथा राजनीति के क्षेत्रों में तो इसका महत्व अपरिहार्य है। फिर भी आधुनिक संक्रमणकालीन परिस्थिति में शिक्षा ही संकटों का निराकरण कर रही है एवं वही नवीन सामाजिक ढाँचे का प्रदुर्भाव भी कर रही है। मालवीयजी प्राचीन सांस्कृतिक शिक्षा के साथ-साथ धर्म-दर्शन, कला, साहित्य आदि के साथ आधुनिक ज्ञान विज्ञान की समन्वित शिक्षा-व्यवस्था पर बल देते हैं और भारतीय परम्परागत विचारधारा की मूल मान्यताओं को सतत बनाये रखने के लिए स्त्री-शिक्षा पर भी विशेष बल देते हैं, साथ ही प्रगतिशीलता को अक्षुण्ण रखने के लिए आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का विशेष महत्व भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार प्राचीन संस्कृति, धर्म-दर्शन, कला, साहित्य आदि की शिक्षा द्वारा परम्परागत हिन्दू जीवन-दर्शन जीवित रहेगा और विश्व-बन्धुत्व की भावना का निरन्तर विकास हो सकेगा। कपाडिया[15] के शब्दों में 'हिन्दू मनोवृत्तियाँ आज भी (परम्पराओं में) सयुक्त परिवार के पक्ष में है ·· ।' जैसी सांस्कारिक भावनाएँ बनी रहेंगी, वैसा भारतीय समाज का सांस्कारिक रूप बना रहेगा। दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान, प्राविधिकी की शिक्षा द्वारा समाज का विकास होगा।

मालवीयजी की विचारधारा, व्यावहारिक तथा कार्योन्मुखी थी। वह किसी विषय के वैचारिक संकल्प के अनुसार उसका कार्योन्मुख साकार स्वरूप भी रखते थे। उनकी शिक्षा सम्बन्धी विचारधारा निम्नलिखित व्यावहारिक पक्ष उनकी शिक्षा सम्बन्धी विचार-

धारा का व्यावहारिक स्वरूप उपस्थित करती हैं, जिससे उनकी शिक्षा-सम्बन्धी प्रगतिशील विचारधारा पर व्यापक प्रकाश पड़ता है।

शिक्षा के क्षेत्र में मालवीयजी ने पराधीन भारत में जो कार्य किया है वह विश्व के इतिहास में एक अद्भुत घटना है। उनका यह विश्वास था कि राष्ट्रीय चरित्र के भविष्य के लिए आने वाली पीढ़ी को शिक्षा की उत्तमोत्तम व्यवस्था प्रदान की जानी चाहिए और राष्ट्र के विविध धर्मावलम्बियों में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना शिक्षा-व्यवस्था द्वारा विकसित की जानी चाहिए। यही कारण है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय राष्ट्रीय आन्दोलन का केन्द्र बिन्दु था। मालवीयजी पर राष्ट्रीय आन्दोलनकारी छात्रों को दण्डित करने के लिए जब ब्रिटिश प्रशासन ने दबाव डाला, तब मालवीयजी ने इससे साफ इन्कार कर दिया और कहा कि जब आप लोग अपने देश में देशभक्ति को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, तब आप हमारी देशभक्ति को शंका की दृष्टि से क्यों देखते हैं ? पराधीनता से मुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि इस विशाल देश में शिक्षा का व्यापक रूप से प्रसार किया जाय। यही कारण है कि उन्होंने असहयोग आन्दोलन में अध्ययन से असहयोग करने का विरोध किया था। उन्होंने बार-बार इस बात को दुहराया था कि इसी शिक्षा-व्यवस्था द्वारा हमारी चेतना का विकास हुआ है और हम इस योग्य हो सके हैं कि स्वाधीनता के अधिकार की माँग कर रहे हैं। अतः इस शिक्षा-व्यवस्था के बिना समानान्तर राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था किये, छात्रों को अध्ययन छोड़ने के कहना हमारी चेतना के विकास में अवरोध पैदा करना है। इससे अंग्रेजी प्रशासन का कोई अहित नहीं होगा, किन्तु इससे देश का ही अहित होगा।

मालवीयजी विश्वविद्यालय को चरित्र-विकास का साधन मानते थे।[16] धर्म और भारतीय संस्कृति पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। काशी भारतवर्ष की प्राचीन नगरी है। अतः उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए इसी नगर का चुनाव किया था।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना करते समय उन्होंने कला और विज्ञान के व्यापक महत्व को समझकर; अपनी शिक्षा-नीति निर्धारित की थी। उनका विचार था कि धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा के साथ ही विज्ञान तथा प्राविधिकी की शिक्षा अतीव आवश्यक है। उनके अनुसार—धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा मनुष्य के सिर की भाँति है और विज्ञान तथा प्राविधिकी की शिक्षा उसके धड़ के समान है। उक्त दोनों प्रकार की शिक्षा एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों का शरीर के अवयव धड़ तथा सिर की भाँति अपना-अपना महत्व है। विज्ञान की शिक्षा के अभाव में कला की शिक्षा तथा कला की शिक्षा के बिना विज्ञान की शिक्षा अधूरी है। इसीलिए उन्होंने वेद-वेदांग, धर्म-दर्शन तथा कला की शिक्षा के साथ ही इस महान् विश्वविद्यालय में विज्ञान, प्राचीन आयुर्विज्ञान तथा आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के साथ ही कृषि, जीव, वनस्पति आदि अन्यान्य विज्ञानों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था की थी। उन्होंने प्राविधिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था की थी, यह उनकी दूरदर्शिता का ज्वलन्त उदाहरण है।[17] यही कारण है कि स्वाधीनता

मिलने पर देश से अंग्रेज इञ्जीनियरों एवं प्राविधिज्ञों के जाने के बाद देश को इञ्जीनियरों एवं प्राविधिज्ञों की आपूर्ति करने का एकमात्र श्रेय इसी विश्वविद्यालय को प्राप्त हुआ था। इस विश्वविद्यालय में उक्त शिक्षा के अतिरिक्त वह तकनीकी—उपयोगी सामग्री उत्पादन, डेरी फार्म, कृषि फार्म, औषधि निर्माण, साबुन निर्माण आदि अन्यान्य जीवनोपयोगी सामग्रियों का उत्पादन भी कराना चाहते थे, जहाँ शिक्षा और उत्पादन-खपत दोनों का प्रशिक्षण हो। यही उनके इस विश्वविद्यालय की शिक्षा की प्रमुख विशेषता है। वह विश्वविद्यालय को अध्ययन केन्द्र बनाने के साथ ही औद्योगिक उत्पादन और वितरण की इकाई भी बनाना चाहते थे।

मालवीयजी का विचार था कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए। २६ जनवरी १९२० ई० के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण में उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा था कि—'स्कूलों में ही नहीं, विश्वविद्यालयों तथा उच्च श्रेणियों में भी देशी भाषाओं के माध्यम द्वारा शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए। संसार में कोई भी ऐसा देश नहीं है. जहाँ प्रारम्भिक तथा उच्च श्रेणियों की शिक्षा के लिए मातृभाषा का प्रयोग न किया जाता हो। हम लोगों को भी शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा को ही बनाना चाहिए। उन्होंने कहा था कि मातृभाषा को माध्यम बनाने के अनन्तर पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने का काम आरम्भ कर देना होगा। उसके अनुसार—पुस्तकें तैयार कर लेने के बाद मातृभाषा को माध्यम बनाना अव्यावहारिक होगा। मातृभाषा को माध्यम बनाने के बाद क्रमशः स्वत. ही पाठ्य सामग्रियों का प्रकाशन होने लगेगा और भाषा का द्रुत गति से विकास सम्भव हो सकेगा।[18]

शिक्षा श्रेणी

मालवीयजी के अनुसार—'प्रारम्भिक अवस्था में हमें केवल विद्यार्थियों को पढ़ाने-लिखाने तथा जोड़ने की शिक्षा देकर ही चुप नहीं रह जाना चाहिए। संसार की सर्वतोमुखी प्रगति को देखते हुए शिक्षा-व्यवस्था का यह क्रम सर्वथा अनुपयुक्त है। अपने देश में प्रारम्भिक अवस्था में प्रारम्भिक विज्ञान तथा साधारण रोचक शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।[19]

'द्वितीय श्रेणी की शिक्षा कितनी अवस्था तक के विद्यार्थियों को दी जाय, इस बात पर भी हमें विचार करना है। मेरे विचार से १४ वर्ष से १७ वर्ष या १८ वर्ष तक के विद्यार्थियों को यह शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा पाने वाले द्वितीय श्रेणी की शिक्षा में प्रवेश पा सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।'[20]

सह-शिक्षा

मालवीयजी शिक्षा को चरित्र-विकास का साधन मानते थे और चाहते थे कि शिक्षा द्वारा 'व्यक्ति' का सर्वांगीण विकास हो। परम्परावादी लोग बालक-बालिकाओं की पृथक् शिक्षा-व्यवस्था को विशेष महत्व देते हैं, किन्तु मालवीयजी सह-शिक्षा के समर्थक

थे। उनके अनुसार—'स्त्रियों में पुरुषोचित और पुरुषों में स्त्रियोचित गुण समवयस्क सह-शिक्षा द्वारा ही आ सकता है।[21]

मालवीयजी का पुरुषों में स्त्रियोचित और स्त्रियों में पुरुषोचित गुणों के विकास-सम्बन्धी उपर्युक्त विचार प्रगतिशील विचारधारा का द्योतक है। परम्पराओं में परिवर्तन और गतिशीलता के लिए इससे अधिक प्रगतिशील विचार और क्या हो सकता है? अतः हम पाते हैं कि शिक्षा और समाज-सम्बन्धी मालवीयजी के विचार अतीव आधुनिक एवं तर्कयुक्त थे। यहाँ मालवीयजी के विचार काण्ट के 'प्रत्येक व्यक्ति में जीवन की समग्रता का यथेष्ट विकास करना ही शिक्षा का उद्देश्य है,[22] विचार के समान है। मालवीयजी जीवन के समग्र विकास के लिए शिक्षा को सर्वाधिक महत्व देते थे। सह-शिक्षा को भी वह सर्वांगीण विकास का अंग मानते थे। मनुष्य मात्र में स्त्रियोचित और पुरुषोचित गुण-विकास आवश्यक मानकर वह समवयस्क सह-शिक्षा को महत्वपूर्ण मानते थे।

अर्थकारी शिक्षा की अवधारणा

मालवीयजी ने २६ जनवरी १९२० ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में शिक्षा के सम्बन्ध में कहा था कि शिक्षा द्वारा 'विद्यार्थियों को इस योग्य भी बना देना चाहिए कि वे किसी-न-किसी उपाय से अपना जीवनोपार्जन कर सकें। हाई स्कूल की शिक्षा अन्य देशों की भाँति सफल तभी मानी जा सकती है, जब वह विद्यार्थियों को अर्थार्जन योग्य बनाने वाली हो।'[23]

उपर्युक्त माध्यमिक अर्थार्जनपरक शिक्षा होने पर हाई स्कूल की शिक्षा में विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि होगी और इस अवस्था में उच्च शिक्षा पर व्यय किये गये धन का परिणाम भी अच्छा होगा।[24]

'शिक्षा के लिए, युवकों को दूर नहीं जाना पड़े और छात्र अर्थकरी शिक्षा कम व्यय में अपने समीप के विद्यालय में ही प्राप्त कर सकें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए।'[25]

माध्यमिक शिक्षा व्यवस्था में कला और विज्ञान की शिक्षा पर समान बल

'केवल कला-सम्बन्धी शिक्षा देने से ही किसी देश का हित नहीं हो सकता, अपितु विज्ञान की पिछली शताब्दियों की उन्नति को देखते हुए तथा विज्ञान की प्रयोगात्मक क्षेत्रों में जो असाधारण उन्नति हुई है, उसे देखते हुए हमसे कोई विचारवान् व्यक्ति यह कहने का साहस नहीं करेगा कि प्रारम्भिक स्कूलों में जो शिक्षा-व्यवस्था की जाय, उसमें विज्ञान की शिक्षा का कार्यक्रम न हो तथा हाई स्कूलों में किसी प्रकार की उद्योग-धंधा सम्बन्धी शिक्षा का उचित प्रबन्ध न हो।[26]

नवयुवक बेकारी और शिक्षा की आधुनिकता पर मालवीयजी के विचार

मालवीयजी के अनुसार—"व्यावहारिक ज्ञान की शिक्षा भी सभी प्रकार से पूर्ण तथा प्रयोग में लाने योग्य होनी चाहिए। मेरी समझ में यदि हमारे नवयुवकों को

व्यावसायिक तथा व्यावहारिक विज्ञान की शिक्षा अनेक रूपों में दी जाय तो यह समस्या बहुत अंशों में हल हो जायेगी, जिससे वेतन वाली सरकारी नौकरियों की 'मृगतृष्णा' अथवा पहले से ही ठसाठस भरे हुए पेशों की ओर झुकाव कम हो सकेगा। इस प्रकार से हम क्रमशः विदेशी वस्तुओं के आयात को भी कम कर सकेंगे और देश से बाहर जाने वाले कच्चे माल की खपत यहीं कर सकगे, इससे कच्चे माल का निर्यात कम होगा।[27] इस प्रकार आवश्यकता की सामग्री देश में ही बनने लगेगी, जिससे स्वदेशी का प्रसार होने के साथ ही बेकार लोगों को काम भी मिल सकेगा।

बेकारी और उसका कारण

विश्वविद्यालय के दीक्षान्त भाषण में बेकारी का कारण बताते हुए उन्होंने कहा था—'आज बेकारी का प्रमुख कारण यह है कि हमारे विश्वविद्यालय विभिन्न विषयों की शिक्षा नहीं देते। उनकी शिक्षा अर्थपरक नहीं है। कला अथवा विज्ञान में उपाधि प्राप्त करने वाले विद्यार्थी केवल एक शिक्षक या राज्य कर्मचारी के पद के योग्य ही बन पाते हैं, परन्तु स्कूल तथा कालेज और नौकरियों में प्रतिवर्ष निकले हुए स्नातकों की अल्प संख्या में ही नियुक्ति हो सकती है। इन सभी बातों का एकमात्र उपाय यही है कि व्यापार, कृषि, शिल्पादि कला, अभियांत्रिकी तथा प्रयोगात्मक रसायनों में शुद्ध ढंग पर भरपूर शिक्षा का विकास किया जाय। शिक्षा को ऐसा क्रियात्मक रूप देने की आवश्यकता है, जिसकी माँग सदैव बनी रहे।

धर्म और शिक्षा

चरित्र के महत्व के प्रसंग में मालवीयजी ने कहा था कि 'धर्म चरित्र-निर्माण तथा सांसारिक सुख का सीधा मार्ग है। इससे मनुष्यों में उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा की भावना आती है, जिससे समाज तथा राष्ट्र का कल्याण होता है।'[28]

शिक्षा के विषय में राज्य का कर्तव्य

धर्म के सम्बन्ध में विद्यालयों के योगदान के विषय में मालवीयजी का मत था कि 'विद्यालयों का उद्देश्य इस प्रकार की शिक्षा होना चाहिए कि वह विद्यालयों के कमरों से छात्रों को कारखानों तक पहुँचा सके। उनके मतानुसार—'प्रत्येक सभ्य राज्य का यह अपना कर्त्तव्य है कि वह बालकों को अच्छी जीविका प्राप्त करने के योग्य शिक्षा दे।[29] हिन्दू विश्वविद्यालय में कृषि, तकनीकी, वैज्ञानिक विषयों आदि की शिक्षा-व्यवस्था में उनका प्रयास था कि तकनीकी सामग्रियों का उत्पादन हो, विश्वविद्यालय के वर्कशाप में जनता की आवश्यकता की सामग्रियों का उत्पादन और मरम्मत का कार्य हो जहाँ छात्र-छात्राएँ प्रयोगों द्वारा उत्पादन और मरम्मत कार्य सीखें और करें। चिकित्सा विज्ञान में दवाओं का उत्पादन भी किया जाय, जो विश्वविद्यालय चिकित्सालय के अतिरिक्त देश को शुद्ध-परिष्कृत दवाओं की आपूर्ति कर सके। कृषि विद्यालय में भी उनकी इसी प्रकार की व्यवस्था का प्रयास था। मालवीयजी के विचारों के अनुसार—'कृषि-शिक्षक तैयार किये

जाने चाहिए ।' वह चाहते थे कि कृषि महाविद्यालय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध हों तथा कृषि-विशेषज्ञ और दूसरे विज्ञान-विशेषज्ञ सम्मिलित रूप से कार्य करें। कृषिप्रधान भारतीय राष्ट्र की कृषि-शिक्षा के व्यापक महत्व को समझाते हुए उन्होंने अपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कृषि महाविद्यालय की स्थापना कृषिशास्त्र की सैद्धान्तिक और प्रायोगिक अध्यापन व्यवस्था द्वारा की है। मालवीयजी चाहते थे कि यहाँ आधुनिकतम कृषिशास्त्र की पढ़ाई हो और यहाँ कृषि उत्पादन का कार्य भी हो, जो विश्वविद्यालय परिवार की खाद्यान्न-पूर्ति के अतिरिक्त बाजार को भी अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादित खाद्यान्न आपूर्ति कर सके। इससे कृषिशास्त्र के विद्यार्थियों में स्वावलम्बन की भावना का विकास होगा, जो भविष्य में देश की खाद्य समस्या की पूर्ति में अधिक सक्षम ढंग से सहायक होंगे।

मालवीयजी के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य

'शिक्षा प्रणाली का प्रधान ध्येय नवयुवकों को योग्य नागरिक बनाना तथा जनता की बुद्धि का विकास करना है।'[30]

देश में शिल्प, कृषि, वाणिज्य आदि से सम्बन्धित शिक्षालयों का अधिकाधिक विकास किया जाना चाहिए।'[31]

'यहाँ प्रत्येक विद्यार्थी को बाध्य होकर अनेक विषय लेने पड़ते हैं, जो उन्हें तुच्छ क्लर्की के पदों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए अनुपयुक्त बना देता है। इसके लिए राज्य की ओर से अर्थकारी शिक्षा नीति अपनायी जानी चाहिए।'[32]

मालवीयजी ने १४ दिसम्बर १९२९ ई० को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अपने दीक्षांत भाषण में शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि 'विद्यार्थियों को प्रयोगात्मक ज्ञान के साथ विज्ञान, कला-कौशल और व्यवसाय-सम्बन्धी ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे देशी व्यवसाय तथा घरेलू धंधों की उन्नति हो।'[33]

उसी भाषण में उन्होंने शिक्षा के लिए विद्यार्थियों के प्रवेश के विषय में यह भी कहा था कि—'विश्वविद्यालयों में भरती उनकी शिक्षा तथा परीक्षाओं में अत्यन्त आवश्यक उच्चकोटि की श्रेष्ठता के निर्वाह के लिए, राष्ट्रीय प्रणाली के आधार पर प्रारम्भिक तथा माध्यमिक स्कूलों में सर्वसाधारण के लिए निःशुल्क शिक्षा अनिवार्य कर दी जानी चाहिए। उनमें उत्तम शिल्पादि कलाओं की शिक्षा का भी प्रबन्ध रखा जाना चाहिए। वर्तमान असन्तोषजनक परिस्थिति को सुधारने के लिए यही एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त योग्यताहीन विद्यार्थियों को शिक्षा देना व्यर्थ है'[34] विश्वविद्यालयों के इस कार्य में सरकार को सहयोग देना चाहिए, ताकि वे नवयुवकों को उपर्युक्त शुद्ध ढंग की शिक्षा दे, जिससे वे अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ हो सकें।[35]

शिक्षा-प्रणाली का एक महान् दोष

मालवीयजी के अनुसार—'इस वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सबसे बड़ा दोष यह है

कि बीस वर्ष की शिक्षा के बाद भी भारतीय नवयुवक अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर पाता। अतः वर्तमान शिक्षाप्रणाली जड़ से ही दोषयुक्त है और इसमें आमूल सुधार की आवश्यकता है, जो किसी व्यक्ति विशेष के बूते की बात नहीं है। इसके लिए सामूहिक तथा राजकीय प्रयत्न होना चाहिए।'[36]

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली एक निकृष्ट नकलमात्र

भारतीय शिक्षा-प्रणाली के विषय में मालवीयजी ने कहा था—'हम लोग अन्ध-विश्वासी की भाँति एक ऐसी शिक्षा प्रणाली का अनुसरण करते चले जा रहे हैं, जिसका निर्माण अन्य जातियों के लिए हुआ था और जिसका उन्हीं लोगों ने बहुत दिन हुए परित्याग कर दिया है, किन्तु हम उसकी अर्थी लिए हुए आज भी उसमें जीवन होने की आशा करते हैं'[37]

इस प्रकार उन्होंने आज से बहुत पहले ही वर्तमान शिक्षा प्रणाली की निरर्थकता की ओर इंगित कर दिया था, किन्तु उनका विश्वास था कि शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन अथवा परिष्कार किसी व्यक्ति-विशेष की सामर्थ्य से परे है। अतः सरकार को योजनाबद्ध रूप से शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की दिशा में ठोस कार्य करना चाहिए। उनका दृढ़ विश्वास था कि राष्ट्रीय शिक्षा का विस्तार केवल राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही सम्भव है।[38]

नौकरी तथा शिक्षा का माध्यम

मालवीयजी ने शिक्षा के माध्यम के विषय में प्रकाश डालते हुए कहा था कि 'भारतीय विद्यार्थियों के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का कोई अन्त नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि यहाँ शिक्षा तथा सेवाओं का माध्यम एक दुरूह विदेशी भाषा है। संसार में कहीं भी शिक्षा तथा नौकरी का माध्यम विदेशी भाषा नहीं है।'[39] अंग्रेजी भाषा की लिपि के सम्बन्ध में मालवीयजी ने कहा था—'ग्लैडस्टन ने कहा है, यह एक ऐसी भाषा है, जिसकी वर्णमाला किसी भी विदेशी को पागल बना देगी। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के फलस्वरूप मातृभाषा पर कम ध्यान दिया जाता है और ७ वर्ष की अवस्था से ही बालक अपने अध्ययन का बहुमूल्य समय विदेशी भाषा रटने में लगा देता है, जिससे वह अपनी भाषा से भी अनभिज्ञ रह जाता है और विदेशी भाषा जो अप्राकृतिक है, उसमें उसका रटा हुआ ज्ञान भी अधूरा ही रह जाता है।'[40]

राष्ट्रीय शिक्षा एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

२५ नवम्बर १९३० ई० में मालवीयजी ने विश्वविद्यालय की कार्य समिति के माध्यम से सरकार को लिखवाया कि 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय राष्ट्रीय संस्था है, यहाँ धर्म तथा नैतिकता की शिक्षा द्वारा नवयुवकों का चरित्र-निर्माण करना इसका मुख्य उद्देश्य है। देशभक्ति एक शक्तिशाली उत्कर्ष है। इसके विकास में विश्वविद्यालय का सहयोग आवश्यक है।…राष्ट्रीय आन्दोलन के समय अध्यापकों तथा विद्यार्थियों से राष्ट्रीय

लहर में प्रभावित न होने की आशा नहीं की जा सकती। मालवीयजी ने जोरदार शब्दों में कहा कि—'हमारी सरकार से यह माँग है कि प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय और कला, कृषि, शिल्प तथा व्यापार सम्बन्धी एक नवीन शिक्षा-प्रणाली का प्रचार किया जाय।'[41] राष्ट्रीय शिक्षा पर वल देते हुए मालवीयजी ने कहा था—'किसी देश के शासन में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न देश की सबसे बड़ी समस्या है।' देश में ऐसी शिक्षा-प्रणाली विकसित की जानी चाहिए, जिसमें कला, धर्म-दर्शन तथा विज्ञान और प्राविधिकी की शिक्षा का समान रूप से विकास हो सके। उक्त शिक्षा-व्यवस्था में उन्होंने राष्ट्रीयता के विकास की शिक्षा पर वल देते हुए कहा था कि सभी विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रीयता की शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जानी चाहिए। जिससे अन्य देशों की भाँति भारतीय राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो सके तथा देश में एकता स्थापित हो। इस प्रकार धर्म, दर्शन, कला-साहित्य के माध्यम से उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय शिक्षा की व्यवस्था की थी, जिसे वह स्पष्ट रूप से विकसित करना चाहते थे। मालवीयजी ने कहा था—'जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका और अन्य सभ्य देशों ने अपने स्कूलों में देशभक्ति की शिक्षा देकर, अपनी राष्ट्रीय शक्ति तथा दृढ़ता का निर्माण किया है। .. इस सम्बन्ध में जापान एक आदर्श है। वहाँ महान् क्रान्ति सन् १८६८ में हुई थी,......जापान की राष्ट्रीय सरकार ने जापान में एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया, जिसमें देशभक्ति की शिक्षा अनिवार्य थी।..... १८९० ई० में शिक्षा के विषय में एक राजकीय राजाज्ञा निकाली गयी, जिसमें जापान के सम्राट् मिकाडो ने अपनी प्रजा को राजभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति तथा विद्याप्रेम की शिक्षा दी थी और बतलाया था कि मानव धर्म तथा सद्व्यवहार का यही सुमार्ग है।... इस शिक्षा का फल यह हुआ कि देशभक्ति जापान का धर्म हो गया। इस प्रकार की शिक्षा विविध धर्म, जाति तथा वर्ग वाले भारत के लिए अतीव आवश्यक है।'[42] अंग्रेजी राज्य प्रत्यक्ष रूप से उनकी राष्ट्रीय शिक्षा की उक्त विचारधारा का विरोधी था। अतः परोक्ष रूप से धर्म, दर्शन, कला-साहित्य के माध्यम से वह उक्त शिक्षा का प्रसार कर रहे थे। परन्तु वर्तमान स्वाधीन भारत में मालवीयजी की उपर्युक्त अवधारणा के अनुसार वर्तमान काल में राष्ट्रीय शिक्षा की सबसे बड़ी आवश्यकता है। उन्होंने पराधीनता के समय ही भारतीय राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता का अनुभव किया था। इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था से लोगों के धर्म तथा जातीय तनाव में कमी आयगी।

स्त्री-शिक्षा और मालवीयजी

मालवीयजी के अनुसार—'मनुष्यों की जन्मदात्री माँ होती हैं। अतः बालक की प्रारम्भिक शिक्षा माँ से आरम्भ होती है। अस्तु, माँ के समान कोई दूसरा शिक्षक नहीं है। इसीलिए देश को जिस दिशा में ले जाना हो, उस प्रकार की शिक्षा की व्यापक व्यवस्था स्त्रियों के लिए की जानी चाहिए। स्त्री-शिक्षा द्वारा ही देश के भावी कर्णधारों का सम्यक् निर्माण सम्भव है।'

मदनमोहन मालवीय ने स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में परम्परागत रूढ़ियों द्वारा प्रच-

लित परम्पराओं के विपरीत उसकी विशेष आवश्यकता बताते हुए कहा था कि—'पुरुषों की शिक्षा से स्त्रियों की शिक्षा का अधिक महत्व है क्योंकि वे ही भारत की भावी सन्तति की माता हैं। वे हमारे भावी राजनीतिज्ञों, विद्वानों, तत्वज्ञानियों, व्यापार तथा कला-कौशल के नेताओं आदि की प्रथम शिक्षिका हैं। उनकी शिक्षा का प्रभाव भारत के भावी नागरिकों की शिक्षा पर विशेषरूप से पड़ेगा। महाभारत में कहा गया है—'माता के समान कोई शिक्षक नहीं है।'[44]

माता की शिक्षा के मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक प्रभावों का महत्व निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है। मालवीयजी यह चाहते थे कि राष्ट्र और युग की आवश्यकता के अनुसार स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय, जिससे राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार भावी नागरिकों का सहज रूप से निर्माण हो सके। स्त्री-शिक्षा के महत्व के प्रति लोगों की अन्यमनस्कता के सम्बन्ध में मालवीयजी ने कहा था कि—'हम लोग अपनी वालिकाओं को विना यह सोचे हुए कि उनकी शिक्षा से हमें किस प्रकार की शक्ति की आवश्यकता है, वही विषय पढ़ने के लिए बाध्य करते हैं, जो नवयुवकों के लिए निर्धारित किये गये हैं,[45] जबकि आवश्यकता इस वात की है कि राष्ट्र की भावी पीढ़ी की आवश्यकता के अनुसार, उसकी आपूर्ति के लिए योजनावद्ध स्त्री-शिक्षा का विकास किया जाय।

स्त्री-शिक्षा की उद्देश्य-परकता के सम्बन्ध में मालवीयजी ने कहा था कि 'हमें सर्वप्रथम उनकी (स्त्रियों की) शिक्षा का उद्देश्य सर्वसम्मति से तय करना चाहिए। हमें यह निर्णय करना चाहिए कि किस प्रकार हम अपने प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति के उत्तम ज्ञान के साथ-साथ वर्तमान साहित्य तथा विज्ञान की शिक्षा को उन तक पहुँचा सकते हैं।'[46] यहाँ हम देखते हैं कि मालवीयजी के शिक्षा की प्राचीन और आधुनिक शिक्षा के समन्वित महत्व के विचार के अनुसार स्त्री शिक्षा में भी उनका सातत्य और परिवर्तनवादी आधुनिक विचारधारा दृष्टिगोचर होती है। वह अपने मानस की इसी शिक्षापद्धति का प्रसार करना चाहते थे।

मालवीयजी के अनुसार स्त्री-शिक्षा का स्वरूप

प्राचीनता और आधुनिकता से समन्वित स्त्री-शिक्षा के स्वरूप को अपनी गतिशील और परिवर्तनवादी विचारधारा के अनुसार स्पष्ट करते हुए मालवीयजी ने कहा था कि 'हमें स्त्रियों की शिक्षा में जीव-विज्ञान, चित्र-कला, संगीत-विज्ञान आदि की शिक्षा भी, साहित्य तथा संस्कृति के उत्तम ज्ञान के साथ देनी चाहिए। देश की स्त्रियों का किस प्रकार शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान किया जा सकता हैं, ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए।'[47] इस प्रकार हम देखते हैं कि मालवीयजी की शिक्षा-नीति में स्त्रियों के विषय में शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान पर आधुनिक प्राकृतिक विज्ञानों की शिक्षा के साथ विशेष बल दिया गया है।

यद्यपि मालवीयजी युवकों की शिक्षा में भी उपर्युक्त प्राचीन तथा आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के समन्वित रूप पर बल देते हैं, तथापि वह राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार भारतीय संस्कृति और सभ्यता को जीवित रखने के लिए स्त्री-शिक्षा के सन्दर्भ में विशेष रूप से सतर्क दिखाई देते हैं और उन्होंने उनकी शिक्षा में भारतीय प्राचीन साहित्य तथा संस्कृति की शिक्षा की अनिवार्यता की सार्थकता आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा के प्रसंग में अधिक आवश्यक बतायी है। उन्होंने देश के आदर्श को सुश्रृंखल अक्षुण्णताओं, राष्ट्र की भावी आवश्यकता के अनुसार स्थायी रखना अधिक आवश्यक माना है।

मालवीयजी ने भारत की आदर्शवादी परम्पराओं में निर्भीक स्त्रियों की चर्चा करते हुए कहा था—'क्या आप चाहते हैं कि हमारे देश में सावित्री, अरुन्धती, मैत्रेयी, लीलावती और सुलभा आदि प्राचीन समय की स्त्रियों के समान विदुषी अथवा सुराज्य का प्रबन्ध करने वाली अहल्याबाई तथा झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई के समान निर्भीक सैनिक पुनः पैदा हों ? क्या आप ऐसी स्त्रियों को जन्म देना चाहते हैं, जिनमें प्राचीन तथा नवीन सभ्यता के सभी गुणों का सुन्दर संयोग हो। भारत के लिए स्वराज्य-प्राप्ति में शिक्षा का अभाव एक बहुत बड़ा रोड़ा है।'[48]

उपर्युक्त स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित अपने विचारों में उन्होंने शिक्षा द्वारा ऐसी स्त्रियों के निर्माण पर बल दिया है जो उन्हीं के शब्दों में 'प्राचीन तथा नवीन सभ्यता के सभी गुणों की सुन्दर समन्विति हों।[49] इस प्रकार मालवीयजी की शिक्षा-व्यवस्था प्रगतिशील और आधुनिक कही जा सकती है। साथ ही स्त्री-शिक्षा की प्राचीनता और आधुनिकता की समन्वयवादिता के आधार पर यह भी स्पष्ट होता है कि मालवीयजी ने स्त्री-शिक्षा के उपर्युक्त स्वरूप चित्रण में भावी भारतीय समाज-रचना की भी परिकल्पना की थी, जिसका स्वरूप उनके उपर्युक्त स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी विचारों के अनुसार भारतीय राष्ट्रवादी समाज-रचना के साथ आधुनिकता का सामंजस्य और विकासशील गतिशीलता से युक्त हो। इसके आधार पर हम पाते हैं कि मालवीयजी एक दूरदर्शी शिक्षा-शास्त्री होने के साथ ही भारतीय राष्ट्रीयता की विचारधारा शिक्षा द्वारा उत्पन्न कराना चाहते थे।

निष्कर्ष

मालवीयजी के शिक्षा के प्रति विचारों के अध्ययन में हम देखते हैं कि शिक्षा की अपनी आधुनिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की थी और साहित्य-दर्शन के साथ ही वैज्ञानिक, प्राविधिकी आदि आधुनिक विषयों के अध्यापन की विशेष व्यवस्था की थी, जो उनकी शिक्षा में परिवर्तनवादी आधुनिक विचारधारा की परिचायिका है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी शिक्षा-सम्बन्धी विचार धारा का मूर्तिमान् स्वरूप है। मालवीयजी के कथनानुसार—'काशी, हिन्दू विश्वविद्यालय आधुनिक युग का गुरुकुल है।'[50]

शिक्षा के माध्यम से वह राष्ट्रीय चेतना का एकीकरण और नव निर्माण करना

चाहते थे। उनकी स्त्री-शिक्षा-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारधारा के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि स्त्री-शिक्षा के माध्यम से आनेवाली भावी पीढ़ी की सन्तति का का इस प्रकार निर्माण चाहते थे, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से युक्त हो। वह शिक्षा के माध्यम से भारत में ऐसे 'व्यक्ति' के निर्माण के पक्षपाती थे, जो चरित्रवान् होने के साथ ही साथ आर्थिक, प्राविधिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक ज्ञान से परिपूर्ण हो। वह इस योग्य हो कि अपनी जीविका प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता हो। उसे जीविका प्राप्त करने के लिए दर-दर की ठोकरें न खानी पड़ें। मालवीयजी के अनुसार—यदि शिक्षा द्वारा इस प्रकार के 'व्यक्ति' का निर्माण नहीं होता तो वह शिक्षा निरर्थक है। उन्होंने अपने विश्वविद्यालय में आधुनिक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा-व्यवस्था के माध्यम से ऐसा प्रयास करना चाहा था, जिससे उनकी उक्त व्यवस्था लागू हो सके। इंजीनियरिंग उपकरण, कृषि फार्म, डेयरी फार्म तथा आधुनिक एवं आयुर्वेदिक औषधियों के उत्पादन के साथ ही साबुन आदि आवश्यक वस्तुओं का अधिकाधिक उत्पादन करके, छात्रों तथा विश्वविद्यालयों के माध्यम से देश और समाज की आवश्यकता की सामग्रियों की आपूर्ति भी करना चाहते थे। उनके अनुसार—इस प्रकार की व्यवस्था से अध्ययन करनेवाले छात्रों में उत्पादन और आपूर्ति की व्यवस्था द्वारा आत्मबल का विकास होगा और युवक यहीं से अपने पैरों पर खड़ा होना सीख सकेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मालवीयजी की शिक्षा-सम्बन्धी विचारधारा समाज की आपूर्ति के व्यवहार पक्ष पर आधारित है। वह शिक्षा द्वारा ऐसे चरित्रवान् 'व्यक्ति' का निर्माण करना चाहते थे, जो अपने पैरों पर खड़ा होने की क्षमता रखता हो और आजीविका की भीख माँगते हुए दर-दर की ठोकरें न खाता हो। इस सम्बन्ध में वह चाहते थे कि जिस प्रकार प्रकृति नैसर्गिक शिक्षा द्वारा भोजन करना, चलना तथा समाजीकरण द्वारा भाषा बोलना, सांस्कृतिक व्यवहार आदि करना स्वतः सिखाती है, उसी प्रकार हमें शिक्षा द्वारा यह सिखा देना चाहिए कि इस जटिल समाज में व्यक्ति अपनी आजीविका अर्जित कर सके। इसके अभाव में मालवीयजी शिक्षा और शिक्षा पर किया गया व्यय निरर्थक मानते थे। यहाँ हम देखते हैं कि मालवीयजी शिक्षा-व्यवस्था के व्यावहारिक तथा आजीविकार्जनपरक आधुनिकतम शिक्षा की व्यवस्था के पक्ष में थे। शिक्षा में आमूल परिवर्तन-सम्बन्धी उनके विचार युग की माँग के अनुसार प्रगतिशील एवं आधुनिक हैं।

सन्दर्भ

1. John Stuart Mill : quoted in Education and Sociology by Durkheim, p. 60, The Free Press Glencoe, Illinois (1959).
2. Report of the Education Commission (1964-66), p. 2.
3. S. N. Mukherjee, Education in India To-day and Tomorrow (*1964*), *p. 2.*

4. L. F. Crow and A. Crow : Introduction to Education, Printed U.S.A., New York (1965).
5. महामना मदनमोहन मालवीय : जीवन और नेतृत्व, (पूर्व उद्धृत), पृ० ६१६।
6. वही, पृ० ६१६।
7. प्रान्तीय कौंसिल में भाषण, सन् १९०७।
8. महामना पं० मदनमोहन मालवीय (पूर्व उद्धृत), खण्ड ३, पृ० ११४।
9. प्रान्तीय कौंसिल में भाषण, सन् १९०७।
10. वही, सन् १९०७।
11. महामना पं० मदनमोहन मालवीय (पूर्व उद्धृत), पृ० १०।
12. B. L. Neugarten and H. Havighurst : Society and Education Chapter II, pp. 288-465, Publication in U.S.A. Ally and Bacon, Inc. Boston 1964.
13. महामना मदनमोहन मालवीय : जीवन और नेतृत्व, (पूर्व उद्धृत), पृ० ६२३।
14. Theodore Brameld : Education As Power, p. 1086, Fawcet Publication, Inc. 67, West 44th Street, New York.
15. K. M. Kapadia, Marriage and Family in India. On Joint Family, p. 245, Oxford University Press, London (1958),
16. महामना पं० मदनमोहन मालवीय (पूर्व उद्धृत), (सम्पादित), पृ० ४१।
17. वही, पृ० १५४-१५७।
18. वही, पृ० ४२।
19. वही, पृ० ४२-४३।
20. वही, पृ० ४३।
21. वही, पृ० ७९।
22. John Stuart Mill : quoted in Education and Sociology, by Durkheim, p. 60. The Free Press Glencoe, Illinois (1959).
23. महामना पं० मदनमोहन मालवीय (पूर्व उद्धृत), पृ० ४३।
24. वही, पृ० ४३।
25. वही, पृ० ४३।
26. वही, पृ० ४३।
27. वही, पृ० ५९ (दीक्षांत भाषण १४ सितम्बर १९२९ ई०)।
28. वही, पृ० ५६।
29. वही, पृ० ५७।
30. वही, पृ० ५७।
31. वही, पृ० ५७।
32. वही, पृ० ५८।

33. वही, पृ० ४७।
34. वही, पृ० ६८।
35. वही, पृ० ५९।
36. वही, पृ० ६३।
37. वही, पृ० ६३।
38. वही, पृ० ६३।
39. वही, पृ० ६०।
40. वही, पृ० ६०।
41. वही, पृ० ६०।
42. वही, पृ० ६३।
43. वही, पृ० ६५।
44. वही, पृ० ६४।
45. वही, पृ० ६४।
46. वही, पृ० ६४।
47. वही, पृ० ६४।
48. वही, पृ० ६४।
49. वही, पृ० ६४।
50. वही, पृ० १०।

प्रारम्भिक बौद्ध संघ और काशी

डॉ० सीताराम दुबे*

प्रारम्भिक पालि वाङ्मय, विशेषकर विनय एवं सुत्तपिटक, पर आधारित प्रस्तुत शोध-पत्र, काशी में बौद्ध-संघ के प्राचीनतम इतिहास का विवेचन है। बुद्धकालीन काशी षोडस महाजनपदों में एक और कोशल राज्य के अधीन थी। बौद्ध वाङ्मय में काशी के वाणिज्य व्यापार तथा सर्वक्षेत्रीय सुख-समृद्धि के अनेक उदाहरण सुरक्षित हैं।[1] स्वतन्त्र काशी की राजधानी वाराणसी बुद्ध-युगीन छः महानगरों में एक[2] तथा तत्कालीन उत्तर भारत के शिक्षा और संस्कृति के केन्द्र के रूप में प्रख्यात थी। रोचक है कि गौतम की अध्यात्म-गवेषणा बोधगया में बोधि-प्राप्ति के साथ पूर्ण हुई, पर भववाधा से लोगों के निस्तारण सम्बन्धी करुणा-प्रसूत वेदना के कारण उन्होंने समाज को सन्मार्ग दिखाने का संकल्प लिया और धर्मदेशना के प्रथम स्थल के रूप में वाराणसी के पास अवस्थित, आधुनिक सारनाथ से समीकृत ऋषिपत्तन मृगदाव का चयन किया। यद्यपि पालि वाङ्मय में सारनाथ के प्रति इस प्रकार के आकर्षण के पीछे बोधि-प्राप्ति से पूर्व के बुद्ध के सहयोगी पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की उपस्थिति का हवाला दिया गया है,[3] जो प्रथम धर्म-देशना के लिए ज्ञान की दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति की अपेक्षा के विचार से स्वाभाविक भी है, परन्तु यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के निर्णय की पृष्ठभूमि में काशी और उसकी राजधानी वाराणसी की सुख-समृद्धि और ख्याति तथा भिक्षाचर्या की सुलभता भी रही हो। भिक्षाचर्या की सुलभता की परोक्षतः पुष्टि यहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के आवास से भी होती है।

महावग्ग[4] और मज्झिम निकाय के अरियपरियेसन सुत[5] दोनों में ही धर्म चक्र प्रवर्त्तन की घटना का किञ्चित विस्तार से उल्लेख है। ऐसा वर्णन है कि ऋषिपत्तन मृगदाव पहुँचने पर उनकी तथाकथित तपभ्रष्टता का ध्यान कर पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने पहले तो उपेक्षा करने का निश्चय किया, पर निकट आने पर उनकी धीर-गम्भीर मुद्रा से प्रभावित होकर, अपनी प्रतिज्ञा भूल कर, उनका यथोचित आदर सम्मान किया। बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को इस अवसर पर एकाधिक उपदेश दिये थे, कभी कुछ को और कभी अन्य को। परन्तु यह कहा गया है कि कौण्डिन्य को सर्वप्रथम ज्ञान मिला और क्रमशः वप्प, भद्दिय, महानाम और अश्वजित को। यह रोचक है कि विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न होने के बाद कौण्डिन्य आदि उपर्युक्त पाँचो ने बुद्ध के समक्ष प्रव्रज्या और उपसम्पदा प्राप्त करने की प्रार्थना की और बुद्ध ने उन्हें भिक्षु के रूप में ग्रहण किया।

---

*प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

ऋषिपत्तन मृगदाव में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को दिये गये उपदेश का स्वरूप यद्यपि निर्विवाद नहीं, परन्तु सुख-भोग और काय-क्लेश दोनों ही अन्तों से बचते हुए मध्यम मार्ग के अनुसरण के उपदेश के प्रारम्भिक होने के संदर्भ में विद्वान प्रायः एक मत हैं। वस्तुतः इसी को बौद्ध धर्म का सार, और पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की प्रव्रज्या के साथ ही बौद्ध संघ की स्थापना स्वीकार करनी चाहिए।

सद्धर्म में जनसामान्य को 'भिक्षु' रूप में दीक्षित करने की प्रक्रिया वाराणसी के अतिसम्पन्न श्रेष्ठी-पुत्र यश की ऋषिपत्तन में ही प्रव्रज्या से प्रारम्भ हुई। यश को बुद्ध के समान ही संवेदनशील चित्रित किया गया है और सांसारिक सुख-वैभव से खिन्न। उपलब्ध विवरण के अनुसार बुद्ध से उसकी आकस्मिक भेंट हुई, परन्तु वह उनके उपदेश से प्रभावित होकर सद्धर्म में दीक्षित हुआ तथा पञ्चवर्गीय भिक्षुओं की तरह शीघ्र ही उसने भी अर्हत्व प्राप्त किया। तत्पश्चात् उसके पिता, परिवार के अन्य सदस्य तथा मित्र धीरे-धीरे सद्धर्म में प्रविष्ट हुए। परन्तु सम्पूर्ण विवरण को सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमें भी शंका नहीं रहती कि बुद्ध ने यश और उसके परिवार के सदस्यों आदि को सद्धर्म में प्रवेश के लिए सर्वथा उपयुक्त पात्र समझा और उन्हें सद्धर्म में प्रविष्ट करने का यथा-सम्भव प्रयत्न किया। जहां एक ओर यश की भेंट आकस्मिक कही गयी है वहीं दूसरी ओर यश की खोज में आये हुए उसके पिता तत्काल अपने पुत्र को देख न सके इसके लिए बुद्ध को चमत्कार प्रदर्शित करते हुए भी दिखाया गया है।[5a] ऐसा आभास होता है कि बुद्ध न केवल यश को अपने वैराग्य के निश्चय से विचलित हुआ नहीं देखना चाहते थे; बल्कि उसी प्रकार से यश के माता-पिता, मित्र-दायाद आदि को भी सद्धर्म की ओर आकृष्ट करना चाहते थे।

बुद्ध के उपदेश एवं प्रतिभा से प्रभावित होकर पहले यशपिता उपासक बने, तद-नन्तर उन्होंने भिक्षु-संघ के साथ बुद्ध को घर पर आमन्त्रित कर भोजन कराया और उनके दानकथा, शीलकथा सम्बन्धी उपदेशों से प्रभावित हो कर यश-माता और यश की पूर्वपत्नी भी उपासिका बनीं। इनमें प्रत्येक के बुद्ध, धर्म और संघ की शरण के रूप में त्रिशरण-गमन पद्धति से उपासक बनने की चर्चा है। इसी प्रकार यश-पिता के प्रथम उपासक तथा यश-माता के प्रथम उपासिका होने का स्पष्ट उल्लेख है।[6]

यश जैसे समृद्ध व्यक्ति की संघ-दीक्षा उसके मित्रों एवं सम्बन्धियों के लिए अद्‌भुत घटना थी, अतः वे भी आकृष्ट हुए। प्रथमतः उसके चार गृही-मित्र-विमल, सुबाहु, आदि ने तथा बाद में यश के अन्य ५० मित्रों एवं सम्बन्धियों ने संघ में प्रवेश लिया। वे शीघ्र ही अर्हत बनें। इस प्रकार वाराणसी की प्रथम यात्रा में शीघ्र ही बुद्ध को ६० अर्हत अनुयायी[7] एवं अनेक गृही उपासक प्राप्त हुए।

बुद्ध ने यहीं भिक्षुओं को स्वयं की तरह मानुष-बन्धनों से मुक्त होने के लिए प्रयास करने का उपदेश दिया तथा भिन्न-भिन्न दिशाओं में अनेक लोगों के कल्याण के लिए धर्मचारिका करने के लिए उद्‌बोधन किया।[8] भिक्षुओं के माध्यम से सद्धर्म प्रचार का

यह प्रथम ठोस प्रयास था। ऋषिपत्तन मृगदाव की प्रथम यात्रा में ही बुद्ध ने भिक्षुओं को भी, एक विशेष पद्धति के तहत त्रिशरण पद्धति द्वारा, दीक्षा सम्बन्धी औपचारिकतायें पूर्ण करने का निर्देश दिया।[9]

बुद्ध ने अनुयायी भिक्षुओं के साथ वाराणसी की कई और यात्राएँ भी की जिनमें उन्हें वाञ्छित श्रद्धा सत्कार मिला। यहाँ के सुप्रिय उपासक-उपासिका[9a] की सद्धर्म-श्रद्धा विदित है। विनय पिटक के अनुसार एक बौद्ध भिक्षु के स्वास्थ्य-लाभ के लिए सुघिया ने अपना मांस तक दे दिया था, और इसी अवसर पर बुद्ध ने अपने भिक्षुओं के लिए मानव-मांस के भक्षण का निषेध किया। यहीं उन्होंने कुत्ते, घोड़े, सर्प जैसे जीव-जन्तुओं के मांस भक्षण के विरोध में भी नियम बनाया।[10] यह स्थल 500 उपासकों के साथ धम्मदिन्न के बुद्ध के दर्शन के लिए आने तथा उनके धम्मदिन्न सुत से प्रभावित होने के लिए भी महत्वपूर्ण है।[11] इस प्रकार वाराणसी में बुद्ध और उनके अनुयायियों के विभिन्न यात्राओं और उपदेशों के माध्यम से बौद्ध धर्म-संघ को बहुविध लाभसत्कार मिला और उसकी सर्वक्षेत्रीय समृद्धि हुई। स्वयं बुद्ध के समय में ही यह स्थल बौद्धों की दृष्टि से इतना महत्व प्राप्त हो गया कि आनन्द ने बुद्ध-महापरिनिर्वाण के योग्य ७ महानगरियों में से इसे भी एक कहा और बुद्ध ने बौद्ध-धर्म के चार तीर्थ स्थलों में वाराणसी की भी घोषणा की।[12]

वाराणसी-सारनाथ के अतिरिक्त काशी के अन्य कई स्थल भी बुद्ध तथा उनके अनुयायियों के अनेक उपदेश देने तथा लाभ सत्कार अर्जित करने की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इनमें मच्छिकासण्ड और कीटागिरि का विशेष स्थान है।

मच्छिकासण्ड के चित्रगृहपति का संघ के विशिष्ट सहायक के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है।[13] अचेलकस्सप को संघदीक्षार्थ-प्रोत्साहन,[14] महानाम प्रमुख भिक्षु-संघ को अम्बाटक वन का दान तथा कई बार बौद्ध भिक्षुओं को अपने यहाँ भोजन-आमन्त्रण जैसे कार्यों के लिए प्रारम्भिक पालिसाहित्य में इसकी एकाधिक चर्चा है। अध्यात्म क्षेत्र में भी इसकी प्रशंसा प्राप्त होती है।[15] इसके द्वारा मरणासन्न अवस्था में परिजनों एवं मित्रों की त्रिशरण में श्रद्धा एवं दान का निर्देश[16] सद्धर्म के स्थायित्व के प्रति श्रद्धालु उपासकों की उत्सुकता एवं आकांक्षा का प्रतीक ज्ञात होता है।

बुद्ध-चारिका, बुद्ध के आवास तथा अन्य कई दृष्टियों से काशी के कीटागिरि निगम का विशिष्ट स्थान था। अस्सजी एवं पुनब्बसु नामक दो भिक्षुओं के अनुयायी, जो यत्किञ्चित कुत्सित प्रवृत्ति के थे, सम्वासी के रूप में यहीं रहते थे। इन भिक्षुओं की एक उपासक द्वारा निन्दा करने पर बुद्ध ने सारिपुत्र और मोद्गल्यायन को उन्हें दण्डित करने के लिए भेजा था।[17] कीटागिरि में कम से कम 25-26 भिक्षुओं के एक साथ रहने योग्य एक बड़ा विहार था।[18] एक अवसर पर जब बड़े भिक्षु संघ के साथ बुद्ध यहां

आये तव अस्सजी और पुनव्वसु के अनुयायियों ने उनका तो आदर-सत्कार किया पर सारिपुत्र और मोदगल्यायन को आवास देने से इन्कार कर दिया।[19] इन्हीं भिक्षुओं के सन्दर्भ में बुद्ध ने कीटागिरि सुत का उपदेश दिया था।[20]

प्राय: निश्चित पहचान वालों में काशी के आठ भिक्षुओं, दो उपासकों तथा तीन उपासिकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है। मात्र एक भिक्षुणी का उल्लेख है, जो गणिका-वर्ग की है। भिक्षुओं में तीन ब्राह्मण वर्ग के तथा 5 वैश्य वर्ग के थे, और सभी उपासक-उपासिकायें वैश्य-गृहपति वर्ग के थे। इस प्रकार काशी के श्रद्धालुओं में अपेक्षाकृत अन्य वर्गों के वैश्य-गृहपति वर्गों का आधिक्य था। वैश्य-गृहपतियों का यह आधिपत्य सम्भवत: काशी में उनकी वहुलता के कारण था और इससे भी काशी की वहुविधि समृद्धि की पुष्टि होती है।

सन्दर्भ :

*प्रस्तुत शोध-निबन्ध सम्पूर्णानन्द वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व एवं संग्रहालय विभाग में आयोजित "काशी का इतिहास" विषयक गोष्ठी में पढ़ा जा चुका है।

1 विनय, महावग्ग, १०, २, ३; दिव्यावदान, पृ० ७३ और ९८; महावस्तु ३, २८६; संयुक्त निकाय वेलुदारेय्यसुत आदि।

2 दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत, और महासुदस्सन सुत।

3 विनय, महावग्ग, १, ५-६; मज्झिम निकाय, पासिरास सुत्त और वोधिराज-कुमार सुत्त।

4 विनय, महावग्ग, १,६।

5 मज्झिमनिकाय, पासिरास सुत्त।

5a विनय, महावग्ग १, ७।

6 वही, १, ७, १० और १, ८।

7 वही, १, ९ एवं १, १०।

8 वही, १, ११।

9 वही, १, १२।

9a विनय, चुल्लवग्ग, १०-२२ आदि।

10 विनय, महावग्ग, ६, २३ तथा ६, २३, १०।

11 संयुक्त निकाय, ५५, ५३ (धम्मदिन्न सुत्त)।

12 दीघ निकाय, महापरिनिब्बान् सुत्त।

13 संयुक्त निकाय, ४१-१ और आगे (चित्त संयुत्त; विशेषकर १६, २३ (एक पुत्रक सुत्त); अंगुत्तर निकाय, २, १२, ३; ४, १८, ६ (आयाचन सुत्त)।

14 संयुक्त निकाय, ४१, ९ (अचेलकस्सप सुत्त)।

15 अंगुत्तर निकाय, १, १४ (च, ३)।

16 संयुक्त निकाय, ४१-१० (गिलान दस्सन सुत्त)।

17 विनय, चुल्लवग्ग, ६, १३।

18 वही, ६, ११।

19 वही ६, १६।

20 मज्झिम निकाय, कीटागिरि सुत।

एक अनोखे तारे की खोज

डॉ० श्रवण कुमार तिवारी*

वैज्ञानिकों ने एक अद्वितीय अनोखे तारे की खोज का दावा किया हैं। हमारा धधकता सूरज भी तो एक तारा ही है। क्या यह अद्वितीय नहीं है? नहीं; इससे भी बड़े-बड़े अरबों सूरज इस विशाल अंतरिक्ष की सुदूर गहराइयों में जहाँ-तहाँ धूल फाँक रहे हैं। अपनी पृथ्वी और इस सौरमण्डल के विषय में भी अंतरिक्षविदों का विचार है कि इस प्रकार के और भी सौरमण्डल हो सकते हैं। किन्तु जब तक किसी अन्य की खोज नहीं होगी हमारी धरती और हमारा सौरमण्डल हमारी दृष्टि में अद्वितीय ही रहेंगे। वैसे ही वैंज्ञानिकों को जब तक किसी अन्य अनोखे तारे का पता नहीं लगेगा उनका ढूंढ़ा हुआ तारा SS433 फिलहाल अद्वितीय ही रहेगा।

यह तारा रात्रि-आकाश में "एक्विला" नामक तारा मण्डल के लगभग मध्य में स्थित है। पृथ्वी से इसकी दूरी लगभग 12,000 प्रकाशवर्ष आँकी गई है। इससे दृश्य प्रकाश तो निकलता ही है, रेडियो तरंगें तथा ×–किरणें भी उत्सर्जित होती रहती हैं। गत दो दशकों में प्रकाशिकीय खगोलज्ञों, रेडियो खगोलज्ञों तथा ×– किरण-सैटेलाइटों ने भी अलग-अलग इसकी खोज की थी किन्तु इसकी विशेषताओं पर ध्यान नहीं दिया था। क्योंकि उस समय कोई यह कल्पना ही नहीं कर सकता था कि अंतरिक्ष का विशाल तारा रेडियो तरंगें तथा साथ ही साथ × किरणें भी उत्सर्जित कर सकता है। उन दिनों अमेरिका के केज वेस्टर्न विश्वविद्यालय के दो खगोलज्ञों ब्रूस स्टीफेन्सन और निकोलस सैण्डलीक ने तारों का जो एटलस तैयार किया था उसमें इस तारे को 433 वाँ स्थान दिया गया था। इसीलिए, इसका नाम SS433 रखा गया था। किन्तु विभिन्न खगो-लज्ञों को इसकी ठीक-ठीक स्थिति निर्धारित करने में कुछ त्रुटियाँ मिलीं। अतः इस क्षेत्र के वैज्ञानिकों का ध्यान इस तारे पर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। अतएव, सन् 1978 में कनाडा, ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया के तीन शोध दलों ने अलग-अलग इसकी खोज आरंभ की, इसकी अद्वितीयता का पता लगाया और इसके रहस्यों की व्याख्या का प्रयास किया जाने लगा। तबसे यह तारा खगोल जगत में बहुत प्रसिद्ध हो गया।

जब किसी सुपरनोवा का विस्फोट होता है तो कालान्तर में वह अपने पीछे एक ध्वंशावशेष छोड़ जाता है जो रेडियो दूरबीन में एक धब्बे जैसा दिखाई देता है। वैज्ञा-निकों ने ऐसे अनेक रेडियो-धब्बों की खोज की है। इन्हीं में से एक का नाम W50 रखा गया है। रहस्यमय तारा SS433 इसी रेडियो धब्बे के केन्द्र पर पड़ता है। इससे उत्स-र्जित ×–किरणों में यह विसंगित पाई जाती है कि उनकी तीव्रता घटती-वढ़ती है।

* सह निदेशक, हिन्दी प्रकाशन समिति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सिडनी विश्वविद्यालय (आस्ट्रेलिया) के खगोलज्ञों डेविड क्लार्क तथा पाल मूर्डिन ने इस तारे के स्पेक्ट्रम का विस्तृत अध्ययन करके अनेक विस्मयकारी रहस्यों का पता लगाया है। यह देखा गया कि इसके स्पेक्ट्रम में पाई जाने वाली रेखाएँ (उत्तेजित हाइड्रोजन और हीलियम की) 30 दिनों में 700 ऐंगस्ट्राम तक विस्थापित हो गईं। इसका अर्थ यह हुआ कि डॉप्लर सिद्धान्त के मतानुसार इस तारे में उपस्थित गैसों का वेग 30 दिनों के भीतर 20,000 कि० मी० प्रति से० से बदल कर 50,000 कि० मी० प्रति से० हो गया। इस सिद्धान्त की सहायता से वैज्ञानिक यह पता लगाते हैं कि कोई खगोलीय तारा या उसमें सन्निहित द्रव्य पृथ्वी की ओर आ रहा है या उससे परे जा रहा है। यदि स्पेट्रमी रेखायें स्पेक्ट्रम के नीले क्षेत्र की ओर सरक रही हों तो इसका मतलब यह होता है कि वह तारा पृथ्वी की ओर आ रहा है और यदि स्पेक्ट्रमी रेखाओं का विस्थापन लाल क्षेत्र की ओर हो रहा हो तो तारा पृथ्वी से दूर जा रहा होगा। साथ ही विस्थापन के परिमाण से तारे की चाल भी ज्ञात हो जाती है।

अब रहस्य की बात यह है कि तारा नं० SS433 अत्यन्त तीव्र वेग से भाग रहा है फिर भी लगभग जहाँ का तहाँ पड़ा हुआ है। वह अपनी गैलेक्सी को छोड़कर बाहर नहीं जा सका है। इतनी तीव्र गति पर तारे की गैसों का तापमान भी बहुत अधिक होना चाहिए, किन्तु उसका ताप भी बहुत अधिक नहीं है। इन रहस्यों की विशद खोज में यह भी पता लगा कि तारे की स्पेक्ट्रमी रेखाओं का एक ही नहीं वरन् दो पृथक् समुदाय है, और ये दोनों (सेट) एक दूसरे से विपरीत दिशाओं में सरकते हैं। जैसे किसी दीवाल घड़ी-के दो पेन्डुलम परस्पर दो विपरीत दिशाओं में दोलन करते हैं, उसी प्रकार स्पेक्ट्रमी रेखाओं के ये दो सेट एक दूसरे के आर-पार आवर्तकालिक दोलन करते रहते हैं। यह तथ्य तो इस बात का सूचक है कि यह तारा समान आकार के दो ऐसे गैसीय खण्डों से निर्मित है जो परस्पर विपरीत प्रावस्थाओं में हैं और एक उभयनिष्ठ केन्द्र के चतुर्दिक घूम रहे हैं, इनके परिक्रमण का आवर्तकाल लगभग 164 दिन है।

इन रहस्यों से इस तारे के स्वरूप का क्या अनुमान किया जा सकता है ? इसे जुड़वाँ तारा कहना भी गलत होगा, क्योंकि इसके गैसीय घटकों की चाल का जो अनुमान किया गया है, उस द्रुत चाल पर किसी जुड़वाँ तारे का अस्तित्व ही असंभव है। कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के खगोलविद ब्रूस मार्गन का अनुमान है कि इस तारे की आकृति कुछ वैसी ही है जैसी दो ब्लेड वाले किसी सीलिंग फैन की; तारे में से दो समान आकार के गैसीय जेट परस्पर विपरीत दिशाओं में निःसृत हो रहे हैं और वे अपने पितृ पिण्ड की परिक्रमा कर रहे हैं। अनुमानतः अति तीव्र गति वाली गैसों के ये जेट किसी न्यूट्रान तारे के तल से पलायित होकर आ रहे हैं। विदित है कि न्यूट्रान तारा किसी सूपरनोवा विस्फोट का अवशेष परिणाम होता है। जिस रेडियो-पैच W50 के केन्द्र में यह अद्वितीय तारा स्थित जान पड़ता है वह किसी ऐसे ही विस्फोट का परिणाम प्रतीत होता है। गैसीय द्रव्य पदार्थ गुरुत्वाकर्षण के कारण न्यूट्रान तारे द्वारा

अपने सहगामी सामान्य तारे से आकृष्ट होता रहता है। यह न्यूट्रान तारा भी अपने अक्ष पर अति तीव्र वेग से घूर्णन करता रहता है। किन्तु SS433 के दोनों शंकु-जेट इस न्यूट्रान तारे के घूर्णन अक्ष के मन्द पुरस्सरण (164 दिन) के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

इस व्याख्या से इस अद्वितीय तारे के स्वरूप का निश्चित निर्धारण अभी नहीं होता है। शंकाएँ बनी हुई हैं। यह समझ में नहीं आता है कि न्यूट्रान तारे से एक ही प्रकार के दो जेट क्यों निकलने लगते हैं ? इस प्रकार के तारे से उत्सर्जित ऊर्जा का मान (10^{35} अर्ग प्रति से०) अप्रत्याशित रूप से अधिक है; सूर्य से प्रति से० उत्सर्जित विकीर्ण ऊर्जा से दस लाख गुना अधिक है; आखिर इतनी ऊर्जा आती कहाँ से है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए कहा जा सकता है कि इस प्रकार के तारे का जीवन-काल लगभग दस हजार वर्ष ही होता है, अतः आकाश में एक समय में इस प्रकार के केवल एक ही तारे की संभावना हो सकती है। जो भी हो, समय ही बताएगा कि आखिर बात क्या है ?

पुराणों में वर्णित सिक्के

डॉ० श्रीमती मीनालाल*

समाज के आर्थिक जीवन में सिक्कों (मुद्रा) का महत्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक संगठन का यह एक ऐसा पहलू है जिसके माध्यम से मनुष्य अपनी आवश्यकता की पूर्ति सरलता से करता है।

सभ्यता के आरम्भिक चरण में लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वस्तु-विनिमय द्वारा किया करते थे।[1] किन्तु परिस्थितिजन्य कठिनाइयों के कारण क्रमशः पशुओं, धातुओं तथा धातुओं से ही निर्मित सिक्कों का प्रचलन हुआ।

पुराणों में सिक्कों के उल्लेख प्रसंगतः ही हुये हैं। इनमें आये सिक्कों के छिटपुट उल्लेख आर्थिक संगठन में मुद्रा के समस्त पहलुओं को व्यक्त करने में असमर्थ हैं। इनके आधार पर सिक्कों के प्रचलन के विषय में थोड़ा वहुत अनुमान लगाया जा सकता है तथा अन्य ग्रन्थों के प्रमाणों से उनका विवेचन किया जा सकता है।

निष्क

पुराणों में सिक्कों के रूप में निष्क का उल्लेख सबसे महत्वपूर्ण है। वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु और मत्स्य पुराणों में निष्क के उल्लेख मिलते हैं। विष्णु पुराण में निष्क का उल्लेख द्यूतक्रीड़ा के प्रसंग में मिलता है। यहाँ कहा गया है कि रुक्मी ने द्यूतक्रीड़ा (जुवे के खेल) में बलभद्र को क्रमशः सहस्र और दस सहस्र निष्कों से हराया।[2] यद्यपि द्यूतक्रीड़ा उल्लेख अन्य पुराणों में भी है किन्तु उन पुराणों में द्यूतक्रीड़ा के साथ निष्क का उल्लेख नहीं है तथा न ही अन्य सिक्कों का उल्लेख है।[3]

वायु पुराण में निष्कों के दान और उससे प्राप्त पुण्य के महत्व का भी उल्लेख किया गया है।[4] मत्स्य पुराण के एक उल्लेख में दक्षिणा एवं शर्करात्रत के सम्बन्ध में भी निष्क का उल्लेख आया है। यहाँ कहा गया है कि शर्करासप्तमी व्रत में एक सहस्र या सौ या दस या पाँच निष्क (अपनी शक्ति के अनुसार) दान में देना चाहिये।[5] निष्क के दान के उल्लेख के साथ ही व्यवस्था भी दी गई है कि जो व्यक्ति निष्क का अपहरण करता है वह नरक में गिरता है।[6] विष्णु पुराण में गले के हार (आभूषण) के रूप में निष्क का उल्लेख है।[7] इन सभी प्रसंगों में निष्क को एक मुद्रा के रूप में मान सकते हैं।

---

* प्रवक्ता, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वायु पुराण में शिव को 'निष्काय' नाम से स्मरण किथा गया है।[8] संभवतः इसलिये कि शिव निष्क धारण करते थे। इस सम्वन्ध में ऋग्वेद[9] में उल्लिखित प्रसिद्ध उक्ति को स्मरण किया जा सकता है जिसमें रुद्र द्वारा निष्क को धारण करने की वात कही गई है। वायु पुराण के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि पुराणकार अपनी प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति वहुत सतर्क थे और किसी भी प्राचीन मान्यता का यथावत रूप में प्रतिपादन करने से ये कभी नहीं चूकते थे। अथर्व वेद एवं रामायण में भी निष्क का उल्लेख आता है।[10] मजुमदार, पुसाल्कर[11] एवं अग्रवाल[12] ने भी इसी प्रकार के मत निष्क के सम्वन्ध में व्यक्त किये हैं।

विद्वानों के मध्य यह विवाद है कि निष्क के आभूषण माना जाये या सिक्के का द्योतक। डॉ० भण्डारकर और डॉ० अलतेकर वैदिक कालीन निष्क को आभूषण और वेदोत्तरवर्ती निष्क को मुद्रा का प्रतीक मानते हैं।[13] मैकडौनेल और कीथ वैदिक साहित्य में निष्क के स्वर्ण अलंकार के रूप में प्रयोग की बात को मानते हुए भी ऋग्वेद जैसे प्राचीन समय में उसे मुद्रा का द्योतक मानते हैं क्योंकि ऋग्वेद के अनुसार एक गायक ने सौ निष्क और सो अश्वों की प्राप्ति पर समारोह किया था। अतः अलंकरण के लिये उसे शायद ही इतने अधिक निष्कों की आवश्यकता रही हो।[14]

उपरोक्त साक्ष्यों के आधार पर सारांश रूप में यह कह सकते हैं कि वायु पुराण में शिव को जो निष्काय नाम से भी स्मरण किया गया है जिसका तात्पर्य है, निष्क धारण करने वाले शिव तथा ऋग्वेद में जो निष्क शब्द शिव के आभूषण के रूप में आया हुआ है, इन उल्लेखों के आधार पर अनेक विद्वान निष्क को आभूषण ही मानते हैं सिक्का नहीं मानते। लेकिन विष्णु पुराण में निष्क की वाजी लगाकर जुआ खेलने का जो उल्लेख आया है वह निष्क को निश्चित रूप से सिक्का ही होना वताता है। निष्क किसी समय केवल आभूषण रहा हो और किसी समय सिक्का रहा हो यह बात समझ में नहीं आती। वास्तव में भारत में सिक्कों को आभूषण के रूप में धारण करने की प्रथा वर्तमान काल तक चली आ रही है लेकिन वे सिक्के केवल आभूषण ही कहे जायें और उनका सिक्के के रूप में महत्व न माना जाये यह उचित नहीं लगता। अतः कोई कारण नहीं कि वैदिक कालीन निष्क केवल आभूषण माना जाय और पुराणों का निष्क, सिक्का। वास्तव में इन विद्वानों के मन में यह कठिनाई थी कि वेद ग्रन्थ इतने प्राचीन हैं कि उस समय मुद्रा का प्रचलन नहीं माना जा सकता। लेकिन बाद के साहित्य में निश्चित रूप ने निष्क के उल्लेख सिक्के के रूप में होने के कारण यह मध्यम मार्ग अपनाया गया कि वेदों का निष्क आभूषण था और बाद में उल्लिखित निष्क सिक्का। किन्तु इस पर पूरी तरह से विश्वास नहीं किया जा सकता। इस प्रकार निष्क निश्चित रूप से एक स्वर्णमुद्रा प्रतीत होता है।[15] यद्यपि इसका उल्लेख भारमान के लिये भी हुआ है।

सुवर्ण

विष्णु और मत्स्य पुराणों में सुवर्ण का उल्लेख प्रायः दण्डस्वरूप दिये जाने के अर्थ में है।[16] गरुड़ पुराण में सुवर्ण के मुद्रापरक रूप का उल्लेख मिलता है[17] तथा सिक्के के रूप में रूपक,[18] भापक[19] और धरण के उल्लेख प्राप्त होते हैं। धरण के दो रूप निम्नलिखित है।[20] इनमें से भापक और धरण सिक्के के साथ-साथ मान के रूप में भी प्रचलित थे।

कार्षापण

कार्षापण शब्द का उल्लेख पुराणों में कई स्थानों पर आया है। मनु ने ताँबे के कार्षिकः पण अथवा कार्षापण का उल्लेख किया है।[21] अग्नि पुराण में ताँवे से निर्मित सिक्के को 'कार्षापण' नाम से अभिहित किया गया है।[22] अन्य पुराणों में कार्षापण का उल्लेख कहीं दण्ड के रूप में और कहीं दान के रूप में दिये जाने का उल्लेख है।[23] कार्षापण ताँबे के अतिरिक्त चाँदी का भी होता था।[24]

पण

पुराणों में कार्षापण के अतिरिक्त पण शब्द का उल्लेख भी सिक्के के रूप में मिलता है। कार्षापण की भाँति पण को भी अपराध के उपरान्त दण्ड के रूप में लिया जाता था।[25] इस प्रसंग में मनुस्मृति का उल्लेख अग्नि पुराण के उल्लेख से पूर्ण साम्य रखता है।[26]

मनु ने कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः''[27] कहकर कार्षिक पण को ताँवे का बताकर उसे कार्षापण नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार कार्षापण शब्द को ताँवे के सिक्कों के लिए प्रयुक्त मानना चाहिए। अतः पुराणों के कई स्थलों में जो पण शब्द के उल्लेख मिलते हैं उनसे ऐसा लगता है कि पण शब्द कार्षापण का ही संक्षिप्त रूप (नाम) रहा होगा।

कपर्दिका

इनके अतिरिक्त मत्स्य पुराण में कपर्दिका का भी उल्लेख आता है[28] जो न तो सिक्का था और न कोई भारमान, फिर भी दैनिक व्यापार में इसका प्रयोग विनिमय के माध्यम के रूप में होता था। इसका अर्थ "कौड़ी" है।[29] बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक भारत में इसका उपयोग हुआ है।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि पुराणकारों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त अत्यन्त प्रसिद्ध मुद्राओं को ही प्रसंगतः उल्लिखित किया है। इन मुद्राओं का विनियोग विशेषतः अर्थदण्ड के रूप में अथवा यज्ञीय प्रसंगों में दक्षिणा के रूप में हुआ है। अतः इनमें प्रधान मुद्रा के रूपों का ही उल्लेख किया गया है

वैसे कपर्दिका कार्षापण आदि ताँबे के छोटे सिक्कों का भी यथा स्थान उल्लेख मिलता है। मुद्राओं के सम्बन्ध में जो कुछ भी थोड़े वहुत उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं वे समाज में प्रचलित अत्यन्त सुप्रसिद्ध मान हैं। पुराणकारों द्वारा अपनी ओर से इस विषय में वहुत कुछ जोड़ा नहीं गया है। जो कुछ भी पुराने मान प्रचलित थे, चाहे वे मुद्रा के हों अथवा माप तौल के हों, उन्होंने मनुस्मृति अथवा अर्थशास्त्र आदि ग्रंथों से अपने ये मान प्रसंगतः यथावत रूप में ले लिये हैं।

सन्दर्भ :

1 अथर्व वेद में लेन देन के लिये पण और प्रतिपण शब्द का उल्लेख किया गया है। **अथर्व वेद ३।१५।४६।**

2 **विष्णु पुराण ५।२८।१३-१४।**

3 **मत्स्य पुराण २१६।८; ६।३२; १५४।५२०; विष्णु पुराण ४।४।३८।**

4 **वायु पुराण ८०।१६।**

5 **मत्स्य पु० ७७।११**

6 **वायु पुराण १०१।१६०; ब्रह्माण्ड पुराण ४।२।१६२।**

7 **भागवत पुराण १०।६९।११।**

8 दण्डि (?) भासवतकर्णाय दण्डिमुण्डाय वै नमः।
नमोर्द्ध दण्डकेशाय निष्कायविक्रताय च ॥ **वायु पु० ३०।१९०।**

9 **ऋग्वेद २।३३।१०**

10 **अथर्व० २०।१२७।३; रामायण अयोध्याकाण्ड ७०।२१**

11 मजुमदार, आर० सी० एवं पुसाल्कर, ए० डी० द्वारा सम्पादित **दि वैदिक एज** पृ० ३९४, ३९६, ४६१।

12 अग्रवाल, वी० एस० **जे० एन० एस० आई** जिल्द १८, भाग २, पृ० १४३।

13 भण्डारकर, डी० आर० : **लेक्चर्स आन एन्शेन्ट इण्डियन न्यूमिस्मेटिक्स** पृ० ४५, ४८, ५७, अलतेकर **जर्नल आफ दि न्यूमिस्मेटिक्स सोसाइटी आफ इण्डिया**, १९५३, पृ० १३, १५ (क्रमशः)

14 **ऋग्वेद १।१२६।२; वैदिक इण्डेक्स** भा० १ पृ० ५१३-१४।

15 **नारद पु० पूर्वार्द्ध ३०।५३-५४।**

16 **विष्णु पु० २।६।९; मत्स्य पु० २२७।८-९।**

17 **गरुड पुराण २।१७।३७।**

18 **गरुड पुराण १।६९।२६।**

19 वही, २।२१४। ६४-६५ द्र० **मत्स्य पु० २२७।९।**

20 **गरुड पु० १।६९। ३०-३१।**

[21] मनुस्मृति ८।१३६; याज्ञवल्क्य स्मृति; १।१६५ तु० अग्निपुराण २२७।४।

[22] ताम्रिकैः कार्षिको रामः प्रोक्तः काषार्पणो बुधैः अग्निपुराण २२७।४।

[23] मत्स्य पु० २२७।७९,९४; ब्रह्मवैवर्त पुराण ४।७।२१-२३।

[24] जरनल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी आफ इण्डिया जिल्द १९, पृ० १७७।

[25] मत्स्य पु० २२७।१८४; अग्नि पु० २२७।४-५।

[26] मनुस्मृ० ८।१३८; ८।१२०-१२१।

[27] मनुस्मृति ८।१३६ तु० अमरकोष २।९।८८।

[28] कपर्दिकानां शुक्तीनां शङ्खनांच महीपते। मत्स्य पु० ११९।११।
द्र० कान्तावाला, एस० जी० : कल्चरल हिस्ट्री फ्राम मत्स्य पुराण पृ० २५६।

[29] पंचतंत्र २।०८, आप्टे, वामन शिवरामः संस्कृत हिन्दी डिक्शनरी, पृ० २४५।

—:❀:—

रस की सुख-दुखात्मकता एवं विश्वनाथ

डा० कु० दुर्गेशनन्दिनी पाण्डेय*

सर्वविदित है कि रस विषयक अभिव्यंजना सिद्धान्त संस्कृत अलंकार शास्त्र की मौलिक देन है। भरत का रस "सिद्धान्त कदाचित् समग्र विश्वसाहित्य में इस विषय में प्रथमतम विवेचन है। उन्हीं के द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलने वाले परवर्ती आचार्यों ने सभी कविकृतियों में रस को सारभूत तत्त्व के रूप में उपस्थित किया है। सूक्ष्मदर्शी इन विचारकों की शृंखला में आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, रूय्यक से लेकर आचार्य विश्वनाथ के नाम सुप्रसिद्ध हो गये हैं। इनके द्वारा प्रतिपादित होकर रसवाद साहित्य विचार में यद्यपि सुप्रतिष्ठित हो चुका है फिर भी रसों से होने वाले आस्वाद के स्वरूप को लेकर कई प्रश्न उठते आये हैं जिनका समाधान अलग-अलग आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से किया है।

प्रथम प्रश्न यह है कि नव रसों में होने वाला अनुभव क्या समान रूप से सुखात्मक होता है या आंशिक रूप से सुख-दुःख मिश्रित अथवा पूर्णतया दुःखात्मक ही होता है। यह कहना अनावश्यक है कि जहाँ तक शृंगार, हास्य, अद्भुत और शान्त रसों का सम्बन्ध हैं, उनके आस्वाद को सुखात्मक मानने में प्रायः कोई बाधा का अनुभव नहीं होता परन्तु करुण, भयानक या बीभत्स जैसे रसों में आस्वाद का स्पष्टतः दुखात्मक होना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। कोई भी सहृदय सामाजिक करुण रस के प्रसंग में सुखानुभव करता है ऐसा कहना संगत नहीं।

इसके विपरीत प्रारम्भ से ही रसमात्र को आनन्दात्मक मानने की परम्परा चल पड़ी है जिसके मूल में उपनिषद् की "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"[1] आदि उक्तियाँ प्रमाणभूत मानी गई हैं। रसास्वाद का परिणाम सुखात्मक है या दुःखात्मक इसकी चर्चा अलंकारशास्त्रों में उपलब्ध होती है। ध्वनिवादी परम्परा के प्रायः अन्तिम महत्त्वपूर्ण समीक्षक विश्वनाथ ने इस प्रसंग में जिस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है उसका एक विश्लेषण प्रस्तुत निबन्ध का लक्ष्य है।

विश्वनाथ के समक्ष काव्य परम्परा के आचार्य आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा अन्य समीक्षकों के सिद्धान्तों के ही साथ-साथ नाट्य परम्परा के आचार्य धनंजय तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र जैसे विद्वानों के वक्तव्य या विचार उपस्थित थे और उन सबका विवेचन पूर्वक विश्वनाथ ने जो निष्कर्ष निकाला है वह निःसंदेह महत्वपूर्ण तथा विवेचनीय है।

*संस्कृत विभाग, कलासंकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

आचार्य विश्वनाथ ने सभी रसों को सुखात्मक अथवा आनन्दात्मक माना है उनका विचार है कि शृंगारादि रसों के सदृश ही करुण, भयानकादि रसों से आनन्द की प्राप्ति होती है। अभिनवगुप्त तथा नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र एवं गुणचन्द्र का विचार विश्वनाथ के सुखात्मवाद से सर्वथा पृथक है। अभिनवगुप्त प्रत्येक रस को उभयात्मक मानते हैं, अर्थात् सभी रसों में सुख तथा दुःख दोनों ही समाविष्ट हैं, परन्तु शृंगार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसों में सुख का प्राधान्य एवं दुःख का अनुवेध रहता है। रौद्र, भयानक, करुण तथा वीभत्स इन चार रसों में दुःख का प्राधान्य तथा सुख का अंशतः अनुवेध रहता है। अभिनवगुप्त ने मात्र शान्तरस को सर्वथा आनन्दात्मक रस माना है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र का मत इन दोनों ही आचार्यों से सर्वथा भिन्न है। विश्वनाथ ने सभी रसों को सुखात्मक माना है तथा अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रसों की उभयात्मक स्थिति स्वीकार की है। किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र ने रसों को दो भागों में विभक्त किया है। उनके अनुसार शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शान्त ये पांच रस सर्वथा सुखात्मक हैं और करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं।[2]

रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने अभिनवगुप्त के उभयात्मकता-सुखात्मकतावाद तथा रसों के सुख-दुखात्मकतावाद एवं समस्त रसों के सुखात्मकतावाद का खण्डन भी किया है।

रामचन्द्र, गुणचन्द्र ने समस्त रसों की सुखात्मकता का खण्डन करते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि जो लोग सभी रसों को सुखात्मक मानते हैं उनके पक्ष से यह माना जा सकता है कि जिस प्रकार लोक में विरही एवं शोक में व्याकुल लोगों के सामने कारुणिक प्रसंगों का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख एवं सान्त्वना मिलती है, इसी प्रकार काव्य, नाट्यगत करुण, भयानक आदि रसों से सान्त्वनापरक सुख-प्राप्ति की दृष्टि से इन्हें सुखात्मक कह सकते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति यह नहीं है। इनके द्वारा सहृदयों में उद्वेग की स्थिति आती है जबकि सुखास्वाद की स्थिति में उद्वेग नहीं होता है।[3]

इसके अतिरिक्त कवि लोग काव्य नाट्य में लोक व्यवहार का वास्तविक चित्रण करते हैं तथा सांसारिक सुख, दुःख को उसी रूप में प्रस्तुत करते हैं। अतः विरही राम, सीता आदि अनुकार्यों की करुण स्थितियाँ निःसन्देह दुःख पहुँचाती हैं। यदि उनके काव्य नाट्यगत अनुकरण को सुखात्मक माना जाय तो यह अनुकरण यथार्थ नहीं होगा; क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति के विपरीत रहेगा।[4]

करुण दृश्यों के प्रसंग में नाट्यदर्पणकार का कथन है कि ऐसे प्रसंगों में सभी को सुखास्वाद नहीं होता अपितु दुःखी जनों को भी जो सुखास्वाद की प्रतीति होती है, मूलतः वह भी दुःखास्वाद ही है; क्योंकि यदि वही व्यक्ति दुःखपूर्ण सहानुभूतिपरक बातचीत से सुख अनुभव करता है, तो आनन्दात्मक संवाद से सुख का अनुभव न करके

उद्विग्न ही होता है। अतः रसों के सुखास्वाद के विषय में उक्त सहानुभूतिपरक तर्क संतोषप्रद तथा स्वीकार्य नहीं। वस्तुतः करुणादि रस दुःखात्मक ही हैं।[5]

रसों के सुखास्वाद के विषय में नाटचदर्पणकार यह स्वीकार करते हैं कि कवि के सुव्यवस्थित एवं मार्मिक निरूपण अथवा नट के सुन्दर अभिनय का सहृदय आस्वाद करता है। सहृदय सामाजिक करुण भयानकादि रसों से युक्त काव्य, नाटच से जो आनन्द प्राप्त करता है उन काव्यों के अध्ययन अथवा दृश्यों के दर्शन में वह प्रवृत्त होता है, अन्यथा ये रस तो दुःखात्मक ही होते हैं—

"यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वाविरामे सीतयथावस्थितवस्तु प्रदर्शकेन कविनटशक्तिकोशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापिप्रहारकुशलेन वैरिणा गौराडीर-मानिनः। अनेनैव च सर्वाङ्गह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमा-नन्दरूपतां दुःखात्मकेऽवपिकरुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते।[6]

इस प्रकार नाटचदर्पणकार ने लोक व्यवहार तथा कवि-कृति में कोई भेद नहीं माना है। लोक व्यवहार एवं काव्य दोनों ही पृथक्-पृथक् हैं। किन्तु नाटचदर्पणकार ने इन दोनों को एक ही धरातल पर अवस्थित किया है। इसके विपरीत विश्वनाथ का मत सर्वथा युक्तियुक्त एवं स्तुत्य है। उन्होंने सभी रसों को आनन्दात्मक माना है। वस्तुस्थिति भी यही है कि सभी रसों से लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति होती है।

इस प्रसंग में विश्वनाथ का कथन है कि यदि करुणादि रस सुखात्मक न होते तो सहृदय सामाजिक की इसमें प्रवृत्ति न होती। करुणादि रस शृंगारादि रसों के सदृश ही आनन्द प्रदान करते हैं, क्योंकि सहृदय सामाजिक उतने ही उत्साह से इन रसों में प्रवृत्त होते हैं, जितना ऋृंगारादि रसों में तल्लीन होकर आनन्दानुभूति करते हैं। अतः करुणादि रसों की सुखात्मकता में सहृदयों की चर्वणा ही प्रमाण है।[7]

करुणादि रसों की सुखात्मकता के पक्ष में विश्वनाथ की युक्ति सर्वथा तर्कसम्मत एवं प्रशंसनीय है। यदि करुणादि से दुःखप्राप्ति मान ली जाय तब तो करुण रस प्रधान रामायणादि विख्यात काव्य को भी दुःखात्मक ही मानना पड़ेगा।[8] जबकि इन ग्रन्थों के अध्ययन से रसात्मक आनन्दानुभूति होती है। अतः करुणादि रसों को दुःखात्मक कहना उचित नहीं है।

इस प्रसंग में दशरूपककार का कथन भी अवेक्षणीय है उन्होंने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में यह तर्क प्रस्तुत किया है कि शृंगारादि रसों की आनन्दात्मकता तो निःसंदिग्ध है, साथ ही करुण रस का आनन्दात्मक होना भी स्वयं-सिद्ध है। इनके मत में काव्य का "करुण" तो रस है किन्तु लोक का "करुण" रस नहीं है। यही प्रमुख कारण है कि रामायणादि करुण रस प्रधान काव्यों के प्रति लोगों का आकर्षण एवं प्रवृत्ति लक्षित होती है। काव्यगत "करुण" के दर्शन से जो अश्रु प्रवाहित

होता है वह आनन्दात्मक होता है। इस प्रकार सहृदय सामाजिकों का अनुभव ही करुण रस की सुखात्मकता में प्रमाण है।[9]

उल्लेखनीय है कि करुण रस का स्थायिभाव शोक है, जिससे दुःखोत्पत्ति होती है। किन्तु काव्य, नाट्य में जो शोक वर्णित अथवा प्रदर्शित किया जाता है उससे सुख की प्राप्ति होती है। इस विषय में विश्वनाथ ने लोकगत दुःख तथा हर्ष से काव्यगत दुःख हर्ष का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि शोक तथा हर्ष का लौकिक कारणों से दैनन्दिन जीवन में महत्व भले ही हो, किन्तु लोक-जीवन में उन्हीं हर्ष तथा विषाद एवं उनके उन्हीं कारणों का जब काव्य में वर्णन अथवा नाट्य में प्रदर्शन होता है तो वे सहृदय सामाजिक के हृदय की शोकादि वासनाओं को उद्‌बुद्ध करने लगते हैं उनसे अलौकिक सुख तथा आनन्द की सृष्टि होती है। क्योंकि लौकिक-व्यवहार से काव्य-जगत विलक्षण है। इसलिए लोकगत शोक तथा हर्ष और काव्यगत शोक एवं हर्ष दोनों एक समान नहीं हैं--

"लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयोजायन्ते" इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्य पुनः "सर्वेम्यो पिविभावादिभ्यः सुखमेव जायते" इति नियमान्न कश्चिद्दोषः।[10]

विश्वनाथ ने अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि लौकिक जीवन की दृष्टि से तो रामवनवासादि की घटनाएँ दुःखप्रद होती हैं, परन्तु काव्य नाट्य में आकर ये सुखप्रद हो जाती हैं। काव्य-जगत में लोक का परिवर्तन इसलिए होता है कि लोक में तो वनवासादि की घटनाएँ दुख का कारण होती हैं किन्तु काव्यनाटच में आते ही इनमें "विभावन" व्यापार का संचार होता है जिससे सहृदय सामाजिक अपनी शोक-वासना की अलौकिक आनन्दात्मक अनुभूति करता है। काव्य में ये अलौकिक शब्द "विभाव" आदि से अभिहित होते हैं।

करुण रस की सुखात्मकता के विषय में विश्वनाथ का कथन है कि करुण रस प्रधान नाटच जैसे हरिश्चन्द्र आदि के चरित्र के दर्शन से अथवा श्रवण से सामाजिकों को जो अश्रुपात होता है वह आनन्दात्मक ही होता है जिस प्रकार लोक में हृदय-विदारक दृश्य को सुनने अथवा देखने से लोगों का हृदय पिघल जाता है एवं नेत्रों से दुखाश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। उसी प्रकार काव्य, नाट्यगत करुण दृश्य को देखने अथवा सुनने से भी सहृदय सामाजिक का हृदय द्रवित हो जाता है फलस्वरूप आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगता है।

इस प्रकार रसों की आस्वादातमकता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि श्रृंगार, करुण आदि सभी रसों में रति, शोकादि सभी स्थायिभाव जब तक विभावादि के संयोग द्वारा रस रूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नहीं होते हैं, तब तक उनसे लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है, अर्थात् स्थायीभाव अनभिव्यक्त अवस्था में वह

केवल लौकिक सुख अथवा दुःख का कारण बनता है। किन्तु अभिव्यक्त अवस्था में वह केवल अलौकिक सुख का ही कारण बनता है।

अवेक्षणीय है कि लौकिक कारण, कार्य तथा सहकारी काव्य में क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं, इस प्रकार ये लौकिक धरातल से उठकर लोकोत्तरता के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।[11] यही कारण है कि लौकिक शोक हर्षादि कारणों से लौकिक शोक हर्षादि उत्पन्न होते हैं, किन्तु काव्य, नाट्य में तो विभावादि अलौकिक कारणों से दोनों ही स्थितियों में लोकोत्तर आनन्द की ही प्राप्ति होती है।

भयानक, करुणादि रसों की अपनी परिणति में सुखात्मकता स्वीकार करने के लिए विश्वनाथ ने साधारणीकरण प्रक्रिया का उल्लेख किया है। इसी साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा ही सहृदय सामाजिक विशेष से सामान्य भावभूमि पर अवतरित होता है। उसका भय अथवा शोक देश विशेष अथवा काल विशेष के बन्धन से मुक्त हो जाता है। परिणामतः काव्य अयवा नाटचगत पात्र अपना विशिष्ट व्यक्तित्व खोकर सामान्य मानव मात्र बन जाता है।[12] सहृदय सामाजिक स्वकीय एवं परकीय की सीमाओं से रहित हो जाता है।

अतः इस परिस्थिति में सहृदय सामाजिक के लिए न तो श्रृंगारादि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति ही स्वीकार की जा सकती है और न करुण, भयानकादि रसों में द्वारा लौकिक दुःखानुभूति। यह अवस्था दोनों प्रकार के रसों में अलौकिक रूप सुखात्मक ही होती है। इस प्रकार रस की अनभिव्यक्त स्थिति में सामाजिक करुणादि रसों से शोकादिजन्य दुःख का अनुभव करता है तथा रसाभिव्यक्ति की अवस्था में अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

निष्कर्षतः रसों की सुखात्मकता तथा दुखात्मकता के विषय में विश्वनाथ का मत सर्वथा तार्किक एवं सारगर्भित है। अतः श्रृंगारादि रसों के सदृश ही करुण, भयानकादि रस अन्ततः अपने परिपाक रूप में दुःखात्मक नहीं अपितु सुखात्मक ही होते हैं। यह सुख अथवा आनन्द लौकिक न होकर अलौकिक होता है।

सन्दर्भ :

1. द्रष्टव्यतैतयिरीय उपनिषद् पृ० ५१०।
2. तत्रेष्टविभावादिग्रथितस्वरूपसम्पत्तयः श्रृंगार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मनः करुण-रौद्र-वीभत्स-भयानकाश्चत्वारो दुःखात्मनः। नाटचदर्पण, पृ० २९०

3. द्रष्टव्य नाटचदर्पण, पृ० २९१ ।
4. " " पृ० २९१-२९२ ।
5. " " पृ० २९१-२९२ ।
6. " " पृ० २९१ ।
7. करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किंच तेषु यदा दुःखं न कोपि स्यात्तदुन्मुखः ॥

साहित्यदर्पण ३।४,५

8. करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसंगः स्यात् ।

साहित्यदर्पण, पृ० ५२

9. द्रष्टव्य दशरूपक, पृ० २८८ ।
10. साहित्यदर्पण, पृ० ५३ ।
11, तत्र सीतादिशब्दाः परित्यक्तजनकतनयादि विशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः ।

दशरूपक पृ० ४।४०

12. वही, दशरूपक पृ० ४-४० ।

प्रकृतिप्रत्यययोः सम्बन्धविमर्शः

चक्रवर्ती रामाधीन चतुर्वेदी*

व्याकरणं वै पदशास्त्रम्, तच्च प्रकृतिप्रत्ययात्मकमिति प्रसिद्धम्। पदञ्च प्रकृतिप्रत्ययसम्वन्धमन्तरा नोपलभ्यते। अत एव शास्त्रकृद्भिः "सुप्तिङन्तं पदम्"[1] "विभक्त्यन्तं पदम्[2]" "ते विभक्त्यन्ताः पदमि"[3] त्यादिसूत्रैः पदस्वरूपं निर्धारितम्। तत्र विभक्तिपदेनापि सुप्तिङ्प्रत्ययावेव गृह्यते। एतौ च सुप्तिङ्प्रत्याहाररूपप्रत्ययौ प्रकृतिपरावेव भवतः। तस्मात् प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यरूपसम्बन्धोऽवगम्यते। तथा चाह महर्षिपतञ्जलिः—"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः"[4] इति। एतेन प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यरूपसम्बन्धः परिपुष्यति। उदाहरणमत्र तावत् प्रकृतिप्रत्ययशब्दावेवानुग्रहणन्तु। तत्र प्रोपसर्गककृञ् धातुः प्रकृतिः, क्तिच् प्रत्ययः तदनु सुप्रत्ययश्चेति प्रकृतिपदव्याकृतावेते सम्मिलन्ति। तथा प्रत्ययपदमपि प्रत्युपसर्गादिण् धातोरपि प्रत्यये सति निष्पद्यते। एवं प्रतिपदं तत् साहचर्यमवगन्तव्यम्।

यत्र तु मधु, दधि, लिट्, अहद् प्रभृतिपदेषु प्रकृतय एव दृश्यन्ते न प्रत्ययाः, एवमधुना, इयान्, व्यतिसे इत्यादिषु प्रत्यया एव श्रूयन्ते न च प्रकृतयः। तत्कथं प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यं नित्यमिति न भ्रमितव्यम्, प्रकृतिप्रत्ययसम्वन्धस्यात्राप्यनुमानात्। अत एव महर्षिपतञ्जलिः पुनः प्राह—"प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययञ्च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्ये"[5]ति। ततो मधु, दधि, लिट् पदेषु सुप्रत्ययस्य, अहन् इत्यत्र च तिप् प्रत्ययस्य स्वरूपतोऽदर्शनं भवति, नार्थत इति शब्दस्वभावसिद्धमिदं बोध्यम्। एवमधुना, इयान्, व्यतिसे इत्यादावपि इदमस्प्रकृत्योः शब्दतः दर्शनाभावेऽपि अर्थतः तत्स्वरूपमनुमातुं शक्यम्। अस्तु!

स एष प्रकृतिप्रत्ययसम्वन्धिसाहचर्यरूपसम्बन्धनो न केवलं पचति, पाचकप्रभृतिव्युत्पन्नपदेष्वेव प्रतिभाति, अपि तु मणिनूपुराद्यव्युत्पन्नपदेषु चह्वानूनमेवादिनिपातपदेषु, तथा प्रपरापसमाद्युपसर्गपदेष्वपि सुप्प्रत्ययद्वारा स सम्बन्धो भासत एव, नो चेत् तेषां पदत्वमेव न सेत्स्यति, सुप् तिङन्तं पदमिति पदलक्षणस्य जागरूकत्वात्। तस्मान्मणिनूपुरप्रभृतिपदेषु सुप्प्रत्याहारघटितैकविंशतिप्रत्ययानां संसर्गः श्रवणपथमागच्छति। निपातोपसर्गसंज्ञकपदसम्वन्धिसुप्प्रत्ययस्य तु तत्रादर्शनमेव तत्स्वभावसिद्धम्, यतो हि निपातोपसर्गसंज्ञकपदान्यव्ययपदमर्हन्ति।

अव्ययपदस्वरूपञ्च—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्[6]॥

---

*रीडर, व्याकरण विभाग संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्काय, का० हि० वि० वि०

इत्येवं रूपेण विख्यातमस्ति। अत एव तत्र सुप्प्रत्ययस्यादर्शनम् "अव्ययादाप् सुपः"[7] इति सूत्रेणानुशास्ति महर्षिपाणिनिरपि। यदि तत्राव्ययसंज्ञकपदेषु सुप्प्रत्ययस्य सम्बन्धो न भवेत् तदा तत्सम्बन्धिप्रत्ययादर्शनानुशासनमनर्थकं स्यात्। अभावज्ञाने च प्रतियोगिज्ञानमावश्यकमस्ति। तस्मात् सर्वत्र नामाख्यातोपसर्गनिपातरूपचतुर्विधपदेषु प्रकृतिप्रत्यययोरविनाभावसम्बन्धः स्वीकार्यः।

महाभाष्यकारात् पूर्वं वार्तिककारः कात्यायनमुनिरपि प्रकृतिप्रत्यययोः सम्बन्धमधिकृत्य "अर्थवत्" सूत्रविवेचनप्रसङ्गे स्पष्टमुक्तवान् यत्—"प्रत्ययेन नित्यसम्बन्धात् केवलस्याप्रयोग"[8] इति। महाभाष्यकृता च "नित्यसम्बन्धावेतावर्थौ प्रकृतिः प्रत्यय इति प्रत्ययेन नित्यसम्बन्धात् केवलस्य प्रयोगो न भविष्यतीति व्याख्यातम्। महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमेण धीमता नागेशभट्टेन चात्र "नित्यसम्बन्धावि"ति भाष्यप्रतीकमादाय "मायेश्वरवदिति भाव" इत्युक्तमुद्द्योत। एतावता मायेश्वरयोः परस्पर यथा नित्यसम्बन्धः, तथैवात्र प्रकृतिप्रत्यययोरपि सम्बन्धो नित्य इति निश्चीयते।

तथा चेह पदशास्त्रस्यैष प्रकृतिप्रत्यययोः सम्बन्धः सांख्यदर्शनस्य प्रकृतिपुरुषसम्बन्धमनुवदतीति शक्यते वक्तुम्। यतो हि सांख्यदर्शने जगदिदं प्रकृतिपुरुषयोः सम्बन्धादेव जायत इति सिद्धान्तितम्। तत्र यद्यपि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तः।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः[9] ॥

इति कारिकया चेतनरूपपुरुषे प्रकृतित्वं विकृतित्वञ्च निषिद्धं, पुनरपि जगन्निर्मितौ प्रकृत्या सह पुरुषस्य साक्षित्वरूपसम्बन्धो भात्येव, यतः पुरुषस्य साक्षित्वरूपसम्बन्धाधारेणैव प्रकृतिर्जगद्रूपेण परिणमते। न हि पुरुषप्रकाशमन्तरा जडीभूता प्रकृतिः किमपि कर्त्तुं प्रभवति। एवं पुरुषोऽपि प्रकृतिं विना न स्पन्दते, यतो हि बोधे बोधकत्वं तदा सङ्गच्छते यदा बोध्येन सार्द्धं तस्य सम्बन्धः स्यात्, नो चेत् स बोधः पङ्गुरिवास्ते। तस्माल्लोके यथा लोचनविहीनस्य जनस्य यदि कश्चन पङ्गुरपि द्रष्टा सहायको भवति तदा स पङ्गुः तस्यान्धस्य स्कन्धमारुह्य मार्गं दर्शयति, येनान्धः स्वाभिलषितं पदं प्राप्नोति। पङ्गोश्च द्रष्टृत्वं सफलं भवति। तथैव प्रकृतिपुरुषयोः सम्बन्धसद्भावाज्जगदिदं जायत इति सांख्यदर्शनपद्धतिः।

एवं व्याकरणदर्शनेऽपि प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यरूपनित्यसम्बन्धादेव सर्वाणि पदानि सिद्ध्यन्ति।

तथा चोक्तमभियुक्तैरपि—

न तदस्ति पदं लोके प्रत्ययमन्तरेण यत्।
प्रत्ययानुगमादेव प्रकृतिर्लभते पदम्॥ इति।

अपि च सांख्यदर्शनं सत्कार्यवादमङ्गीकरोति, अर्थात् सत एव सर्वं प्रादुर्भवति नासतः। यथा—वटबीजे सूक्ष्मरूपेण प्रवर्तमान एव वटवृक्षः, यथासमयं स्वनिमित्तकारण-

मवाप्य स्थूलरूपेण परिणमते, यथा च तिलेषु सन्नेव स्नेहो जनैर्लभ्यते निष्पीडनैः। सिकतासु तु स्नेहाभावात् कथमपि स नोपलभ्यत इति प्रकृतिसिद्धः सिद्धान्तः। एवं पदमपि सर्वं प्रकृतिप्रत्ययात्मभूतं सद् व्याकरणशास्त्रेणात्र इयं प्रकृतिः, अयञ्च प्रत्यय इति विविच्यते। अत एव यथा सांख्यदर्शनमनुसृत्य प्रकृतिपुरुषसम्बन्धविवेकात् परमपुरुषार्थरूपमोक्षस्योपलब्धिर्भवति, तथैव प्रकृतिप्रत्ययात्मकपदशास्त्रस्य व्याकरणादपि मोक्षाप्तिः सुतरां सिद्धयति। तथा चोक्तं व्याकरणशास्त्रमभिलक्ष्य भर्तृहरिणा—

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥ इति।

तदित्थमिह जगन्निर्मितौ सांख्यदर्शनप्रतिपाद्यप्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धवत् पदनिष्पत्तौ प्रकृतिप्रत्यययोरविनाभावरूपसम्बन्धोऽपि सर्वथा सफल इति ध्येयम्।

सन्दर्भाः :

1. पा० सू० ४।१।२।
2. नाटयशास्त्र १५।३३।
3. न्यायदर्शन सू० २।२।६०।
4. म० भा० १।२।६४।
5. म० भा० ३।३।१।
6, सि० कौ० अव्यय प्र०।
7. पा० सू० २।४।८२।
8. म० भा० १।२।४५।
9. सांख्यकारिका श्लोक ३।
10. वाक्यपदीय १।१६।

वैदिक संहिता काल में आवास-निवेश

नन्दिनी मेहता*

आवास निवेश किसी भी संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह सर्वमान्य है कि आवासों का निर्माण एवं उनका स्वरूप उनके निर्माताओं की आवश्यकताओं एवं चतुर्दिक पर्यावरण पर आधारित होता है। इसके अतिरिक्त निर्माण हेतु उपलब्ध सामग्री एवं संस्कृतियों का तकनीकी स्तर भी आवास-निवेश को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं। वैदिक संहिताओं से इस विषय से संबंधित सामग्री सीमित परिमाण में ही उपलब्ध है। हमें केवल ग्राम, गृह या पुर जैसे कुछ शब्दों के रूप में ही सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन शब्दों को तत्कालीन पर्यावरण तथा सामाजिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है।

वैदिक संहिताएँ आर्यन संस्कृति की जानकारी हेतु प्राचीनतम लिखित प्रमाण हैं। इस दृष्टि से इनका ऐतिहासिक महत्व समस्त विश्व में स्वीकार किया जाता है। मूल संहिताएँ ऋक्, यजु, साम एवं अथर्व केवल चार ही हैं, किन्तु कालान्तर में कुछ उपशाखाओं का उदय हुआ जिन्होंने भिन्न संहिताओं का निर्माण किया। वाजसनेयि, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक आदि संहिताएँ इनका प्रमाण हैं। यों तो वैदिक संहिताओं के काल को लेकर विद्वानों के मध्य अत्यधिक मतभेद है तथापि इस संदर्भ में जर्मन विद्वान विन्टरनित्स[1] का मत अपेक्षाकृत अधिक तर्कसंगत स्वीकार किया जाता है।

इसी को आधार मानकर संहिताओं का काल लगभग द्वितीय सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व निर्धारित किया जा सकता है। यह तो सर्वविदित है कि ऋग्वेद संहिता अन्य वैदिक संहिताओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

अबतक अधिकांश विद्वानों की प्रायः यही धारणा रही है कि आरम्भिक वैदिक संस्कृति का आर्थिक मूल आधार पशुपालन था और कालान्तर में इसके अतिरिक्त कृषि भी जीवनयापन का मुख्य साधन बन गई। जीवन यापन की इन मौलिक आवश्यकताओं को देखते हुए यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैदिक आर्यों ने उन्हीं स्थलों को निवास के लिए चुना होगा जहाँ इन दोनों से संबंधित सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसका तात्पर्य यह है कि ऐसे समतल कृषियोग्य स्थलों को ही निवास निमित्त चुना गया होगा जिसमें पर्याप्त वर्षा होती हो अथवा नदी, झील या तालाब का जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। इस प्रकार के पर्यावरण में न तो चरागाहों का अभाव होगा और न ही ऐसे जंगलों का जिनमें आखेट योग्य पशु काफी संख्या में उपलब्ध हों।

संहिताओं में आखेट के उल्लेख स्पष्ट करते हैं कि यह न केवल एक मनोविनोद

*शोध छात्रा, प्रा० भा० इ० सं० एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

का साधन था वरन वैदिक अर्थव्यवस्था का भी एक महत्वपूर्ण अंग था। इसी प्रकार ऐसे भी उल्लेख हैं, जिनमें पशुओं के "चरागाह" (व्रजम्) एवं "गोष्ठ" (गायों के खड़े होने का स्थान) है।[2] वैदिक मंत्रों में इन्द्र, वरुण आदि देवताओं से वर्षा की प्रार्थना की गई है,[3] इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि कभी-कभी वैदिक आर्यों के निवास क्षेत्र में पर्याप्त वर्षा नहीं होती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि जलवायु लगभग उसी प्रकार की थी जैसी उत्तरी भारत के मैदानी क्षेत्रों में वर्तमान समय में होती है।

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है वैदिक संस्कृति संहिताकाल में पशुपालन एवं सीमित कृषि पर आधारित थी। ऐसी स्थिति में छोटी-छोटी बस्तियों का यत्र-तत्र विद्यमान होना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। संहिताओं का ग्राम (मन्+ग्रस्) शब्द इन्हीं का द्योतक है। नगरों के विकास के लिए, जैसा कि आज समझा जाता है, विकसित उद्योग, समुचित व्यापार व्यवस्था एवं सुव्यवस्थित राजनैतिक प्रणाली का होना आवश्यक है। इनके अभाव में हम नगरों के अस्तित्व की कल्पना नहीं कर सकते। संहिताओं का 'पुर" शब्द स्वाभाविक रूप से नगरों का न होकर अन्य सुरक्षा संबंधी निर्माण का द्योतक प्रतीत होता है। यही बात "दुर्ग" के संबंध में कही जा सकती है। गाँवों में निवास निमित्त विविध आवश्यकताओं के अनुरूप "गृह" निर्मित किये जाते थे। आवास-निवेश से संबंधित निम्न शब्द व इनसे मिलते-जुलते अन्य शब्द ही हमें उपलब्ध हैं। इन्हीं की व्याख्या व इनसे सबंधित विवेचना निम्नलिखित पृष्ठों में की जा रही है।

ग्राम :

"ग्राम" शब्द वैदिक संहिताओं में बहुधा मिलता है,[4] जिसका आशय "गाँव" ही लगाया जाता है। किन्तु इसका निश्चित स्वरूप क्या था—यह कह सकना कठिन है। विभिन्न वैदिक सन्दर्भो को देखते हुए एक बात अवश्य स्पष्ट होती है कि गांव मनुष्यों के समूह थे,[5] किन्तु एक गांव मे किसी एक परिवार का ही निवास था किंवा किसी निश्चित व्यवसाय के ही लोग रहते थे, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं है।

किसी संस्कृति में गाँवों का स्वरूप तत्कालीन पर्यावरण व आर्थिक व्यवस्था पर ही विशेष रूप से आधारित होता है। पर्याप्त पर्यावरण संबधी सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इस संदर्भ में अथर्ववेद संहिता[6] का एक मन्त्र महत्वपूर्ण जान पड़ता है। इसकी पहली पंक्ति में समुद्र का उल्लेख है और दूसरी पंक्ति में घरों के जल के मध्य स्थित होने की चर्चा है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्राम निवेश के लिए जल की समीपता एक प्रमुख पर्यावरण संबंधी आवश्यकता थी। जहाँ तक मूल आर्थिक व्यवस्था का प्रश्न है ऋग्वेद व अन्य संहिताओं द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य भिन्न प्रतीत होता है। ऋग्वेदिक समाज पशुपालकों का था, परन्तु कृषि का आविर्भाव हो चुका था[7]। ऐसी स्थिति में हम बड़े गाँवों की कल्पना नहीं कर सकते। रथकार, कुलाल, कर्मार आदि व्यावसायिकों के नाम इस ओर संकेत करते हैं कि प्रत्येक गांव दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में आत्मनिर्भर था। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि गाँवों की जनसंख्या मिली-जुली

थी और उनमें सभी सामाजिक एवं आर्थिक वर्गों के लोग निवास करते थे। परवर्ती संहिताओं से यह स्पष्ट है कि पशुपालन के अतिरिक्त कृषि भी आर्थिक व्यवस्था का एक प्रमुख आधार बन चुकी थी। साथ-ही-साथ विभिन्न उद्योगों के विकास की भी कल्पना की जा सकती है। इस काल में विभिन्न धातुओं के प्रयोग से भी इस निष्कर्ष का समर्थन होता है।[8] संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कृषि एवं उद्योगों के विकास के साथ ही साथ ग्रामीण जीवन में एक बड़ी सीमा तक स्थिरता आ गई होगी। यह आर्थिक स्थिरता जनसंख्या वृद्धि में भी सहायक हुई होगी। इन सभी परिस्थितियों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि इस काल के ग्राम न केवल पूर्वकाल की अपेक्षा बड़े होंगे वरन् समृद्ध भी रहे होंगे।

ऐसा संभव है कि जंगली जानवरों से सुरक्षा के लिए गाँव जंगल से कुछ दूर ही बसाये जाते रहे होंगे। वैदिक संहिताओं में गाँवों को चारों ओ चारों ओर किसी चहार दिवारी द्वारा घेरे जाने का संकेत नहीं मिलता है।

गृह :

संहिताओं में गृह के अर्थ में अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मुख्य रूप से गृह, प्रतिमित, छदिस या छर्दिस, दम, दुर, दुरोण, दुर्य, उपमित, पस्त्या, शाला, इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। अधिकांश स्थलों पर केवल शब्द मात्र ही प्राप्त होते हैं और इन सन्दर्भों से घर के स्वरूप इत्यादि पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि गृह के लिए प्रयुक्त विभिन्न शब्दों में से अनेक घर की कुछ विशेषताओं की ओर संकेत करते हैं यथा—उपमित (इसका एक अर्थ स्तम्भ भी है)[9]। छदिस (इसका एक अर्थ घर का छाजन भी है)[10] एवं त्रिवरूथ (तीन खण्डों वाला मकान)[11] परन्तु प्रत्येक शब्द के सन्दर्भ में इस प्रकार की व्याख्या सम्भव नहीं प्रतीत होती। जिन शब्दों की व्याख्या की जा सकती है या जहाँ उल्लेख अतेक्षाकृत स्पष्ट है—ऐसे स्थलों के आधार पर ही निम्नलिखित पृष्ठों में संहिताओं में उल्लिखित गृहों का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्य किया गया है।

विभिन्न वैदिक सन्दर्भों से एक बात स्पष्ट होती है कि इस काल के घर सुख समृद्धि के केन्द्र थे। ऋग्वेद के एक स्थल पर ऋषि द्वारा अग्नि से प्रत्येक घर में सात प्रकार के रत्नों को प्रदान करने की कामना की गई है।[12] सायण भाष्य से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[13] इसी प्रकार संहिताओं में कवि बार-बार विभिन्न देवी-देवताओं से प्रार्थना करते है कि वे उनके घरों को गाय, अन्न, धन व पुत्र पौत्रों से परिपूर्ण करें।[14] इसी प्रकार स्वगृह निवासी को भी कभी-कमी सुखी व तृप्त व्यक्ति की संज्ञा दी गई है।[15] वैदिक समाज में व्यक्ति अपने शत्रुओं से भयभीत थे और अपने घरों को निरापद बनाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे।[16] आर्यों के ये शत्रु कौन थे यह स्पष्ट नहीं है। सम्भावना यह है कि ये वे शत्रु थे जिनको ध्वस्त करने का श्रेय वैदिक संस्कृति के प्रमुख देवता इन्द्र को दिया जाता था।

निवास स्थलों के निर्माण से संबंधित सामग्री मुख्य रूप से अथर्वसंहिता से उपलब्ध होती है, किन्तु कुछ उल्लेख ऋक् व साम आदि अन्य संहिताओं से भी प्राप्त होते हैं, जो इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। इसके साथ ही साथ गृह के लिए प्रयुक्त कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो उनकी निर्माण सामग्री को जानने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। संहिताओं में उल्लिखित घर, लकड़ी, बांस, मिट्टी, फूस व पत्तियों से निर्मित थे। ईंट का उल्लेख यजुः संहिता में है परन्तु सन्दर्भ से स्पष्ट होता है कि इनका प्रयोग वैदिक अनुष्ठानों के निमित्त बनायी गयी वेदिका के निर्माण में किया जाता था।[17] ऋग्वेद[18] के एक मन्त्र में "पर्शवः" का तात्पर्य सायण के अनुसार कुएँ की दीवार से है। जिस संस्कृति में कुएँ तथा वेदी के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया जाता था तो संभवतः आवास निर्माण में भी ईंटों का प्रयोग किया जाता होगा, किन्तु इस तथ्य के समर्थन में दुर्भाग्यवश सहिताओं में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अथर्व संहिता के एक मन्त्र में घर की तुलना उत्तम पावों वाली हस्तिनी से की गई है[19] जिससे स्पष्ट होता है कि मकान का आधारभूत ढांचा खम्भों द्वारा निर्मित होता था। इसी संहिता के एक अन्य मन्त्र में शाला के निर्माण के सन्दर्भ में वृक्षों के उपयोग की बात की गई है।[20] ऋग्वेद में भी गृह निर्माण के सम्बन्ध में सुदृढ़ खम्भों (ध्रुवा स्थूणा) के उपयोग का उल्लेख है।[21] द्रष्टव्य है कि गृह के सन्दर्भ में उपमित, परिमित एव प्रतिमित शब्द यदाकदा संहिताओं में प्रयुक्त हुए हैं।[22] अनेक विद्वानों ने इन शब्दों को गृह निर्माण में खम्भों के अर्थ में लिया है।[23] डांगे[24] उपमित को आधरभूत लम्बवत् स्थापित खम्भों के अर्थ में और प्रतिमित को घरन के अर्थ में लेते हैं। लकड़ी के इस ढांचे को ऊपर से फूस से आच्छादित कर दिया जाता था (तृणोरावृता) एवं चारों ओर की दीवारें "पलदान" से निर्मित की जाती थीं।[25] ऊपरी आच्छादन किसी भी निवास का महत्वपूर्ण अंग था और इसी कारण उसे छदिस् या छर्दिस् नाम से भी उल्लिखित किया जाता था। अथर्व संहिता में आच्छादन के रूप में सहस्राक्ष अक्षु (जाल) के बाँधने का भी उल्लेख है।[26] इसका वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता। संभवतः छत पर फूस का आवरण लगाने से पहले लकड़ी या बांस का एक ढाँचा, जिसमें अनेक छोटे-छोटे वर्ग बने होते थे, स्थापित किया जाता था। सातवलेकर के अनुसार "पलदान" शब्द चटाई के लिये प्रयुक्त हुआ है,[27] जबकि ह्विट्ने अपने अनुवाद में इस शब्द को अनूदित करने का कोई प्रयत्न नहीं करते। अथर्व संहिता के ही एक अन्य मन्त्र में घर के साथ मूंज घास का भी उल्लेख है (ओको अस्य मूजवन्त)।[28] कुछ स्थलों पर घर या शाला के साथ "मिता" शब्द का प्रयोग मिलता है जिसको सातवलेकर ने "माप ली हुई" के अर्थ में स्वीकार किया है। यदि यह अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि गृह निर्माण से पूर्व किसी नापने वाले उपकरण की सहायता से सम्पूर्ण घर की योजना पृथ्वी पर अंकित कर ली जाती थी।

यह निश्चित करना कठिन है कि संहिताकालीन सभी घर उपर्युक्त विधि से ही लकड़ी एव फूस आदि द्वारा निर्मित होते थे किंवा कुछ घर ऐसे भी थे जिनमें अन्य साम-

ग्रियों यथा ईंट, पत्थर आदि का भी प्रयोग होता था। ऋग्वेद में एक स्थल पर राजा वरुण से प्रार्थना की गई है कि प्रार्थी मिट्टी के मकान को न जाए (मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्महं गमम्)।[30] अधिकाँश विद्वान् इस उल्लेख में शव के गाड़े जाने का भाव देखते हैं।[31] परन्तु इस प्रकार का भाव सन्दर्भानुसार बहुत अधिक स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। अथर्व वेद में "भूमि-गृह" शब्द निश्चय ही अन्त्येष्टि की एक प्रथा का द्योतक है।[32] स्मरणीय है कि निघण्टु में गृह के लिए प्रयुक्त अनेक शब्दों में "गर्त" भी है।[33] मैक्डोनेल एवं कीथ के अनुसार ऋग्वेद व अन्य वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त "गर्त" या तो रथ में बैठने के स्थान का द्योतक है या सम्पूर्ण रथ का।[34] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह शब्द या तो रथ के समान आच्छादित मकान का द्योतक था या गड्ढे में निवास का। अथर्ववेद के उल्लेखों से जिस प्रकार के घर का आभास होता है वह रथ के ऊपरी भाग से मिलता-जुलता रहा होगा। द्रष्टव्य है कि काश्मीर के बुर्जाहोम नामक स्थल से ऐसे गढ्ढों के साक्ष्य मिले हैं जिनमें निवास किया जाता था। यह नव पाषाण संस्कृति लगभग २००० ई० पू० की है।[35] इसी प्रकार का साक्ष्य जम्मू के समीप गुफक्रल में भी प्राप्त हुआ है।[36] इस पुरातात्विक प्रमाण को दृष्टि में रखकर यह सम्भावना प्रकट की जा सकती है कि गर्त गढ़े में निवास का ही द्योतक है।

ऋग्वेद के एक उल्लेख में "त्रिधातु शरणम्" का उल्लेख है।[37] ग्रिफिथ के अनुसार इसका तात्पर्य तीन प्रकार से सुदृढ़ किया हुआ (Triply Strong) घर है।[38] दूसरी ओर त्रिवेदी[39] त्रिधातु से लकड़ी, ईंट और पत्थर का तात्पर्य लेते हैं। यह कहना कठिन है कि त्रिवेदी का अनुवाद ठीक है या नहीं, परन्तु यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि त्रिधातु घर के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली तीन प्रकार की सामग्रियों का ही द्योतक है।

यों तो घर से संबंधित अनेक उल्लेख सभी संहिताओं में उपलब्ध है, परन्तु इनसे न तो गृह के निश्चित आकार का पता चलता है और न ही वैदिक आवास की योजना ही स्पष्ट होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि घरों को विशाल एव विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया जाता था। अनेक स्थानों पर इस प्रकार के घर की कामना की गई है।[40] संहिताओं में घर के लिये प्रयुक्त "हर्म्य" शब्द इसी विशालता का द्योतक प्रतीत होता है।[41] अनुमान किया जाता है कि हर्म्य के अन्तर्गत न केवल रहने का स्थान था, वरन् गोष्ठ आदि भी सम्मिलित थे।[42] परन्तु सेन्टपिट्सबुर्ग कोश[43] के अनुसार हर्म्य शब्द न केवल भवन की विशालता का द्योतक है, वरन् इस शब्द का अर्थ सुदृढ़ भवन भी है। अधिकतर विद्वान यह मानते हैं कि संहिताकालीन घर एक मंजिल वाले ही होते थे।[44] परन्तु यह निष्कर्ष संभवत निर्विवाद नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में गृह के साथ-साथ "त्रिवरूथ" शब्द का प्रयोग किया गया है।[45] पंडित रामगोविन्द त्रिवेदी[46] ने इस शब्द की व्याख्या "तीन तल्लों वाला मकान" के रूप में की है। दूसरी ओर ग्रिफिथ[47] त्रिवरूथ का अर्थ "तीन प्रकार से सुरक्षित" करते हैं। द्रष्टव्य है कि "वरुथ" शब्द ऋग्वेद एवं परवर्ती वैदिक ग्रंथों में गृह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है,[48] जिसका अर्थ है

सुरक्षा प्रदान करना (शीत, आतप, वर्षा शत्रु एवं हिंसक शत्रुओं आदि से)[49] यदि संहिताओं के त्रिवरूथ शब्द को ''तीन घरों'' वाला निवास के अर्थ में लिया जाय तो त्रिवेदी का अनुवाद अनुचित नहीं प्रतीत होता। ''त्रिवरूथ'' की एक अन्य व्याख्या भी की जा सकती है। संहिताओं के उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि कम से कम कुछ घरों में अग्निशाल, गायों के रहने का स्थान[50] एवं गृहस्थों का निवास (सद्स एवं पत्नीनां सदन) एक साथ होते थे।[51] त्रिवरूथ को सम्पूर्ण मकान के इन तीन खण्डों का द्योतक भी माना जा सकता है। संहिताओं के इन उल्लेखों से एक बात और स्पष्ट होती है कि एक साधारण घर में भी अनेक प्रकोष्ठ होते थे जिनको विभिन्न प्रयोगों में लाया जाता था। ''पत्नीनां सदय एवं सदन'' जैसे उल्लेख इसका समर्थन करते हैं। कुछ घर निश्चित रूप से बहुत बड़े एव अनेक प्रकोष्ठों वाले होते थे जैसा कि अथर्ववेद के एक मंत्र से ज्ञात होता है।[52] इसमें दो, चार, छ, आठ एवं दस पक्षों वाली शाला की चर्चा की गई है। मकान के विभिन्न प्रकोष्ठों में द्वार होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सुदृढ़ खम्भों से द्वार बनाये जाते थे, और इन्हीं खम्भों से संबद्ध दरवाजे होते थे।[53] घरों की इसी विशेषता को बल प्रदान करने के लिए संभवत: ''दुरोण'' शब्द का प्रयोग किया गया है। वाजसनेयि संहिता[54] के एक मन्त्र में ''द्वार'' की विभिन्न विशेषताओं की भी चर्चा की गई है। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि घरों को चहारदिवारी से घेर दिया जाता था।[55]

पुर

वैदिक संहिताओं[56] में प्राय: 'पुर' शब्द का उल्लेख मिलता है जिसका तात्पर्य दुर्ग, गढ़ या किला है। पुर में साधारण मनुष्यों के रहने के संकेत नहीं मिलते। सहिताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि ये पुर वहुधा देवताओं के शत्रुओं द्वारा, जिन्हें असुर या दास कहा गया है, वनाये गये थे। कुछ स्थलों पर देवताओं के पुरों का भी उल्लेख है।[57] परन्तु इस प्रकार के साक्ष्य नगण्य ही हैं। ऋग्वेद व अन्य संहिताओं में इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ है जिनमें इन्द्र और कभी-कभी अग्नि व अश्विनी कुमारों द्वारा असुरों के पुरों को नष्ट किये जाने के उल्लेख हैं[58] इन्द्र का पुरंदर नाम उनकी इन्हीं उपलब्धियों। का द्योतक है।

उपयुक्त सन्दर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुर निर्माण की परंपरा मूल रूप में असुरों या दासों की ही थी।[59] वैदिक आर्यों द्वारा इन्हें पराजित करने के पश्चात् ही इस कला को आर्यों ने असुरों से सीखा और अपने कुछ पुरों का निर्माण किया. सन्दर्भों से यह भी स्पष्ट है कि जहाँ असुरों द्वारा निर्मित पुर बहुत बड़ी सख्या में थे वहाँ वैदिक आर्यों ने गिने-चुने पुरों का ही निर्माण किया।

पुर सम्बन्धित से जो उल्लेख वैदिक संहिताओं में मिलते हैं उनसे यह स्पष्ट है कि सुदृढ़ता इनका सबसे बड़ा गुण था। 'ऋग्वेद संहिता' 'दृढ़्हा पुर' इनकी दृढ़ता का ही द्योतक है।[60] ऐसा अनुमान किया जाता है कि पुर ऊँचे, दुर्गम एवं सुरक्षित स्थानों पर

ही वनाये जाते थे। पुर की निर्माण सामग्री संभवतः स्थात-स्थान पर भिन्न थी। पत्थर से निर्मित पुर[61] उन्हीं पर्वतीय क्षेत्रों में बनाये जाते रहे होंगें जहाँ पर पत्थर सुलभ थे। इसके विपरीत उन मैदानी स्थलों में जहाँ पत्थर उपलब्ध नहीं थे, पुरों का निर्माण मिट्टी से ही किया जाता था। ऋग्वेद संहिता[62] के कुछ स्थलों पर पुरों के साथ 'देही' शब्द भी मिलता है। श्राडर[63] के अनुसार देही से मिलते जुलते शब्द अन्य इन्डोयोरोपियन भाषाओं में भी हैं और अधिकांश में अर्थ है मिट्टी की निर्मित दीवार। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के इस साक्ष्य को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन सन्दर्भों में भी देही का अर्थ, मिट्टी की दीवार अथवा ऐसा निर्माण जिसकी मुख्य विशेषता मिट्टी की दीवार थी, लिया जा सकता है। इस साक्ष्य के आधार पर यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पुर सदा या वहुधा प्राकार से आवृत्त होते थे। पत्थर और मिट्टी द्वारा निर्मित पुरों के अतिरिक्त कुछ को अयस् निर्मित पुर भी कहा गया है।[64] मैक्डोनल एवं कीथ के अनुसार ये सन्दर्भ पुरो की दृढ़ता के ही द्योतक हैं एवं इन्हें एवं शाब्दिक अर्थ में नहीं वरन् लाक्षणिक अर्थ में ही समझा जाना चाहिए।[65] परन्तु उनकी यह धारणा स्वीकार्य नहीं लगती क्योंकि यह असंमव नहीं है। पुरों की दृढ़ता के निमित्त किसी प्रकार से इनके निर्माण में अयस् धातु का भी प्रयोग होता रहा होगा। पुर का क्या स्वरूप था, इसमें कितने आवासीय गृह और उसमें कितने कक्ष होते थे, इसका वैदिक ऋचाओं में कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु ऋग्वेद में एक स्थल पर इस बात का आभास होता है कि दुर्ग में सभवतः धन एकत्रित करने का कक्ष होता था जिसका ग्रिफिथ[66] ने ट्रेजर-कोश अनुवाद किया है। ऋग्वेद में ही एक स्थल पर शतमुजि[67] अर्थात् सौ दीवारों वाले दुर्ग[68] का उल्लेख है जो दुर्ग की मजबूती और विशालता का संकेत करता है।

ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में शारदी पुर का उल्लेख है।[69] जिसका सामान्य अर्थ शरद ऋतु में बनाये गये पुर से लिया जा सकता है। ग्रिफिथ[70] ने अपने अनुवाद में शारदी पुर का अर्थ ऐसे पुर से किया जो कि वर्षा है और बाढ़ से रक्षा हेतु किसी ऊँचे स्थल पर बनाये यये थे। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि वर्षा ऋतु में वर्षा और बाढ़ आदि से मागावैरोध के कारण आक्रमण और युद्ध संभव नहीं थे अपितु शरद ऋतु में ही इस प्रकार के आक्रयण संभव थे, इसीलिए असुरों ने इस ऋतु में देवों के आक्रमण से रक्षा हेतु शारदीय पुरों की रचना की होगी।

मैक्डोनल एवं कीथ[71] का यह निष्कर्ष कि पुर साधारण निवास स्थल नहीं थे वरन् इनका उपयोग कभी-कभी सुरक्षा हेतु ही किया जाता था, उचित प्रतीत नही होता।

सन्दर्भ :

1. विन्टरनित्स, एम०, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर (अंग्रेजी अनुवाद), कलकत्ता, १९५९, पृ० २५३-२७१।

2. व्रजम् ऋ० १०।२६।३; १०।९७।१० एवं १०।१०।८, गोष्ठ ऋ० १।१९।१४; ६।२८।१; ८।३।१७ सेंट पीटर्सबुर्ग कोश के अनुसार गोष्ठ का अर्थ है पशुओं या गायों के ठहरने अथवा खड़े होने का स्थान (Kuhstall) से तात्पर्य गायों के बाड़े से है। पृ० ८१९, भाग २,१८५८।

3. ऋ० ४।५७।७-९।

4. ऋग्वेद १।४४।१०; २।१।२।७; १०।१४६।१; ह्विट्ने, डब्लू अथर्व वेद संहिता, कैम्ब्रिज, १९०५; ५।१७।४; १२।१।५६; वाज० २।४५, स्वाध्याय मंडल, पारडी, १९७०।

5. ऋ० १।१००।१०; १०।१२७।५, अथर्व० ४।७।५।

6. अथर्व० ६।१०६।२—अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्। मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥

7. मैक्डोनेल एवं कीथ, वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २०० (हिन्दी अनुवाद), डा० रामकुमार राय, वाराणसी, १९६२।

8. वाज सं० १८।१३।

9. राथ; रुडोल्फ एण्ड ओटो बोथलिङ्क (संपा०) सेन्ट पीटर्सबुर्ग कोश, भाग १, पृष्ठ ९६३ एवं वैदिक इण्डेक्स भाग १, पृ० १०४।

10. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २९९।

11. ऋ० ५।४।८।

12. ऋग्वेद ५।१।५ दमे दमे सप्त रत्ना दधानोग्निर्होता निषसादा यजीयान्।

13. दमे दमे तत्तदयागगृहे सप्त रमणीयाः सप्त ज्वालाः दधानः धारयमाणः। अथवा यजमानेभ्य सप्गविधानि रत्नानि दधानः अग्निः ······· सायण, (ऋ० ५।१।५)।

14. ऋ० १।१२४।१२; ५।२३।४।

15. ऋ० १।९१।१३।

16. ऋ० १।४८।१५।

17. वाज० सं० १७।५९ एवं तैत्तिरीय संहिता ३।२।९।११

18. सं मा तपन्त्यमितः सपत्नीरिव पर्शवः।
मूषो न शिश्ना व्ययन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रता वित्तं में अस्य रोदसी ॥ (ऋ० १।१०५।८)। निरुक्त ४।६ में पशु (पर्शवः) का तात्पर्य इष्टका किया गया है। स्कन्दस्वामी इसका मुख्य तात्पर्थ पार्श्वभाग दीवार मानते हुए दूसरा (गोण) अर्थ ईंट करते हैं।

19. अथर्व० ९।३।१७।

20. अथर्व ९।३।११।
21. ऋ० ८।१७।१४। यह ऋचा सामवेद में भी उपलब्ध है।
22. अथर्व० ९।३।१ ये तीनों शब्द एक ही मन्त्र में शाला के साथ प्रयुक्त हुए हैं।
23. वैदिक इण्डेंक्स, भाग १, पृ० १०४।
24. कल्चरल सोसर्स फ्राम दि वेद, पृ० ४९, बम्बई, १९७७।
25, अथर्व वेद ९।३।१७।
26. वही, ९।३।८।
27. अथर्व वेद का सुबोध भाष्य, (मन्त्र ९।३।१७ में फलदान का अर्थ) स्वाध्याय मंडल, पारडी, १९५८।
28. अथर्व ५।२२।५।
29. अथर्व वेद का सुबोज भाष्य (मन्त्र ९।३।१६, एवं ९।३।१७ का अर्थ)।
30. ऋ० ७। ८९।१।
31. वैंदिक इण्डेस, भाग २, पृ. १९७।
32. अथर्व० ५।३०।१४, १८।२।५२।
निघण्टु ३।४।३।
33. वैंदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ४५।
35. साकलिया, एच० डी०, प्री-हिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री आफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पूना, १९७४ पृ० २९८–३०४।
36. ए० के० शर्मा, एक्सकेवेशन्स एट गुफक्रल—१९८१, पुरातत्व, नं० ११, पृ० १९–२५।
37. ऋ० ६।४६।९।
38. हिम्स आफ दि ऋग्वेद, भाग १, पृ० ६०२।
39. ऋग्वेद संहिता, (ऋ० ६।४६।९)।
40. ऋ० १।४८।१५, ७।८८।५; ९।८५।८। उषो यदथ भानुना विद्वारा वृणवोदिवः प्रनो यवछतादवृकं पृथुच्छर्दिः प्र देवि गोमतीरिषः ॥ १५ ॥
पवमानो अम्यर्षा सुवीर्यमुर्वो गव्यतीं महि शर्म सप्रथः।
मार्किर्नो अस्य परिषुतिरीसतेन्दो जयेम त्वया धनन्धनम् ॥ ८ ॥
41. ऋ० ७।५६।१६: अथर्व० १८।४।५५।
42. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ५५३।
43. सेन्टपिटर्स बुर्गकोश, पृ० १५५९, भाग ७, १८७५।

44. डांगे, अम्बाहास संदाशिव, कल्चरल सोर्सेस फ्राक दि वेद, पृ० ४९-५०।

45. ऋ० ५।४ ८, ८।१८।२१, ८।४२।२ इत्यादि।

46. ऋग्वेद संहिता (५।४।८; ८।१८।२१ इत्यादि)।

47. हिम्स आफ दि ऋग्वेद, भाग १, पृ० ४७०।
(Triply barred protection या triply guardins shelter)

48. ऋग्वेद १।५८९; ४।५५।४; ४।'६।४; ६।४६।९; ७।३०।४; ७।८८।६; तै० सं० १।३।४।१; २।६।१।५; ४।१।४१; ६।२।७ इत्यादि।

49. वरुथम् अनिष्टनिवारक। सायण (ऋ० ७।८८।६)।

50. अथर्व वेद के कुछ मंत्र संकेत करते हैं कि पशुओं के रहने का स्थान घर के साथ ही सम्बद्ध होता था। यथा—अथर्व० ३।१२।३।

51. हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवनामसि देविशाले ।। अथर्व० ९।३ ७।

52. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भं इवा शये।
अथर्व० ९।३।२१।

53. ऋ० १।५१।१४।

54. वाज० २९।५।

55. सेठ पीटर्सबुर्ग कोश के अनुसार छर्दिस—शब्द का अर्थ छाजन के अतिरिक्त सुरक्षित निवास स्थल या प्राकार (चहारदिवारी) भी है। पृ० १०८३, भाग २, १८५८।

56. ऋग्वेद १।५१।५; १।५३।८; ७।२१।४ इत्यादि।

57. अथर्व० १२।१।४३।

58. ऋ० १।५३।७, १।५५।६; १।११२।१४; ७।१९।५; सामवेद ४।३।१०।३, स्वाध्यायमण्डल, पारडी, १९५७।

59. इसका समर्थन इतिहास पुराण में भी पाया जाता है।

60. ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, भाग १, पृ० ७१ एवं पृ० ४८२; ऋ० १।५१।११, ५।१९।३।

61. ऋ० ४।३।२० अश्मन्मयीनां पुरम्।

62. ऋ० ६।४७।२; ७।६।५।

63. प्रिहिस्टारिक एन्टि क्विटीज आफ दि आर्यन पिपुल्स, पृ० ३४४, लन्दन, १८९०।

64. ऋ० १।५८।८; २।२०।८; ७३७।
65. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ६१३।
66. हिम्स आफ दि ऋग्वेद, भाग १, पृ० ३३४ (ऋ० ३।१५।४)।
67. ऋ० १।१६६।८।
68. वैदिक इन्डेक्स, भाग १, पृ० ६१४।
69. ऋ० १।१३१।४। विदुष्टे अस्य वीर्यस्थ पूरणः पुरो यदिन्द्र शारदीरवासिरः सासहानो अवातिरः।
शासस्तमिन्द्र मर्त्यं भयज्यं शवसस्पते।
महीममुष्णांः पृथिवीमिमां अपो मन्दसानः इमा अपः॥ एवं ऋ० १।१८४।२; २।१२।११।
70. ग्रिफिथ, हिम्स आफ दि ऋग्वेद, भाग १, (ऋ० १।१२१।४, १।१७४।२, एवं २।१२।११।
71. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० ६१४।

प्रेमचंद और यथार्थ

डॉ० राजबिहारी मिश्र*

यथार्थ का अन्वयपरक अर्थ होगा "अर्थमनतिक्रम्य यथार्थम्" अर्थात् अर्थ का जहाँ अतिक्रमण न हो। अर्थ को आचार्यों ने पद से जोड़ा था, पद को ही शब्द कहा गया। इस प्रकार पदार्थ अर्थात् वस्तु को अर्थ देनेवाली प्रतीकात्मक पद्धति को ही हम अर्थ प्रक्रिया के रूप में ले सकते हैं। इस प्रकार जगत् की स्थिति उससे सम्बन्धित साहित्य, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी की प्रकृति यथार्थपरक होनी चाहिए।

यथार्थ के विना साहित्य का कोई रूप निर्माण सम्भव ही नहीं है। वैदिक ऋचाओं के अर्थ व्यापक मानवीय परिकल्पनाओं और प्राकृतिक चित्रों के यथार्थ से जुड़े हैं। संस्कृत साहित्य का व्यापक क्षितिज मानव कल्पनाओं के साथ किसी न किसी रूप में यथार्थ से ही जुड़ा है।

वस्तुतः यथार्थ को मात्र वस्तु के रूप में ही लिया जाता है। मनुष्य के आदर्श भाव या उसकी कल्पनाओं को इससे अलग करके देखा जाता है। चूंकि साहित्य के सन्दर्भ में भाव और आदर्श को विशेष अर्थ मिला, इसलिए पुराने साहित्य में यद्यपि यथार्थ की चेतना विविध रूपों में सुरक्षित रही फिर भी आधुनिक औद्योगिक या वैज्ञानिक युग में यथार्थ के प्रति आग्रह अधिक बढ़ा और यथार्थ की प्रतिष्ठा का श्रेय वैज्ञानिक युग को ही मिला। यथार्थवाद आधुनिक वैज्ञानिक युग की देन है। वैसे आदिम युग से ही मनुष्य यथार्थ के आधार पर आगे बढ़ा है। परन्तु उसको निकट से देखने की दृष्टि विज्ञान ने ही पहले-पहल दी। पानी हम सदा से पीते रहे हैं और सबका प्रयास भी यही रहता है कि स्वच्छ और निर्मल जलपान करें। परन्तु आज कपड़े से छानने पर भी पानी स्वच्छ नहीं हो पाता। स्थूल चर्म चक्षुओं से वह चाहे जितना स्वच्छ जान पड़े पर अणु विक्षण यन्त्र से देखने पर उसमें कीटाणुओं की संख्या गणनातीत दृष्टिगत होती है। यही लघुवीक्षण यथार्थ दृष्टि है।

यथार्थ और यथार्थवाद में फर्क है। यथार्थ के प्रति आग्रह आदिम है पर यथार्थ-वाद आज की उपलब्ध दृष्टि है, जो निश्चित सोच और चिन्तन को व्यक्त करती है। यथार्थवाद की सबसे बड़ी विजय उसका आन्तरिक अभियान है, जो आधुनिक वैज्ञानिक युग की ही देन है। पहले हम समझते थे कि देखना केवल आँख से ही होता है और सुनना भी केवल श्रवण का उत्तरदायित्व है। परन्तु आज के मनोविज्ञान ने बताया कि देखना और सुनना केवल आँख और कान का ही काम नहीं है। मन के सहयोग के

* हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

बिना वे नितान्त व्यर्थ हैं। यदि आपका मन किसी दूर देश में रम रहा है, तो आँख कान रहते हुए भी आप न सामने से आती साइकिल देख सकेंगे न ही उसकी अनवरत घण्टी की पुकार सुन सकेंगे और आप को अन्धे-बहरे को उपाधि ही नहीं कुछ और भी दण्ड भोगना पड़ सकता है। बिना मन के सहयोग के आँख ज्योति रहते भी नहीं देख सकती, कान, निर्दोष होकर भी सुन नहीं सकते। प्रेमचन्द के पूर्व उपन्यासों में हमें हाथ, पैर, कान, आँख की ही करामात अधिक दिखलाई पड़ती है। आधुनिक यथार्थवादी उपन्यासों में बाह्य इन्द्रियों का कम परन्तु मन की करामात ही अधिक मिलती है। मन की जादूगरी से आधुनिक उपन्यासों में आभ्यांतरिकता की जो एक झलक आ जाती है, उससे चरित्रों के प्रति पाठकों का विश्वास जग जाता है। ये चरित्र पाठकों के अधिक निकट और विश्वस्त जान पड़ते हैं। कारण यह है कि पाठक ऐसे चरित्र के भीतर बैठकर उनके अन्तः प्रदेश तक झाँक आता है, जिससे न कोई गोपनीयता रह पाती है और न कोई रहस्य। ऐसे ही चरित्रों को वह यथार्थ मान सकता है और ऐसे चरित्रों का उस पर प्रभाव पड़ सकता है। इसी कारण आधुनिक उपन्यासों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की इतनी धूम है।

परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि आधुनिक युग की विविध समस्याओं का सम्यक् विश्लेषण-विवेचन और समाधान यदि कहीं सम्भव है तो वह केवल उपन्यास में ही और इस दृष्टि से उपन्यास ही आधुनिक युग का प्रतिनिधित्व करनेवाला साहित्य रूप है। उपन्यास आधुनिक यथार्थ-चेतना की उपज माना जाता है।

आदर्शवाद यथार्थवाद की अपेक्षा प्राचीन चिन्तन पद्धति का अंग है। आदर्शवाद के ही विशिष्ट रूप को लोगों ने भाववाद कहा है, जो पारम्परिक चिन्तन रूपों को व्यक्त करता है। ऐसा चिन्तन रूप जो अपनी प्रामाणिकता के लिए यथार्थ के द्वन्द पर आधारित नहीं हैं, बल्कि यथार्थ के एकपक्षीय रूप का कल्पित रुपायन है। आलोचना और अन्य विविध क्षेत्रों में यथार्थवाद एक विशिष्ट रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसकी प्रारम्भिक पृष्ठभूमि दार्शनिक विश्वासों से आरम्भ होकर इससे प्रायः दूर पहुँच चुकी है। आज इस आधुनिक युग में इसकी विवेचना गम्भीर वाद-विवाद का विषय बन चुकी है। दार्शनिक आदर्शवाद संसार की प्रमुख प्राचीन विचारधाराओं का मेरुदन्ड रहा है। यह मैटर को प्रधानता न देकर चेतना को प्रधानता देता है और इसी को परमतत्त्व और परमसत्य की संज्ञा से अभिहित करता है।

"दार्शनिक यथार्थ" की निष्पत्ति इससे प्रायः भिन्न है। इस विचारधारा के अनुसार "विश्व का निर्माण एकाधिक सक्रिय तत्वों से हुआ, जो आपस में सम्बद्ध हैं, पर द्वैत सत्ता अक्षुण्ण है। इन सत्ताओं का मस्तिस्क द्वारा अवबोध सम्भव है, इस अवबोध के विषय स्वरूप का वर्णन और यथार्थ प्रमाणों के सन्दर्भ में इनका स्पष्टीकरण प्रमाण-वाद का विषय है। मानव इस विश्व में निवास ही नहीं करता, अपितु इस सत्य से

अवगत रहता है कि वह इसमें रह रहा है। उसके इस अभियान के कारण उसकी चेतना एवं संसृति के कार्य व्यापारों में एक सम्बन्ध होता है और वह सजीव एवं स्पन्दन प्रधान जीव माना जाता है। उसकी जिजीविषा अनूभूति में संसृति का यथार्थ जीवित रहता है।

प्रेमचन्द्र ने अपनी 'कुछ विचार' नामक पुस्तक में अनेक निवन्धों और भाषणों के द्वारा अपनी साहित्यिक मान्यताओं को उद्योतित करने वाले ऐसे सूत्र दिये हैं, जो पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। वह लिखते हैं—"साहित्य की वहुत सी परिभाषायें दी गयी हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचनाएँ हैं, चाहे वह निवन्ध के रूप में हों, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की व्याख्या व आलोचना करनी चाहिए।" श्रेष्ठ साहित्य का प्रतिमान निर्धारण करते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं, 'जो हो जब तक साहित्य का काम केवल मन वहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुनाना, केवल आँसू वहाकर जी हल्का करना था, तवतक इसके लिए कर्म की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे। मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जो हममें गति और बेचैनी पैदाकर सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मौत का लक्षण है।"

प्रेमचन्द के साहित्य सम्बन्धी उक्त विचारों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द साहित्य को सोद्देश्य रचना मानते हैं। मात्र मनोरञ्जन साहित्य का लक्ष्य कत्तई नहीं है। वे साहित्य को जीवन से जोड़ने के हिमायती हैं, साथ ही कतिपय काल्पनिक उड़ानों और भक्तिवादी मनोवृत्तियों के भी विरोधी हैं। साहित्य से उनका तात्पर्य जीवन के यथार्थ और आदर्श के समन्वय से है, जो जीवन को गति दे सके; उद्वेलित कर सके तथा लोगों में उदात्त की चेतना भर सके।

उपन्यास के सम्वन्ध में प्रेमचन्द का कथन है कि "मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" प्रेमचन्द यथार्थ और आदर्श के विवाद को खत्म करने के लिए बीच का रास्ता निकाल लेते हैं। वे उपन्यास में यथार्थ और आदर्श दोनों की महत्ता स्वीकार कर चलते हैं। इस दृष्टि से उनकी मान्यता है कि 'यथार्थवादी' चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम अच्छा होता है या कुच्चरित्रता का, उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ और खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं। समाज में सदैव नेकी का फल नेक और वदी का फल बद नहीं होता, वल्कि इसके विपरीत हुआ करता है नेक आदमी धक्के खाते हैं, मुसीबतें झेलते हैं, अपमानित होते

हैं। उनको नेकी का फल उल्टा मिलता है। चूँकि संसार में बुरे चरित्रों की प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्रों में भी कुछ न कुछ दाग-धब्बे रहते हैं। इसलिए यथार्थवाद में हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है।

प्रेमचन्द के उक्त विचारों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द नग्न यथार्थ और अतिवादी आदर्श के विरोधी हैं। वे दोनों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते हैं। प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों और कहानियों में इस समन्वय का रंग गाढ़ा है, पर यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे कमजोर हुई है और उनके अन्तिम उपन्यास गोदान और कफन जैसी कहानियों में आदर्श का रंग कत्तई नहीं है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमचन्द धीरे-धीरे वैज्ञानिक यथार्थवाद की ओर झुक रहे थे।

12

निबन्धकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

डॉ० सुरेन्द्र प्रताप सिंह*

निवंध-कला का वैशिष्टच इस बात में है कि लेखक कितनी सहजता और उन्मुक्तता से स्वयं को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है। आचार्य द्विवेदी पाडित्य का वोझ लादे बिना पाठकों के मन पर छा जाने वाले सिद्धहस्त लेखक हैं। कबीर से उन्होंने जो सबसे बड़ी बात सीखी है वह यही सहजता है। 'अशोक के फूल' में वे लिखते हैं— 'पंडिताई भी एक बोझ है। जितनी ही भारी है उतनी ही तेजी से डुबाती है। जब वह जीवन का अंग बन जाती है तो सहज हो जाती है। तब वह बोझ नहीं रहती।' द्विवेदी जी की पंडिताई उनके जीवन का अंग बन गई थी, सहज हो गई थी, बोझ नहीं रही, इसीलिए वे इतने सफल निबंधकार हो सके।

द्विवेदी जी अपने पाठकों से बातचीत करते हुए अतीत के खँडहरों में घूमते हैं तो अशोक, कुटज और शिरीष के फूल बरसने लगते हैं। पांडित्य के कांतार में चलते हैं तो रस की स्रोतस्विनी बहने लगती है। यहाँ उनकी सहज साधना का ही फल है। उनका शायद ही कोई निबन्ध मिले जिसमें वे सहज भाव से पाठकों के साथ बातचीत करते न दिखाई दें। उदाहरणार्थ 'बसन्त आ गया' को ही ले लें। जैसे ही पाठक इस निबन्ध की रम्य वनस्थली में प्रवेश करता है, द्विवेदी जी उसे बैठे दिखाई देते हैं और होठों पर मुस्कान सहित उसका स्वागत करते हैं—'जिस स्थान पर बैठकर लिख रहा हूँ उसके आस-पास कुछ थोड़े से पेड़ हैं। यह शिरीष है…… और फिर लगातार सामने रहते हैं—'कवि के आश्रम में रहता हूँ नितान्त ठूठ नहीं हूँ पर भाग्य प्रसन्न न हो तो कोई क्या करे।' 'पढ़ता-लिखता हूँ यही पेशा है। सो दुनिया के बारे में पोथियों के सहारे ही थोड़ा बहुत जानता हूँ।'' ''मैं थोड़ा-थोड़ा समझता हूँ। बसन्त आता नहीं ले आया जाता है। जो चाहे और जब चाहे अपने पर ले आ सकता है। वह मरियल कांचनार ले आया है, अपने मोटेराम तैयारी कर रहे हैं; और मैं? मुझे बुखार आ रहा है।'

इसी सहजता के कारण, पंडिताई को जीवन का अंग बना लेने के कारण उनमें व्यंग्य-विनोद का भाव भी स्वभावतः आ गया है, किन्तु उनका यह व्यंग्य-विनोद भी सहज होता है, तीखा नहीं। उक्त अंतिम उद्धरण में उनकी विनोद-वृत्ति की झलक

---

* हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

मिल जाती है। 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी' में व्यंग्य और विनोद दोनों का सफल मिश्रण हुआ है। उदाहरण के लिए नीचे के दो उद्धरणों में क्रमशः प्रगतिवादियों और रहस्यवादियों पर कैसा स्निग्ध व्यंग्य है। 'मेरा निश्चित मत है कि हँसाना-हँसना पूँजीवादी मनोवृत्ति की उपज हैं। इस युग के हिन्दी साहित्यिक जो हँसना नापसंद करते हैं उसका कारण शायद यह है कि पूँजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्ति को मन ही मन घृणा करने लगे हैं।'

"आसमान में निरंतर मुक्का मारने में कम परिश्रम नहीं है और मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी-खेल नहीं है। पुस्तक को छूआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकंपित। यह क्या कम साधना है।"

द्विवेदी जी में कहीं-कहीं आत्म-व्यंग्य भी मिलता है। यह भी उनकी सहज साधना का ही फल है। यह आत्म-व्यंग्य उनकी सहज विनोद वृत्ति का परिचायक होता है। जैसे— 'बसंत आ गया है' के इस स्थल में 'मेरे एक मित्र ने कहा था कि मुझे ऐसा लगता है कि नव वधू के समान यह विचारी आम्र मंजरी जरा सा झांकने बाहर निकली और सामने हमारे जैसे मनहूसों को देखकर लजा गयी। वस्तुतः यह मेरे मित्र की कल्पना थी। अगर सच होती तो मैं कही मुँह दिखाने लायक न रहता।' किन्तु कुछ स्थलों पर यह आत्मव्यंग्य सोद्देश्य होता है। द्विवेदी जी में प्राचीनता के प्रति बड़ी श्रद्धा है, प्राचीन कवियों और पंडितों के सम्मुख वे बड़ी विनम्रता से आते हैं और अपनी बात अशिष्टता के भय से सीधे न कहकर आत्म-व्यंग्य के साथ प्रकट करते हैं। जैसे "आम फिर बौरा गये" निबन्ध में देखे : "मैं अगर अच्छा पंडित होता तो क्षेमेन्द्र की भी गलती निकालता और कालिदास का भी औचित्य सिद्ध करता, लेकिन खेद के साथ कहता हूँ कि मैं अच्छा पंडित नहीं हूँ।" यहाँ आत्म-व्यंग्य के साथ साथ अच्छे पंडितों पर भी एकाध छींटा अवश्य पड़ गया है। किन्तु द्विवेदी जी का उद्देश्य क्षेमेन्द्र के प्रति विनम्रता-प्रकाशन ही है। यह विनम्रता सर्वत्र देखी जा सकती है। कोई कवि सुलभ बात कहने से पहले कह देते हैं, मैं कवि नहीं हूँ और पंडित सुलभ बात कहने से पहले अपने पांडित्य का निषेध कर देते हैं। द्विवेदी जी अपने निबंधों में पंडितों से कुछ अलग ही रहते हैं। उनकी सहज साधना ने उन्हें बताया है कि इनके चक्कर में पड़े और निबंध चौपट हुआ। इसीलिए उन्हें जहाँ इनकी चर्चा करनी होती है, बड़े बेलाग ढंग से करते हैं। जहाँ इनसे भेंट या मुठभेड़ हो जाती है, वहाँ दो-चार बातें करके इस भाव से पीछा छुड़ाकर चलते बनते हैं कि अरे बाबा, तुम्हारे झगड़े में कौन पड़े। उनके निबंधों में स्थान-स्थान पर जो 'पण्डितों की गवाही पर हम कह सकते हैं' "या पुराणों की गवाही पर मान लिया जा सकता है," जैसे वाक्य मिलते हैं वे इसी भाव की गवाही देते प्रतीत होते हैं। "आम फिर बौरा गए" के ये वाक्य भी हमारी बात की पुष्टि करेंगे। "पोथियाँ पढ़ता हूँ

उनका सम्मान मी करता हूँ, पर लोक-प्रवादों को हँसकर उड़ा देने की शक्ति अभी संचय नहीं कर सका हूँ।''

द्विवेदी जी की विराट कल्पना ने भी उनकी निवन्ध शैली को एक विशिष्टता प्रदान की है और उनकी सहजता को और अधिक निखारा हैं। उनके निवन्धों की विषय-सामग्री अधिकतर इतिहास और पुरातत्व से ही ली गई हैं। कल्पना के बिना वे इस सामग्री को सहज और सरस नहीं बना सकते थे, इस बालू में से तेल नहीं निकाल सकते थे और न इतनी सफलता के साथ उसमें से चिन्तन रस निचोड़ सकते थे। वे प्राचीन संस्कृति के उन्मुक्त आकाश में कल्पना के पंख लगाकर उड़ने एवं अतीत के अंधकार में कल्पना की आँखों से झाँकने की अपूर्व क्षमता रखते हैं। ''भारतीय संस्कृति की देन'' में उन्होंने उस समय की वड़ी जीवन्त कल्पना की है जब पृथ्वी सूर्य मंडल से टूटकर उसके चारों ओर चक्कर काटने लगी थी। ''मुझे उस समय का चित्र कल्पना के नेत्रों से देखने में वड़ा आनन्द आता है उस सद्यःस्त्रुटित धरित्री पिंड में ज्वलन्त गैस भरी हुई थी।...... इसके बाद लाखों वर्ष तक धरती ठंढी होती रही, लाखों वर्ष तक उसके भीतर और बाहर प्रलय-कांड मचा रहा, पृथ्वी अन्यान्य ग्रहों की भाँति सूर्य के चारों ओर उसी प्रकार नाचती रही जिस प्रकार खिलाड़ी के इशारे पर सरकस के घोड़े नाचते रहते हैं।'

द्विवेदी जी की निबंध शैली की एक विशेषता इतिहास रस है। इतिहास रस के सहज संचार के लिए केवल इतिहास के अगाध पांडित्य से काम नहीं चलता। सहजता की साधना, कल्पना का अर्जन और वैशद्य और इन सबसे बढ़कर इतिहास के साथ तादात्म्य स्थापित रख सकने की क्षमता की अपेक्षा भी होती हैं। बिना इन सबके संयोग के इतिहास रस निष्पन्न नहीं होता। द्विवेदी जी में इन सभी गुणों का विलक्षण संयोग मिलता है वे कल्पना की अपनी आखों से बूढ़े भारतवर्ष के अतीत को देखते हैं, उस पर होने वाले बर्बर आक्रमणों की वेदना का अनुभव करते हैं। भारतीय संस्कृति के युग के युग उनकी कालजयी कल्पना के विराट फलक पर खिंचे चित्रों की भाँति उतरते चले जाते हैं, समुद्रगुप्त और कालिदास का युग उनके सामने साकार होता चला जाता है। पौराणिक विम्ब वनते चले जाते हैं और पाठक मंत्र-मुग्ध भाव से यह सब देखता रहता है। 'अशोक के फूल से' कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

''अशोक को जो सम्मान कालिदास से मिला वह अपूर्व था। सुन्दरियों के आसिजनकारी नूपुर वाले चरणों के मदु आघात से वह फूलता था, कोमल-कपोलों पर कर्णावतन्स के रूप में वह झूलता था और चंचल नील अलकों की अचंचल शोभा को सौ गुना बढ़ा देता था। वह महादेव के मन में क्षोभ पैदा करता था, मर्यादा पुरुषोत्तम के चित्त में सीता का भ्रम उत्पन्न करता था और 'मनोजन्मा देवता' के एक इशारे पर कंधे से ही फूट उठता था। अशोक किसी कुशल अभिनेता कें समान झम से रंगमंच पर आता है,

और दर्शकों को अभिभूत करके रूप से निकल जाता है।···भुलाया गया है—अशोक। मेरा मन उमड़-घुमड़ कर भारतीय रस-साधना के पिछले हजार वर्षों पर बरस जाना चाहता है।'

अशोक के रंग-मंच पर आने का, सुन्दरियों के चरणाघात को सजीव वनाने वाले शब्द तत्व का सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

द्विवेदी जी की इतिहास-रस की साधना इतनी जबर्दस्त है कि उनकी विशुद्ध संस्कृत निष्ठ और किसी हद तक क्लिष्ट भाषा भी अत्यन्त सहजता से प्रवाहित होती चली जाती है।—"और अंत में याद आई गुप्तकाल की ललनायें जिनके वदन चन्द्र के लोघ्र-रेणु से गंगा का जल पांडुरित हो जाता था, जिनके चंचल लीला-विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज शावक उत्सुकता के साथ 'करेणुका को पंकज-रेणु-गंधि गंडूष-जल पिया दिया करता होगा, अर्घोपमुक्त मृणाल खण्ड से ही चक्रवाक् युवा प्रिया को संभावित करने लग जाता होगा, क्षण भर के लिए सैकतचारी हंस मिथुन पीछे फिर कर स्तब्ध हो रहते होंगे।"

इतिहास के साथ-साथ प्रकृति से भी तादात्म्य स्थापित कर सकने और कल्पना के विराट फलक पर उसे अंकित कर सकने की क्षमता भी उनकी निबन्ध शैली की सफलता का रहस्य है। उनके निबन्धों में बहुधा इतिहास और प्रकृति नीरक्षीरवत मिले रहते हैं और इन दोनों का प्रयोग वे अधिकतर, चिंतन-रस के दोहन में करते हैं। उदाहरण के लिए 'अशोक के फूल' और "कुन्ज" दोनों निवन्धों में इतिहास रस का संचार है। उनके माध्यम से चिंतन रस का दोहन है, फिर भी इन दोनों फूलों के प्रति उनके मन की ममता देखी जा सकती है। "अशोक के फूल" का उक्त उद्धरण इसका साक्षी है। "केतु-दर्शन" में रात्रि के साथ उनका तादात्म्य इन पंक्तियाँ में देखा जा सकता है। "जो लोग दीवारों में घिरे और छत से ढंके कमरों में रात काटने के अभ्यस्त हैं, उनसे यदि कहूँ कि रात जीवंत वस्तु है तो न जाने क्या कहेंगे। लेकिन ··· रात सचमुच ही जीवंत पदार्थ है। वह सांस लेती हुई जान पड़ती है, उसके अंग अंग में कंपन होता रहता है, वह प्रसन्न होती है, उदास होती है, धुधुआ जाती है, खिल उठती है। धीरे-धीरे लेकिन निस्संदेह, वह करवट बदलती रहतीं है, सो जाती है, जाग उठती है।" रात्रि के अनुभावों की कैसी भंगिमापूर्ण अभिव्यक्ति है; भाषा पर कैसा अधिकार है।

अपने निवन्धों को सरस बनाने के लिए द्विवेदी जी इतिहास और प्रकृति के अतिरिक्त सामान्य घटनाओं, स्थितियों और दृष्टान्तों का प्रयोग भी करते हैं। इनसे भी निबंध की सहजता तथा प्रत्यक्षता में सहायता मिलती है। उदाहरण

के लिए जब कि दिमाग खाली है, निबंध का आरम्भ वे इस प्रकार करते हैं—"जबकि दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तब शास्त्र चर्चा अच्छी नहीं लगती। मेरी अवस्था आज ऐसी ही है। अभी उस गठीले बदन वाले पठान युवक को देख चुका हूँ। हींग बेचने आया था। विराट शरीर, सौम्य मुख, निर्भय नेत्र और "कुछ परवा नहीं" चेहरा। बोला – बाबूजी, उस ऊँची कोठी वाले बंगले में कौन रहता है?" इस प्रकार संस्मरण रेखाचित्र और कहानी की मिली जुली शैली में निबन्ध आरम्भ करते हैं। और उसके सहारे बड़े आश्वस्त भाव से आगे बढ़ते हुए सुदूर अतीत में पहुँच जाते हैं—पाठक आश्चर्य चकित होकर देखने लगता है कि अभी तो ये हींग बेचने वाले पठान युवक की बात कर रहे थे, और अब उज्जयिनी के सौध वातायनों से झाँकते हुए चन्द्रवदनों के अलकार्पित रक्ताशोक और श्रवणदत्त कर्णिकार का चित्र खींचने लगे। किन्तु जब तक पाठक सोचता है तब तक वे और आगे बढ़ चुके होते हैं। "गतिशील चिन्तन" में भी यही शैली है। "नाखून क्यों बढ़ते हैं?" में बालिका द्वारा पूछे गए एक साधारण प्रश्न का सहारा लेकर दार्शनिक समस्याओं की घाटी में बड़े सहज भाव से उतर जाते हैं। "क्या आपने मेरी रचना पढ़ी?" में कलकतिया बनमानुष और भदैनी मुहल्ले के रहमत अली फकीर के दृष्टान्तों द्वारा रस उत्पन्न करते हैं। कबीर और कवीन्द्र रवीन्द्र से विशेष प्रभावित होने के कारण उनके जीवन और साहित्य के अनेक दृष्टान्त उनके नबन्धों में मिल जाते हैं। "घर जोड़ने की माया" "भाषा का प्रश्न, 'सत्य का महसूल' आदि निबन्ध इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में स्त्रियों का स्थान

शैल अग्रवाल*

यह एक विचित्र बात है और बहुत लोगों को यह जानकर आश्चर्य भी होगा कि वर्तमान तथा मध्य काल की अपेक्षा प्राचीन काल में स्त्रियों की शैक्षणिक स्थिति कहीं दिव्य एवं भव्य थी। विश्व के उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की कतिपय ऋचाएँ पूज्य भारतीय नारियों के द्वारा रची गयी हैं। जिन भारतीय ललनाओं ने अपनी बौद्धिक परिपक्वता तथा मानसिक उच्च धरातल के साथ अपनी कवित्व शक्ति से ऋग्वेद को समृद्ध कर महर्षियों की समकक्षता अर्जित की है, उनमें 'अपाला' 'घोषा' तथा 'विश्वसारा अग्रणीय हैं। मिथिलाधिपति, अध्यात्मतत्त्ववेत्ता महाराज जनक की सभा के उज्ज्वल हीरक उस समय के बेजोड़ दार्शनिक याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं, जिनमें मैत्रेयी अपने पति की ही भाँति सर्वदा सत्यज्ञान की खोज में ही रत रहा करती थी। किसी समय भौतिक सम्पत्ति की बात करने पर उसने अपने पति से कहा था—'जिससे मैं अमर नहीं हो सकूंगी उससे मेरा क्या प्रयोजन ?'[1] महाराज जनक की ही सभा की मध्यमणि थीं महादेवी गार्गी। उस समय विरले ही तार्किक, दार्शनिक व्यक्ति अध्यात्म क्षेत्र के उत्तर प्रत्युत्तर कर्ताओं में अग्रणी, तेजस्वी-व्यक्तित्व गार्गी के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस कर पाते थे उसने दार्शनिक शिरोमणि याज्ञवल्क्य के भी दाँत खट्टे कर दिए थे। दिग्गज विद्वानों को भी उसका सामना करने पर दिग्भ्रम हो जाया करता था।[2]

वैदिक तथा दार्शनिक जगत में अपनी प्रतिभा से जगती को आलोकित करनेवाली इस धरती की नारियाँ लौकिक काव्य-निर्माण में भी पुरुषों से पीछे न थीं। जिन कवियित्रियों ने अपनी कल्पना से संस्कृत-साहित्य को चतुर्दिक श्री सम्पन्न किया है उनमें विज्जका, अवन्ति, सुन्दरी, तथा शीला भट्टारिका आदि का नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

प्राचीन काल में पुरुषों की ही भाँति स्त्रियों को भी उपनयन एवं वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था। स्मृतिकार हारीत ने स्त्रियों के उपनयन तथा वेदाध्ययन सम्बन्धी अधिकार की व्यवस्था दे रखी है। विश्व-विश्रुत भाषा वैज्ञानिक पाणिनी ने भी 'आचार्या' एवं 'उपाध्याया' शब्दों के साधनार्थ व्युत्पत्ति की है।[3] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्र एवं वार्तिक काल में स्त्रियाँ पुरुषों की ही भाँति गुरुकुलों में देश-विदेश से आए हुए श्रद्धावनत शिष्यों को पढ़ाया करती थीं।

यदि हम भारत के अतीत काल के विषय में जरा सावधानी से विचार करने का प्रयास करें तो हमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि उस काल में भी सामान्य

*शोध छात्रा, दर्शनविभाग संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, का० हि० वि०वि०

रूप से नारियों में शिक्षा का प्रचुर प्रचार था। गोमिलग्रह्यसूत्र[4] तथा 'काठक ग्रह्यसूत्र'[5] से यह पता चलता है कि उस समय की दुलहिनें प्रायः शिक्षित हुआ करती थीं। वे अपने विवाह के अवसर पर वर के साथ ही साथ मन्त्रोच्चारण किया करती थीं। स्पष्ट है कि उस समय तक स्त्रियों को वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार उपलब्ध था। कामसूत्र से भी स्त्रियों की सामान्य शिक्षा का परिज्ञान होता है। आचार्य वात्स्यायन ने नवपरिणिताओं के प्रेम-पत्र की चर्चा की है। कविता कामिनी के पत्नियाँ थीं।[6] बहुत-सी पत्नियों को एक साथ रखने की यह भगोड़ी प्रथा केवल राजाओं-महाराजाओं तक ही परिसीमित न थी। आर्थिक दृष्टि से सामान्य व्यक्ति भी एक से अधिक पत्नियों का आनन्द लेना चाहते थे। मिथिला के प्रसिद्ध दार्शनिक याज्ञवल्वय की दो पत्नियाँ थी—कात्यायनी एवं मैत्रेयी।

सांसारिक सुखों की अभिलाषा-रज्जु प्रत्येक प्राणी के हृदय को जकड़कर जड़ बना देती है। यद्यपि एक से अधिक पत्नी पालने की प्रथा ऋग्वेद से वर्तमान काल तक अक्षुण्ण रूप से उपलब्ध होती है। तथापि संहिता काल से लेकर सूत्रकाल तथा वाद के साहित्य में भी वहुत सी स्त्रियों को रखना महान कष्टकारक वतलाया गया है।

जिस प्रकार एक पुरुष एक ही समय में एक से अधिक पत्नियों को रख सकता था, उनसे अपना मनोरंजन कर सकता था, उसी प्रकार स्त्रियों को एक साथ एक से अधिक पति रखने का अधिकार प्राप्त न था। तैत्तिरीय संहिता[7] एवं एतीय ब्राह्मण[8] के अध्ययन से यह वात सुस्पष्ट विदित होती है कि उनके प्रणयन काल तक भारत वसुन्धरा पर कहीं भी वहुभर्तृकता का पता नहीं था। एकमात्र द्रौपदी के उदाहरण को छोड़कर समग्र संस्कृत साहित्य में एक भी ऐसा स्थल नहीं है, जिससे वहुभर्तृकता का पता चल सके। अथवा समर्थन हो। महाभारत में यह स्पष्ट लिखा है कि जव लोगों को इस वात का पता चला कि युधिष्ठिर ने द्रौपदी को सभी भाइयों की पत्नी मान लिया है, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उनके लिए यह एकदम अस्वाभाविक तथा विधान विहीन वात थी। जव युधिष्ठिर को यह समझाने का प्रवल प्रयास किया गया कि इस तरह की वात अव्यावहारिक तथा परम्परा विरुद्ध है, तव उन्होंने उत्तर दिया—इस तरह का कार्य पहले भी होता था। अपने पक्ष के समर्थन के लिए उन्होंने दो उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि—जटिला, गौतमी विलास महाकवि कालिदास के काल तक भी, आज की ही भाँति प्रेम-पत्र की परिपाटी का पर्याप्त प्रचलन था। जगद्विदित नाटक अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में नायिका शकुन्तला के द्वारा दुष्यन्त को प्रेम-पत्र लिखने की चर्चा की गई है।[9]

किन्तु वड़े दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि जो नारियां मन्त्र दृष्टा थीं, ऋग्वेद की निर्मात्री थीं, पावन अवसरों पर जिन्हें वैदिक मन्त्रों के उच्चारण का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, वे ही वाद में वैदिक साहित्य के प्रभाव के ह्रासोन्मुख होने पर तथा स्मृतियों के उद्गम काल तक आते-जाते वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के भी अधिकार से वंचित कर

दी गई। उनका वेदाध्ययन तथा मन्त्रोच्चारण आदि का अधिकार छीन लिया गया। वेदों के अध्ययन तथा संस्कारों आदि की दृष्टि से उनकी गणना शूद्रों की श्रेणी में की जाने लगी। प्रायः सभी स्मृतियाँ पुराण तथा महाभारत स्त्रियों के वेदाध्ययन के निषेध के बारे में एक मत हैं।[10] यद्यपि कालान्त में स्त्रियों को वैदिक अधिकार से वंचित कर दिया गया था, किन्तु उनका सामान्य अध्ययन फिर भी अवाध गति से चलता रहा।

सह-शिक्षा

इस देश में संहिताकाल से लेकर सूत्रकाल (६०० ई० पू० से ई० सन् का आरम्भ) पर्यन्त स्त्री-शिक्षा का प्रसार प्रचुर मात्रा में था। अतः स्त्री शिक्षा के लिए कहीं भी अलग विधान नहीं मिलता, इससे प्रतीत होता है कि बालक एवं बालिकाएँ सभी एक ही गुरू के समक्ष बैठकर साथ-साथ शिक्षा ग्रहण किया करते थे, गुरू से उपदेश पाते और अपने भविष्य का निर्माण करते थे। सह शिक्षा की झलक हम भवभूति के 'मालती माधव' रूपक में स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।[11]

विवाह

ऋग्वेद के परिशीलन से यह विदित होता है कि लड़कियों को स्वयं वर चुनने का अधिकार प्राप्त था।[12] इससे यह भी प्रतीत होता है कि लड़कियाँ वयस्क हो जाने पर विवाह करती थीं। किन्तु वय-सम्बन्धी निश्चितता के विषय में कोई एक सुदृढ़ नियम न था। ऋग्वेद में ही अल्प वयस्का लड़कियों के विवाह के भी संकेत उपलब्ध होते हैं। कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रह जाया करती थीं।[13]

गृह्यसूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि उस काल में युवती हो जाने के बाद ही स्त्रियों का विवाह होता था, क्योंकि विवाह के अनन्तर कतिपय दिनों के भीतर ही नवपरिणीता के साथ वर के संयोग-संभोग का आदेश मिलता है। वर्ष के भीतर ही सन्तानोत्पत्ति का आशीर्वाद प्रदान किया जाता था। ई० पू० ६०० से प्रथम शती तक प्रायः युवती स्त्रियां ही विवाहिता होती थीं,[14] किन्तु बाद में २०० ई० के लगभग (याज्ञवल्क्य स्मृति का काल) यौवन प्राप्ति के पूर्व ही उनके विवाह का विधान मिलता है।

बहुपत्नीकता तथा बहुभर्तृकता

यद्यपि वैदिक साहित्य के आलोडन से यह बात सूर्य की भाँति प्रकाशित हो जाती है कि उन दिनों तक पत्नीकता का ही आदर्श था किन्तु बहुपत्नीकता के भी उदाहरण मिल ही जाते हैं। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में पत्नी के द्वारा सौत के प्रति अपने प्राण-

प्रिय पति के प्रेम को घटाने के लिए, उसके आकर्षण को सौत की ओर से मोड़ने के लिए मन्त्र पढ़ा गया है।[15] ऋग्वेद से यह बात विदित होती है कि इन्द्र की कई रानियाँ थीं।[16] महाराज हरिश्चन्द्र की पूरी-पूरी एक सौ सप्तर्षियों की पत्नी थीं तथा सभी दशप्राचेतस भाई वार्क्षी के पति थे। किन्तु इस प्रकार के उदाहरण महाभारत के उक्त स्थल को छोड़कर कहीं नहीं मिलते। अतः इनकी ऐतिहासिकता को असंदिग्ध नहीं माना जा सकता। तत्कालीन समाज बहुभर्तृकता की प्रथा को निन्दनीय मानता था। सभा पर्व में कर्ण ने द्रौपदी को वेश्या कहा है, क्योंकि वह एक साथ पांच पाण्डवों की पत्नी थीं।

अन्तर्जातीय–विवाह

अन्तर्जातीय विवाह सूत्र ग्रन्थों के काल तक वैध प्रतीत होते हैं।[17] वसिष्ठ धर्म सूत्र के अनुसार शूद्र स्त्री के साथ उच्च वर्ण के व्यक्ति विवाह कर सकते हैं। किन्तु इस तरह का विवाह धार्मिक कृत्यों के लिये नहीं अपितु आमोद-प्रमोद के लिए, सांसारिक आनन्द के लिए हुआ करता था। धार्मिक कृत्य का सम्पादन तो उच्च वर्ण का व्यक्ति सवर्णा स्त्री के साथ ही करने का अधिकारी था।[18] किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना है कि सूत्रकाल या सूत्रकाल से पूर्व भी अन्तर्जातीय विवाह स्वाभाविक या सामान्य रूप से प्रचलित न थे। जब कोई शूद्र कन्या अत्यन्त सुन्दरी हो, उसके सौन्दर्य, शरीर गठन तथा गुणों की चर्चा चतुर्दिक प्रसारित हो गयी हो तभी कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति उसे अंगीकार करता था।[19] आखिर आमोद-प्रमोद, कूड़ा करकट से नहीं अपितु चित्ताकर्षक वस्तुओं से ही तो होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राचीन संस्कृत साहित्य में अन्तर्जातीय विवाह के नाम पर जो कुछ छूट दी गयी है, उसका केवल इतना ही अर्थ है कि उच्चवर्ण के व्यक्ति निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह कर सकते थे। कोई भी शूद्र उच्च वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी न था।

विवाह सम्बन्धी यह उदारता सूत्रकाल के बाद क्रमशः लुप्त होती गई और स्मृति तथा पुराणों के समय तक आते-आते विवाह सम्बन्धी कठोर नियम बन चुके थे। यद्यपि मनुस्मृति में अन्तर्जातीय विवाह की झाँकी यत्र-तत्र देखी जा सकती है। किन्तु कुल मिलाकर जोड़ने घटाने पर निषेध पक्ष ही प्रबल प्रतीत होता है।[20]

विधवा विवाह

हिन्दू समाज में ऋग्वेद से लेकर आज तक विधवा स्त्रियों की दशा में कुछ विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं आया है। ऋग्वेद में विधवा की जो कुछ धूमिल झाँकी

मिलती है उससे विदित होता है कि वे समाज की उपेक्षिता थीं। समाज के अवांछनीय तत्वों से उन्हें सर्वदः भय बना रहता था। धर्मशास्त्रों तथा पुराणों से विदित होता है कि उन दिनों विधवा स्त्रियों का जीवन कठोर तपस्या का जीवन था। शृंगार तथा प्रसाधन की बात तो दूर रही भर पेट भोजन और आराम की नींद भी उन्हें दुर्लभ थी। तपस्या की तपती आग में शरीर को सुखाकर कांटा बना देना, सौन्दर्य की विकसित कली को भूख की ज्वाला में झुलसाकर सुखा देना ही उनका धर्म था। विवाहादि मांगलिक उत्सवों में उनका दर्शन धूमकेतु की भाँति अमंगलकारी समझा जाता था। यात्रा के आरम्भ में यदि वे सामने आ जाएँ तो उनका मिलन सियारिन के दर्शन की तरह अपशकुन माना जाना था। केवल जीवन यात्रा को चलाने मात्र के लिए आवश्यक सम्पत्ति पर उनका अधिकार था। शास्त्रों में विधवा विवाह के लिये यत्र-तत्र चर्चा पायी जाती है।[21] परन्तु इस प्रकार की चर्चा केवल कुछ अपवाद मात्र है, सूखते हुए वंश-वृक्ष को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रयास मात्र हैं। धर्मशास्त्रकारों का बहुमत विधवाओं के तपस्वी जीवन का ही पक्षपाती था।

स्त्रियों के कुछ विशेषाधिकार

कुछ माने में भारतीय स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे। स्त्रियों की हत्या नहीं की जा सकती थी। मार्ग आदि में उन्हें आगे निकल जाने का अवसर प्रदान किया जाता था। पतित व्यक्ति का पुत्र पतित माना जाता था किन्तु पतित की कन्या पतित नहीं समझी जाती थी। वह स्वाभाविक रूप से समाज ग्राह्य थीं।[22] समान अपराध के लिए स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा आधा ही प्रायश्चित करना पड़ता था। ब्राह्मणों की भाँति स्त्रियाँ कर मुक्त थीं।[23] घाट आदि की उतराई में भी उन्हें कोई कर नहीं देना पड़ता था। स्त्री धन के अधिकार में पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियों को प्रमुखता प्राप्त थी।[24]

जहाँ तक पारिवारिक परिवेश में स्त्री के अधिकार की बात है, उनका स्थान असंदिग्ध रूप से सर्वोपरि था। 'गृहिणीगृहमुच्यते' पत्नी को 'गृह' ही कहा जाता था। वह घर की सार्वभौम साम्राज्ञी थी, परिवार के सदस्यों को उचित पुरस्कार प्रदाता थी। उसका गौरव पिता के गौरव से एक हजार गुना अधिक था।[25] घर का दैनन्दिन एवं वार्षिक बजट उसके हाथों में रहता था। उसे घर की सारी सूक्ष्म बातें ज्ञात रहा करती थीं।[26]

ऐसे ही औचित्यपूर्ण तथ्य को भट्टनारायण ने वेणीसंहार नाटक में बड़े ही व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। जिस समय भीमसेन ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार दुर्योधन के रक्त से द्रौपदी के वेणी-गुम्फन हेतु युद्ध का निर्णय लिया, उस समय धर्मराज युधिष्ठिर ने शान्ति नीति का अनुसरण कर युद्ध के प्रति अनिच्छा व्यक्त की थी। किन्तु

द्रौपदी की भावनाओं का आदर करते हुए भीम द्वारा की गई प्रतिज्ञा के अनुसार युद्ध का निर्णय किया गया। इसी प्रकार अन्यत्र भी स्त्रियों के चिर-प्रदत्त पावनाधिकारों के समादर का ज्वलन्त उदाहरण दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ

1. वृहदारण्यकोपनिषद २।४।१-३। 2. वही ३।६।८।
3. 'काशिका' ४।१।५९ तथा ३।३।२१। 4. 'गोभिल ग्रह्यसूत्र' २।१।१९-२०।
5. काठक ग्रह्य सूत्र २५-२३। 6. ऐतीय ब्राह्मण ३३।१।
7. तैत्तिरीय संहिता ६।६।४।३, ६।५।१।४। 8. ऐतीय ब्राह्मण १२।११।
9. शाकुन्तलम् - ३।१२-१३।
10. स्त्री शूद्रद्विजबन्धूनां त्रयीन श्रुतिगोचरा। भागवत १।४।२५।
11. 'अयि, किं न वैत्सि यदेकत्र नो विद्यापरिग्रहाय।
नानादिगन्तवासिनां साहचर्यमासीत्। 'मालती माधव' (प्रथम अंक)
12. ऋग्वेद् १०।२७।१२।
13. सा हं तस्मिन् कुले जाता भर्तृयंसति मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्यका मुनिव्रतम्। महाभारत, १२, ३२५, १०३।
14. बाल्मीकि रामायण २।११९।३४। 15. ऋग्वेद १०।१४५ तथा अथर्ववेद ३।१८।
16. ऋग्वेद १०।१५९। 17. विष्णुधर्मसूत्र २६।१-४।
18. वसिष्ठधर्मसूत्र १८।१८। 19. स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥ मनुस्मृति २।२३८।
20. न ब्राह्मण क्षत्रिययोराद्यपि हि तिष्ठतो। कस्मिश्चिदपिवृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते। मनु० ३।१४।
21. को वां शयुत्रा विधवेव देवाम्। ऋग्वेद् १०।४०।२
नारी तु पत्यभावे वै देवां कृणुते पतिम्। महाभारत १३।१२।१९
22 वसिष्ठ धर्मसूत्र १३।५१-५३ आप० ध० सू० २।६।१३।४ आदि।
23. आप० ध० सू० २।१०।२६।१०-११
24. मनु० ९।१३१।
25. सहस्रं तु पितृम् माता गौरवेणातिरिच्यते। मनु० २।१४५।
26. महाभारत, वनपर्व (अ० २३३) और कामसूत्र (६।१।३२)

अन्तर ग्रथनात्मक दर्शन के प्रस्थापक श्री अरविन्द

डॉ० अर्चना शर्मा*

समकालीन दार्शनिकों में जिनका ध्यान तर्क और अपरोक्षानुभूति तथा जड़ और आत्मा के द्वन्द्व पर गया उनमें श्री अरविन्द का नाम शीर्षस्थ है। वास्तव में इतनी समृद्ध आध्यात्मिक परम्परा वाले भारत को एक ऐसे मनीषी की आवश्यकता थी जो उच्चतम आत्म-तत्त्व के साथ निम्नतम जड़त्व के समन्वय का अपेक्षित कार्य कर सकता, जो यह दिखा सकता कि जगत को दुखमय अथवा मिथ्या कहना समस्या का समाधान नहीं, उससे पलायन है। यदि ब्रह्म सत्य है तो यह जगत भी, यह जीवन भी ब्रह्म ही है। आनन्द ही सृष्टि का आदि, मध्य और अन्त है। हीन भावना अथवा निराशा के लिये दिव्य विधान में स्थान नहीं है। इस संदेश का सांगोपांग विवेचन तर्क संगत रूप से करना परम आवश्यक था। श्री अरविन्द ने इस कार्य को पूरा किया।

जहाँ तक सृष्टि की व्याख्या का प्रश्न है श्री अरविन्द उल्लिखित जड़वाद अथवा अध्यात्मवाद के समर्थक बनकर उपस्थित नहीं होते। उन्होंने दोनों परम्पराओं की दुराग्रह पूर्ण एकांगकता को पहचान कर उनमें समन्वय करने की चेष्टा की। जब-जब जगत के मिथ्यात्व का प्रश्न उठता है वे शंकर के मायावाद पर प्रहार करते हुए दिखाई देते हैं। दूसरी ओर भौतिकवादियों की एकांगी मान्यता की भी उन्होंने आलोचना की हैं। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'दिव्य जीवन' में भौतिकवादी के निषेध और सन्यासी के निषेध का मूल्यांकन बड़े ही संतुलित रूप में किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि, उनके चिन्तन के मूल प्रेरणा श्रोत उपनिषद् ही हैं। यथा 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय' (छांदोग्य ६।२) एवं 'स ईक्षते मे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति' (एतरेय १।१।२) इत्यादि के आधार पर उन्होंने जगत को परमात्मा की लीला विस्तार का माध्यम माना है। किन्तु एक से अनेक अथवा ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति को समझाने में श्री अरविन्द ने अनेक जगत मीमांसाओं तथा मत- मतांतरों का अपने चिन्तन में सम्यक समायोजन किया है। इसलिये उनके दर्शन को यथा सम्भव समझने के लिये पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों चिन्तन धाराओं के इतिहास का सम्यक ज्ञान अपेक्षित है।

उन्होंने मनुष्य को मनस्-तत्व का प्रतिष्ठापक माना। उनके दृष्टिकोण से सारी सृष्टि सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति है। सारी सत्ता में ब्रह्म की चित् शक्ति विभिन्न रूपों, आकारों तथा श्रेणियों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। उस असीम अपरिमेय ने आनन्दित होकर जगत की सत्ता का विस्तार किया है।

* तराश मन्दिर, वृन्दावन

मायावादियों के समान जगत की अवास्तविकता का भी उन्होंने समर्थन नहीं किया है। वे ऐसे सुविकसित जीवन की कामना करते हैं जिससे पृथ्वी और पार्थिव जीवन दोनों ही अपनी उच्चतम अवस्था को प्राप्त कर लें। मायावादियों के मत का उन्होंने दिव्य माया में परिवर्तन कर दिया। माया को उन्होंने वैश्व मन की धारणा माना है। उनकी मान्यता है कि, जबसे मनुष्य में विवेक बुद्धि उत्पन्न हुई तब से आज तक उसकी उसी आदिम जिज्ञासा ने समान भाव से उसे सृष्टि व सृष्टिकर्ता के विषय में उनके पारस्परिक सम्बन्ध को जानने के लिये व्यग्र कर रखा है। प्रतिदिन होने वाले नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधान प्रकृति पर मानव को अधिक से अधिक नियन्त्रण पाने की सामर्थ्य प्रदान कर रहे हैं। परन्तु आज भी जगत की सुनियोजित रचना के मूल में विद्यमान शाश्वत रचनाकार को मनुष्य किसी सुनिश्चित परिभाषा में बांध नहीं पाया है। ज्ञान के आदि सूत्र ही उसके अन्तिम व शाश्वत सूत्र भी हैं। जगत, अमृतत्व, मृत्यु एवं मोक्ष इत्यादि विषयों पर आदि काल से मानव बुद्धि विचार करती रही है तथा जब तक पृथ्वी पर जीवन रहेगा इन विषयों पर निरन्तर विचार होता रहेगा।

श्री अरविन्द मनुष्य के उच्चतर सत्ता में रूपान्तरण को चेतनात्मक विकास की चरम परिणति मानते हैं। अध्यात्म के नाम पर संसार से उदासीन हो जाना तथा साधना का लक्ष्यमात्र व्यक्तिगत मोक्ष को मान लेना कभी उनके चिन्तन का लक्ष्य नहीं रहा। सारे जगत का तथा समस्त मानव जाति का विकास तथा वर्तमान से उच्च किसी श्रेष्ठतर स्वरूप में जागतिक जीवन का रूपान्तरण उनकी विचारधारा का केन्द्र बिन्दु रहा।

श्री अरविन्द के निरपेक्ष के प्रत्यय की विशेषता है कि, वह सम्यक अन्तर्ग्रंथनात्मक है। अस्तित्व के तथाकथित विरोधी पक्षों में जैसे भाव और परिवर्तन एक और अनेक के बीच कोई वास्तविक विरोध वे नहीं देखते। वस्तुतः व्याघात या विरोध सत्य में नहीं होते वे हमारे ससीम तर्क की उपज हैं। जहाँ ससीम का तर्क इस आधारभूत सत्य को न समझकर परम सत्य में ही व्याघात का आरोप लगाता है वहाँ अनन्त का तर्क इसके विपरीत एकता का प्रयत्न करता है। सत्य के खण्डित स्वरूप के लिये वह मन को दोषी ठहराता है। दिव्य जीवन में युगल निषेधों (जड़वादी का निषेध व सन्यासी का निषेध) की व्याख्या करते हुए प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा है कि, जगत के निर्माण में आत्मा और जड़ तत्व दोनों का ही समान महत्व है क्योंकि, दोनों के सहयोग से ही सृष्टि का अस्तित्व है। अतः किसी एक की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

श्री अरविन्द का दर्शन न पूर्ण रूप से अध्यात्मवादी है न पूर्णतः जड़वादी। इन दोनों अतिवादी मान्यताओं का उन्होंने अपने दर्शन में समन्वय किया है। इसलिये उनके दर्शन को अन्तर्ग्रंथनात्मक दर्शन कहा जाता है। ब्रह्म का सम्यक स्वरूप सामने रखना विश्व की सत्ता के निरूपण के लिये कितना आवश्यक है इस विषय में उन्होंने कहा है जब तक परम तत्व को स्थिर व गतिशील दोनों पक्षों में अनुभव न किया जाय तब तक

विश्व की वास्तविक उत्पत्ति को कोई समझ नहीं सकता। उनके अनुसार सम्यक अद्वैत-वाद वह होगा जो जगत के सत्य को ब्रह्म के सत्य के साथ या आत्मा व जड़ को समान रूप से सत्य स्वीकार कर सके। जड़ ही आत्मा की अभिव्यक्ति है। अतः सत्य के सम्यक दर्शन में न तो आत्मा को छोड़ा जा सकता है न जड़ को।

तैत्तिरीय उपनिषत् में कहा गया है कि, यदि कोई उसे असत् ब्रह्म के रूप में जानता है तो वह असत् ही हो जाता है और यदि कोई मानता है कि, वह सत् ब्रह्म है तो वह जीवन के सत् के रूप में ज्ञात होता है। विशुद्ध आत्मा तथा जड़ तत्व के मध्य समन्वय करने वाला एक ऐसा केन्द्र विन्दु भी है जहां जड़ के लिये आत्मा व आत्मा के लिये जड़ सत्य हो जाता है। इस समन्वय की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है— 'जड़ तत्व संसिद्धि प्राप्त करते हुए विचार और सूक्ष्मी भूत इन्द्रियों के सामने आत्मा के आकार और शरीर के रूप में आत्मा की स्वरूपायणी व्याप्ति के रूप में प्रकट होता है।' (दिव्य जीवन प्रथम ग्रन्थ पृष्ठ ३१) विश्व चेतना में पहुँच कर मन प्राण से पृथक न रह कर उससे एकाकार हो जाता है तथा एक ही ब्रह्म के स्वीकारात्मक व निषेधात्मक पक्षों का विरोध मिट जाता है। एकत्व व बहुत्व को एक साथ जान लेने पर उनके बीच की असंगतियाँ समाप्त हो जाती हैं। इन्हीं असंगतियों के मध्य सच्चिदानन्द केन्द्रीयभूत रचनात्मिका शक्ति के रूप में प्रकट होता है। सृष्टि के विविध उपादानों में वह प्रतीक रूप में अपने को प्रकट करता रहता है। सृष्टि ब्रह्म का ही अन्तर्लयित रूप है जिसमें वह अपनी अभिव्यक्ति के लिए सतत् सक्रिय है। ब्रह्म की सम्पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर लेने पर वह मनुष्य जगत में क्रमिक विकास द्वारा पृथ्वी पर ही दिव्य जीवन प्राप्त कर लेगा।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि, श्री अरविन्द मूलतः वेदान्त की परम्परा के विचारक हैं। जगत सम्बन्धी विवेचन की जो आध्यात्मिक निरूपण शैली उपनिषदों से आरम्भ होकर प्रमुख वेदान्ताचार्यों और वैष्णव सम्प्रदायों द्वारा विकसित की गयी, समकालीन वेदान्तियों ने उसे पुनर्निरूपित व पुनर्गठित करने का श्लाघनीय प्रयास किया। दर्शन प्रणाली के ऐसे निर्माताओं में श्री अरविन्द का नाम मूर्धन्य है। श्री अरविन्द के चिन्तन में हम एक ओर तीव्र सहानुभूति रहित आलोचक का दर्शन करते हैं तो दूसरी ओर एक सम्यक् प्रणाली के समर्थ स्रष्टा का।

अपने ग्रन्थ 'द लाइफ डिवाइन' में उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है तथा विश्लेषण किया है कि, सगुण-निर्गुण तथा एक और अनेक जैसे मानसिक विकल्पों को अन्तिम मान लेने का परिणाम यह हुआ कि शंकराचार्य को निर्गुण अद्वैत तत्व की स्थापना करने के लिए अनेकात्मक जगत को मिथ्या घोषित करना पड़ा। अपनी रोचक शैली में श्री अरविन्द ने स्पष्ट किया है कि, एक प्रकार के मौलिक व्याघात से बचने के लिए मायावादी पुनः एक दूसरे व्याघात में उलझ जाता है। किन्तु जहाँ तक उनके दर्शन

के भावात्मक पक्ष का प्रश्न है उसके मूल प्रत्यय एवं आधार वही हैं, जो शंकर, रामानुज इत्यादि के हैं। श्री अरविन्द मानते हैं कि, अतिमानसिक स्तर पर द्वन्द्व और व्याघात का समाधान किया जा सकता है जो मानसिक स्तर पर असम्भव प्रतीत होता है, उन्होंने स्थिति और गति अन्तर्लयन और विकास कूटस्थ और प्रपंचात्मक तथा एक और अनेक के अनुभवात्मक द्वैत को एक ही दिव्य तत्व के उभय रूपों में प्रतिपादित किया है। जहां कहीं भी इन व्याघातक युग्मों के बीच समन्वय की समस्या उपस्थित होती है। श्री अरविन्द उस समस्या की जटिलता को बुद्धि की अक्षमता पर डाल देते हैं। यदि इन समस्याओं का सच्चा समाधान पाना है तो बुद्धि से ऊपर उठने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है।

ऐसी परिस्थिति में एक निरपेक्षवादी दार्शनिक का इस प्रकार की भाषा का प्रयोग उचित है जैसा कि, श्री अरविन्द ने किया है। जो समस्या मानसिक स्तर पर विश्लेषण व समाधान के योग्य नहीं होती उसके लिए अन्त:प्रज्ञा स्वानुभूति अथवा अपरोक्षानुभूति जैसे ज्ञान के उच्च स्तरों का आह्वान किया जाता है। श्री अरविन्द की धारणा है कि, अति मानसिक या दिव्य ज्ञान से अवलोकन करने पर सम्भव है कि निर्गुण व सगुण नित्य व परिवर्तनशील के बीच अनुभूत द्वैत कृत्रिम प्रतीत हो यह भी सम्भव है कि, इन द्वैतों व व्याघातों के पर्यवसान के लिए बौद्धिक स्तर के अतिक्रमण के अतिरिक्त कोई विकल्प न हो किन्तु दर्शन का विद्यार्थी बौद्धिक प्रश्नों का बौद्धिक उत्तर चाहता है। जिज्ञासाओं अर्थात् तार्किक जिज्ञासाओं की पूर्ति के लिए किसी साधना अथवा सिद्धि की शरण में जाने का निर्देश तो बहुत पहले से दिया जाता रहा है और यदि उसे किसी नवीन शब्दावली में दोहराया जाता है तो भी बुद्धिजीवी प्राणी पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ने वाला है फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, भारतीय दर्शन की सुदीर्घ परम्परा में परम तत्व के स्वरूप के साथ सृष्टि के सम्बन्ध की व्याख्याओं के प्रयास जितने प्रकार से किये गये हैं श्री अरविन्द की महान दार्शनिक पद्धति में हम उन सबका एक संगठित और समीकृत रूप देखते हैं।

श्री अरविन्द साधक और द्रष्टा के साथ ही एक गम्भीर अध्येता भी थे। भारतीय दर्शन के गहन अध्ययन के साथ-साथ पाश्चात्य दर्शन पद्धति का भी उन्हें अधिकृत ज्ञान था। इसलिए उनके जगत विकास के सिद्धान्त में अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ सभी अधुनातन विकासवादी सिद्धान्तों के पचाने व खपाने की अपूर्व क्षमता परिलक्षित होती है। तात्पर्य यह है कि, विकास सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों को हम पाश्चात्य जगत के बिख्यात विचारकों जैसे डार्विन लेमार्क, लायड मार्गन, एलेक्जेण्डर अथवा बर्गसा के माध्यम से जानते हैं उनका एक समन्वित परिपाक अरविन्द के दिव्य विकास के सिद्धान्त में विद्यमान है।

भारतीय दर्शनों में विशेषकर वेदान्त में ब्रह्म अथवा सत् तत्व का निरूपण तो

अत्यन्त महानता व विस्तार के साथ किया गया है किन्तु जब अनुभवात्मक जगत की व्याख्या का प्रश्न आया तो ऋषियों व आचार्यों ने या तो प्रायः उपमा व रूपकों का आश्रय लिया अथवा परिणामवाद या विवर्तवाद जैसे गूढ़ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस स्थिति में श्री अरविन्द द्वारा आध्यात्मिक विकासवाद की स्थापना का प्रयास अपनेआप में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है वास्तव में सांख्य के अतिरिक्त अन्य किसी भारतीय दर्शन में विकास के दृष्टिकोण से विश्व की व्याख्या के लिए गम्भीरता से सोचा ही नहीं गया। श्री अरविन्द ने अपने दिव्य विकास के सिद्धान्त द्वारा भारतीय दर्शन के इस अभाव को पूरा करने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

———

चार ब्रह्मविहार : विश्वोपयोगी शिक्षा

डॉ० विजय कुमार जैन*

दुनियाँ के रंगमंच पर मानव सदैव दुःख और विविध क्लेशों से मुक्ति पाने का मार्ग खोजता रहा है। संसार में सुख समृद्धि के भौतिक उपकरणों में कल्पनातीत वृद्धि हुई है फिर भी संकटों, दुःखों, अभावों, चिन्ताओं की दृष्टि से मनुष्य परेशान है। इस दिशा में विश्व इतिहास में भगवान् बुद्ध ने दुःखाक्रान्त मानव के कष्ट निवारण में अपूर्व योगदान दिया है। भगवान् बुद्ध के धर्म में सार्वभौमिक एवं सार्वजनिक करुणा का संस्पर्श है। इस प्रसंग में विशेष उपयोगी चार ब्रह्मविहारों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

"ब्रह्म" से अभिप्राय "बड़े" या "महान्" होने से है। 'विहार' 'भावना' को कहा गया है। इन भावनाओं में स्वकीय तथा परहित सम्मिलित है इसलिए इनका क्षेत्र बड़ा या महान् है एवं इनको "ब्रह्मविहार" कहते हैं। उद्देश्य की विशालता के कारण इसमें सम्मिलित भावनाओं को "अप्रमाण" भी कहते हैं। इनकी कोई इयत्ता नहीं है। अपरिमित जीव इन भावनाओं से प्रभावित होते हैं।

संसार के प्राणी विभिन्न प्रकार के हैं। कुछ साधारण कोटि के हैं जो सुख चाहते हैं। कुछ दुःख से पीड़ित है और दुःख दूर करना चाहते हैं। कुछ सुखी हैं जो चाहते हैं कि उनका सुख बना रहे, छिन न जाये। कुछ क्लिष्ट या मलिन स्वभाव के हैं। इन सबको देखकर उचित भावना का प्रतिपादन इन ब्रह्मविहारों में वर्णित है।

प्रथम, मैत्री में दूसरों का हित साधन करना, द्वितीय, करुणा में उनके दुःख का अपनयन करना, तृतीय, मुदिता में उनकी सम्पन्न अवस्था को देखकर प्रसन्न होना तथा चतुर्थ, उपेक्षा भावना में सबके प्रति पक्षपात रहित या समदर्शी होना है। इन भावनाओं का आविर्भाव क्रमशः होता है। सबसे पहले प्राणी जीवों के हित करने को सोचता है। तदनन्तर दुःख से आविर्भूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करुणा भावना द्वारा उनके दुःख का अपनयन करता है। पुनः लोगों की सम्यक् अवस्था देख मुदिता भावना द्वारा प्रसन्न होता है तत्पश्चात् कर्तव्य के अभाव में उपेक्षा भावना द्वारा उदासीन वृत्ति का अवलम्बन करता है।[1]

मैत्री—जीवों के प्रति स्नेह और सुहृदभाव प्रवर्तित करना मैत्री है। मैत्री की प्रवृत्ति परहित साधन के लिए होती है। जीवों का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना

*पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

द्वेष और द्रोह का परित्याग इसके लक्षण हैं। मैत्री का सौहार्द तृष्णा-वश नहीं होता अपितु जीवों की हित-साधना के लिए होता है। यह लोभ, मोह वश भी नहीं होती अपितु ज्ञानपूर्वक होती है। इसका समीपवर्ती शत्रु राग एवं दूरवर्ती शत्रु व्यापाद वर्णित है।

करुणा—करुणा की प्रवृत्ति जीवों के दुःख का अपनयन करने के लिए होती है। दूसरे के दुःख को देखकर साधु पुरुष करुणा से द्रवित हो जाता है वह दूसरे के दुःख को सहन नहीं कर सकता। करुणा भावना की सम्यक् निष्पत्ति से विहिंसा का उपशम होता है, शोक का नाश होता है। इस भावना के निकटवर्ती शत्रु शोक, दौर्मनस्य तथा दूरवर्ती शत्रु अविहिंसा है।

मुदिता—मुदिता का लक्षण हर्ष है। जो जीवों की भावना का आदर करता है वह दूसरों को सुखी देखकर हर्षित होता है। दूसरों की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उसको असूया या अप्रीति नहीं होती। ईर्ष्या या द्वेष भी नहीं करता पृथग्जनोचित्त सौमनस्य इसका निकटवर्ती शत्रु एवं अरति, अप्रीति इसका दूरवर्ती शत्रु है।

उपेक्षा—जीवों का उदासीन भाव "उपेक्षा" है। उपेक्षा की भावना रखने वाला योगी जीवों के प्रति समभाव रखता है। प्रिय-अप्रिय में कोई भेद नहीं करता। सबके प्रति उदासीन वृत्ति रखता है। प्रतिकूल एवं अप्रतिकूल दोनों आकारों को ग्रहण नहीं करता। उपेक्षा भावना की निष्पत्ति से विहिंसा एवं अनुनय का उपशम होता है। इसके निकटवर्ती शत्रु अज्ञान सम्मोह प्रवर्तित उपेक्षा तथा दूरवर्ती शत्रु राग एवं द्वेष है।[2]

निकटवर्ती शत्रु छद्मवेश में उस भावना के समान प्रतीत होने वाले होते हैं एवं साधक के चित्त में अधिकार जमा लेते हैं, अतः इनसे सतर्कता रखनी चाहिए। दूरवर्ती शत्रु उस भावना के विरोधी होते हैं।[3]

क्षेत्र—संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि जैसे कोई बलवान पुरुष शंख फूंकते समय जोर लगा दे तो चारों दिशाओं को गुंजा देता है, उसी प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा चेतोविमुक्ति का अभ्यास कर लेने से संकीर्णता में डालने वाले कोई कर्म ठहरने नहीं पाते। आर्यश्रवक लोभरहित, द्वेषरहित, असम्मूढ़, संप्रज्ञ, स्मृतिमान् होकर मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा भावना से चारों दिशाओं को व्याप्त कर ऊपर-नीचे, टेढ़े-मेंढ़े सभी तरह सारे लोक को विपुल अपरिमित चित्त से व्याप्त कर विहार करता है। इसके लिए आर्यश्रवक को जीवहिंसा, झूठ, चुगली, कठोर वचन, गप्प-शप, लोभ, द्वेष एवं मिथ्यादृष्टि को छोड़ना तथा सम्यक् दृष्टिवाला होना अनिवार्य है।[4] राग, द्वेष, मोह, कुछ निमित्त कारण होते हैं इनके विपरीत चार भावनाएँ अपरिमित कारण है।

मज्झिमनिकाय में वर्णित है कि जिस प्रकार स्वच्छ, मधुर शीतल जल वाली रमणीक एवं सुन्दर घाटों वाली पुष्करणी से सभी दिशाओं से आए, घाम में तपे, थके, तृषित पुरुष प्यास, घाम एवं ताप को दूर करते हैं उसी प्रकार क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य शुद्र सभी कुल वाले तथागत के उपदेशित धर्म को प्राप्त कर मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावना कर आध्यात्मिक शांति को प्राप्त करते हैं।[5]

लाभ :

मैत्री, करुणा, मुदिता एव उपेक्षा भावना से व्यक्ति को प्रमोद उत्पन्न होता है। प्रमुदित होने से प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीतियुक्त होने से उसका शरीर प्रश्रब्ध होता है तथा प्रश्रब्ध होने से सुख होता है। जिसे धर्म की समाधि भी कहते हैं, इससे सभी शंकाएँ दूर हो जाती हैं।[6] विशुद्धिमार्ग में इन भावनाओं से व्यक्ति को 11 लाभ बतलाए हैं।

1. सुखपूर्वक सोता है।
2. अंग टूटते नहीं हैं। सोकर सुखपूर्वक उठता है।
3. बुरे स्वप्न नहीं देखता।
4-5. मनुष्यों एवं अमनुष्यों में प्रिय होता है।
6. देवता उसकी रक्षा करते हैं।
7. उस पर अग्नि, विष और शस्त्र का असर नहीं होता।
8. चित्त शीघ्र शान्त हो जाता है।
9. चेहरे पर कांति आ जाती है।
10. मरने के समय सजग वना रहता है।
11. सोकर जागने की तरह "ब्रह्मलोक" में उसकी उत्पत्ति होती हे।[7]

सुत्तनिपात के मेत्तसुत्त में विविध प्रकार की भावनाओं को "ब्रह्मविहार" कहा गया है। वर्णित है कि शान्ति पद के चाहने वाले कल्याण साधक मनुष्य को चाहिए कि वह मृदु वने, उसकी वात सुन्दर, मृदु और विनीत हो। सन्तोषी हो, सहज ही पोष्य हो, सादा जीवन विताने वाला हो, उसकी इन्द्रियाँ शान्त हों। चतुर, अप्रगल्भ और कुलों में अनासक्त हो। ऐसा कोई कार्य न करे जिससे दूसरे विज्ञ लोग उसे दोष दें। उसे विचार करना चाहिए कि—सभी प्राणी सुखी हो, क्षेमी हों, सुखितात्मा हों, जंगम या स्थावर, दीर्घ या महान्, मध्यम या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या अनुत्पन्न होने वाले जितने भी जीव हैं, सभी सुखपूर्वक रहें। एक दूसरे की वंचना न करें। कभी किसी का अपमान न करें। वैमनस्य या विरोध की इच्छा न करें। माता जिस प्रकार जान की परवाह न कर अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार प्राणी मात्र के प्रति असीम प्रेम-भाव बढ़ायें। खड़े रहते, चलते, बैठते या सोते उक्त प्रकार की स्मृति बनाये रहें। इसी को "ब्रह्मविहार" कहते हैं।[8]

चार ब्रह्मविहारों में आगत भावनाएँ जैन परम्परा में भी वर्णित है—मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं मध्यस्थ भाव 'उपेक्षा'। पातंजल योगसूत्र में भी इन भावनाओं का उल्लेख है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भावनाओं से व्यक्ति अपना एवं समस्त मानव समुदाय का हित कर सकता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति सहयोग कर सकते हैं। आधुनिक हथियारों के उत्पादन की अपेक्षा यदि प्रत्येक देश अपने पड़ोसी देशों से मैत्री सम्बन्ध रखे तो वह अपने लिए अभेद्य दीवारें खड़ी कर सकता है जो उसको हिमालय की तरह सन्तरी का काम दें। सामाजिक एवं आर्थिक विषमता दूर हो सकती है तथा सभी लोक तरक्की में साझेदार हो सकते हैं। इसके विपरीत यदि दुनिया में तबाही बढ़ती गयी तो कोई देश इससे अछूते न रह सकेंगे। इस दृष्टि से भगवान् बुद्ध की शिक्षा में भी "चार ब्रह्मविहार" बहुत उपयोगी हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म विश्वोपयोगी धर्म है।

सन्दर्भ :

1, विशुद्धिमार्ग, पृष्ठ ८८-८९।
2. बौद्ध धर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव), पृष्ठ ९४।
3. जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, पृष्ठ ४३३।
4. संयुत्तनिकाय ४०/८।
5. मज्झिमनिकाय १-४-१०।
6. संयुत्त० ४०/१३।
7. विशुद्धिमार्ग (हिन्दी अनुवाद) भाग–१, पृ० २७३-२७४।
8, सुत्तनिपात १-८।

यह लेख ९वें अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध सम्मेलन दिसम्बर १९८३, जापानी मन्दिर, बोध-गया, में पढ़ा गया।

——

काशी की हिन्दी पत्रकारिता और मुंशी प्रेमचंद

डॉ० कु० वीणा व्यास*

काशी की हिन्दी पत्रकारिता का आरम्भ १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सन् १८४५ में 'बनारस अख़बार' के प्रकाशन से आरम्भ हुआ। यह अखबार लीथों पर छपता था तथा नागरीलिपि में निकलने वाला पहला अखबार था। इसकी हिन्दी, उर्दू, फारसी शब्दों की बहुलता के कारण अहिन्दी प्रतीत होती थी। यद्यपि शिवप्रसाद सितारे हिन्द इस पत्र के सम्पादक रहे, किन्तु इन्होंने न तो इसकी हिन्दी भाषा के सुधार का प्रयास किया, न ही इसे जन जागरण का माध्यम बनाया। पत्रकारिता की स्वस्थ परम्परा का शुभारंभ श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १८६८ में 'कवि वचन सुधा, के प्रकाशन से किया। इसमें प्रकाशित अग्रलेख तथा साहित्यकारों की रचनाओं ने जन रुचि जाग्रत की। इसमें भारतेन्दु ने सरकार की नीतियों और सरकारी पिट्ठुओं की आलोचना करने एवं व्यंग्य लिखने की परिपाटी की शुरूआत की। इस प्रकार यह पत्र एक साथ ही जयशंकर प्रसाद; विशम्भर नाथ शर्मा, कौशिक, इलाचन्द्र जोशी आदि साहित्यकारों को आकर्षित करने एवं उनकी रचनाओं को जनता तक पहुँचाने एवं जनभावनाओं की अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम के रूप में सामने आया। इसी सदी में भारतेन्दु जी की ही प्रेरणा से 'काशी पत्रिका' का प्रकाशन १८७६ में आरम्भ हुआ। तत्पश्चात् 'विनोद वाटिका', मिथिला-मोद, नवजीवन, त्रिशूल, मर्यादा, नवनीत, स्वार्थ आदि अनेकानेक पत्र पत्रिकाओं के प्रकाशन आरम्भ हुए। इन पत्रिकाओं के साथ ही सम्पूर्णानन्द, परिपूर्णानन्द, बाबूराव विष्णु, पड़ारकर जैसे मेधावी पत्रकारों की उपस्थिति से काशी की पत्रकारिता का मंच देदिव्यमान हुआ। यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि भारतेन्दु जी द्वारा आरम्भ की गई, राष्ट्रीय भावों से युक्त साहित्यिक हिन्दी पत्रकारिता को आगे बढ़ाने की दिशा में मुन्शी प्रेमचन्द का योगदान अपना विशेष स्थान रखता है।

हिन्दी साहित्य के अग्रणी लेखक मुंशी प्रेमचंद अपने समय के एक सफल एवं यशस्वी पत्रकार थे। यह तथ्य, ज़माना, आवाज़-ए-खल्क, मर्यादा, हमदर्द, सरस्वती, जागरण आदि पत्रों में लिखे गये उनके सम्पादकीय लेखों, टिप्पणियों और पत्रों के सम्पादन से स्पष्ट है। आप पत्रकारिता के क्षेत्र के एक ऐसे राष्ट्रिय सैनिक थे जिनकी राष्ट्रवादी पत्रकारिता ने इस दिशा में नवीन मानदण्डों की स्थापना की। सीधी सरल भाषा में तीखे व्यंग लिखना आपकी शैली की विशिष्ठता रही। इस विशेष शैली का उपयोग आपने यदि सरकारी नीति की विडम्बनाओं और उसकी अपर्याप्तता को प्रगट करने में किया तो दूसरी ओर भारतीयों की संकुचित स्वार्थी मनोवृत्तियों का विश्लेषण

* प्रवक्ता, इतिहास विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा; वाराणसी

करने में भी आप नहीं चूके। राजनीतिक गतिविधियों पर तो आपने सटीक टिप्पणियाँ की ही, समाज की कुरीतियों, स्वभाषा, स्वसंस्कृति, स्वदेश सम्बन्धी विषयों पर भी उत्तेजक लेख लिखे। इस प्रकार साहित्यिक पत्रों के माध्यम से राष्ट्रीयता के उद्घोष का सफल प्रयास आपकी विशेषता है।

जिस समय मुंशी प्रेमचद का आर्विभाव पत्रकारिता के क्षेत्र में हुआ, वह युग भारतीय राष्ट्रीय जागरण का युग था। भारतीय राजनीतिक रंग-मंच, कांग्रेस के नरम एवं गरमदल के आन्दोलनों की कर्मभूमि बना हुआ था। साथ ही क्रांतिकारी आतंकवादी आन्दोलन भी अपनी चरम सीमा पर था। इन विभिन्न आन्दोलनों के कारण सरकार की नीति अत्यन्त कठोर एवं दमनात्मक हो गई थी। सरकार की इस कठोरता का प्रथम प्रबल प्रहार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अपहरण के रूप में आया। १९०८ एवं १९१० में क्रमशः न्यूजपेपर एक्ट एवं इण्डियन प्रेस एक्ट पारित किये गये। इन नियमों ने भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों के प्रकाशन को तो प्रतिबन्धित किया ही साथ ही उन पर इतना अधिक आर्थिक दवाव डाला कि पत्रों का निकालना और प्रेस चलाना कठिन होने लगा।

× × × ×

भारतीय भाषाओं के समाचार पत्रों के दमन के इस विकट युग में भी अभिव्यक्ति के प्रकाशन का आन्दोलन निरन्तर चलता रहा। आगे चलकर यह उग्ररूप धारण करने लगा जिसकी परिणति, 'रणभेरी'; 'रणवम' चण्डिका जैसे क्रांतिकारी पत्रों के प्रकाशन में हुई। इस उत्तेजनात्मक परिस्थिति में मुंशी प्रेमचंद, पत्रकारिता के अनन्त व्योम में अपने लक्ष्य संधान में सफल रह कर पत्रकारों के प्रेरणा स्रोत वने रहे।

आप गांधीवादी विचारधारा के समर्थक और गांधी के असहयोग-अहिंसात्मक आन्दोलन के कट्टर समर्थक रहे। १९२० में जब गांधी ने अपना प्रथम असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया तो अनेक राजनीतिज्ञ तथा नेता उसके विरोधी थे और उसे उपहासास्पद समझते थे। फिर भी गांधी जी ने 'एक वर्ष में स्वराज्य' का नारा दिया और १९२० में जन आन्दोलन के रूप में अपना प्रथम अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन काँग्रेस के मंच से आरम्भ किया। इस आन्दोलन ने अस्त्र-शस्त्रों से लैस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत की निःशस्त्र अधनंगी जनता को 'स्वदेशी' 'स्वभाषा' और 'वहिष्कार' के सशक्त शस्त्र प्रदान किये।

इस समय राजनीति में एक ऐसा वर्ग भी था जो सरकार के साथ सहयोग करके स्वशासन प्राप्ति की ओर वढ़ना चाहता था। इस सहयोगी राजनीतिक नेताओं की मनोवृत्ति का सुन्दर विश्लेषण प्रेमचंद ने मर्यादा में (वैषाख संवत् १९७९) 'विभाजक रेखा' नामक लेख में किया। आप लिखते हैं—

"सहयोगी भी स्वराज्य माँगते हैं", असहयोगी भी स्वराज्य माँगते हैं……… ।

असहयोगी किसी ऐसी व्यवस्था का प्रयोग नहीं कर सकता जिससे उसके मान सम्मान को आघात पहुँचे । उसे अपना आत्म सम्मान बेचकर स्वराज्य लेना भी मंजूर नहीं………।

सहयोगी Practical Publication है। वह अपने निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचने के लिए स्वाभिमान की परवाह नहीं करता । वह नियमबद्ध विधानों का आश्रय लेगा, चाहे यह क्षेत्र कितना ही संकुचित क्यों न हो । ……… उसमें इतना बल नहीं कि वह राजकीय हस्तक्षेप का विरोध करे और उसके नतीजे भुगते । "सहयोग और असहयोग में यही अन्तर है ।"

भारतीय राजनीति की इस अतिशांतिवादी विचारधारा का विरोध प्रेमचंद निरन्तर करते रहे । अवसर प्राप्त होने पर वे इस मत के विचारकों पर आघात करने में कभी नहीं चूके । १९३० अप्रैल में हंस में आप लिखते हैं—

"लिबरलों के विषय में हमें सन्देह है कि कोई अनीति, कोई अत्याचार इन्हें जगा सकता है । इनकी आशा अपार है और धैर्य अनन्त ……लिबरलों की राजनीति डिनर पार्टी और ड्राइङ्ग रूम तक महदूद है।"

इस प्रकार प्रेमचन्द ने समयानुसार अतिशांतिवादी लिवरल विचारधारा का विरोध करते हुये उन समस्त भारतीय नेताओं पर तीव्रता से प्रहार किया जो सहयोग के मार्ग का अवलम्बन करना चाहते थे तथा १९१९ में पारित संविधान अधिनियम के अन्तर्गत चुनावों में भाग लेकर, कौंसिलों में प्रवेश करने की नीति के समर्थक थे । यह पत्र सरकारी तन्त्र में प्रवेश करके समयानुसार सहयोग या असहयोग की नीति का अनुगमन करते हुये स्वायत्तता प्राप्त करने का पक्षपाती था। प्रेमचन्द इस 'सहयोग वर्ग' विशेष के विरोधी और गांधी के असहयोग के अनुगामी थे । आप जीवन पर्यन्त गांधी के आन्दोलन का समर्थन प्रचार और सरकार की विफलताओं के विवरणों को रोचक एवं व्यंगात्मक रूप से जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर राष्ट्रीय एकता का प्रसारण करने में सलग्न रहे । इस सम्वन्ध में आपने स्वदेश के प्रवेशांक में संवत् १९७५ में (वसन्तपंचमी) लिखा—

"हिन्दुस्तान का उद्धार हिन्दुस्तान की जनता पर निर्भर है। जनता में अपनी योग्यतानुसार यह भाव पैदा करना प्रत्येक स्वदेशवासी का परम धर्म है…… ।"

मर्यादा के नव वर्षाङ्क में वैषाख संवत् १९७५ में आपने लिखा—

"नया वर्ष हमारे लिए कर्तव्यों का गुरुतर भार साथ लाया है। वह संगठन ! संगठन की ध्वनि करता आ रहा है……… इस वक्त हमें अपनी बिखरी हुई शक्तियों को समेट कर उनका सदुपयोग करना है ………।"

इस दिशा में नौजवानों को संबोधित करते हुये नवम्बर १९३० में हंस में आपने लिखा—

"......जो लोग बूढ़े हो गये हैं उनमें जोश नहीं, जान नहीं, मान नहीं... .. .. मगर तुम नौजवानों से हम यह आशा नहीं रखते, क्योंकि तुमने उस युग में जन्म लिया है जब पृथ्वी के हर एक भाग से गुलामी की बेड़ियाँ टूट रही हैं।

"......कौम के बनने बिगड़ने की जिम्मेदारी नौजवानों के सिर होती है। वह जवान ही है, जो सत्य के संग्राम में पहले कदम उठाते हैं।"

इस प्रकार प्रेमचंद गांधी के आन्दोलन के साथ-साथ भारतीयों में संगठन एवं एक्य की भावनाओं के प्रचार तथा संकीर्णता का विरोध, अपने विचारोत्तेजक लेखों के माध्यम से करते रहे।

प्रथम असहयोग आन्दोलन के पश्चात् गांधी का दूसरा महत्वपूर्ण जन आन्दोलन नमक सत्याग्रह था। इस सत्याग्रह ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जड़ें हिला दीं एवं ब्रिटिश शासकों को यह सोचने के लिये बाध्य किया कि वे भारत को स्वायत्तता देने के सम्बन्ध में गम्भीर हों एवं ठोस कदम उठायें। गांधी का नमक सत्याग्रह सुप्रसिद्ध दाँडी मार्च से आरम्भ हुआ। इस सामूहिक सत्याग्रह आन्दोलन द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर समुद्र तट से प्रबल प्रहार आरम्भ किये गये। इस आन्दोलन की व्यापकता, सबलता और मौलिकता के सम्बन्ध में आपने अप्रैल १९३० में हंस में "आजादी की लड़ाई" शीर्षक के अन्तर्गत लिखा—

महात्मा गांधी ने ६ अप्रैल को समुद्र के तट पर डण्डी में गुलामी की बण्डी पर पहला हथौड़ा चलाया और उसकी झंकार सारे देश में गूँज उठी।" पहले किसी की समझ में न आया कि महात्मा क्या करने जा रहे हैं। एक गवर्नर ने अपने खुशामदी टट्टुओं को जमा करके अपने दिल के फफोले फोड़ते हुये इस संग्राम को दुःखमय प्रहसन बतलाया। गवर्नर साहब को क्या मालूम था कि यह दुःखमय प्रहसन दो सप्ताह में ही आज़ादी का प्रचण्ड प्रवाह सिद्ध हो जायेगा, जिसे नौकरशाही की सारी संगठित शक्ति भी न रोक सकेगी।...... जैसे बच्चे हार जाते हैं तो दाँत काटने लगते हैं, वही हाल नौकरशाही का हो रहा है। कहीं निहत्थी जनता पर डण्डों और गोलियों की बौछार हो रही है, कहीं जनता में फूट डालने की कोशिश हो रही है। कोई बात हमारी आशाओं के खिलाफ नहीं हुई। अंग्रेजों की दानवता का नाच हम देख चुके हैं। कायरता, कमीनापन, निर्दयता आदि गुणों में इस जाति से बाजी ले जाना मुश्किल है।..........न कोई कानून, न कायदा, न नीति, न धर्म। बस जिधर देखिये लवड़घों-घों एक घबड़ाये हुये आदमी की बौखलाहट........ अन्यायों से तो हमारी विजय है..........सन्निपात मौत के चिह्न हैं।

नमक आन्दोलन की व्यापक सफलता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की टूटती शृंखलाओं पर वार करते हुये प्रेमचंद नमक कर के औचित्य अनौचित्य के सम्बन्ध में आगे लिखते हैं—

"हम तो महात्मा जी की सूझबूझ के कायल हैं। जो बात की खुदा की कसम लाजवाब की। न जाने कहाँ से नमक कर खोज निकाला कि उसने देखते-देखते देश में आग लगा दी। कर का व्यापक नियम है कि वह विलास की वस्तुओं पर लगाया जाना चाहिये। जो चीज जीवन के लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी हवा और पानी उस पर कर लगाया जाना नीति विरुद्ध है। आज भी दुनिया भर में हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है जहाँ नमक कर लगाया जाता है। मुस्लिम स्मृतिकारों ने तो नमक, हवा और पानी पर कर लगाना निषिद्ध बतलाया है।..........मज़ा यह है कि जिस वस्तु पर दो आना लागत आवे उस पर सवा रुपये मन कर लिया जाता है, जो लागत का दस गुना है।"

इसी प्रकार सरकार की दमन नीति की निष्फलता तथा नमक कानून की निस्सारता के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—

जिस नियम को भंग करने वालों को सरकार दण्ड न दे सके, जिसकी रक्षा करने के लिए डण्डे के सिवा कोई दूसरा साधन न हो, वह कानूनी देवताओं में भले स्वरक्षित रहे, पर व्यावहारिक रूप से टूट गया, और सरकार के लिए अब इसके सिवा कोई उपाय नहीं कि इस कर को मंसूख कर दे और अपनी हार स्वीकार कर ले। ('हंस' १९३० अप्रैल)

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान सरकार की कठोरता और दमन नीति का रोचक विवरण आपने "डण्डा शास्त्र" के नाम से अप्रैल १९३० में हंस में प्रकाशित किया—

यों तो इङ्गलैण्ड ने पिछले सौ सालों में बड़ी-बड़ी अद्‌भुत चीजों का आविष्कार किया, बड़े-बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक तत्वों का निरुपण किया, लेकिन सबसे अद्‌भुत आविष्कार जो उसने हिन्दोस्तानी नौकरशाही के संयोग से किया है, और जो अनन्त काल तक उसके यश की ध्वजा को फहराता रहेगा वह नीतिशास्त्र का चमत्कार पूर्ण युगान्तकारी आविष्कार है, जिसे "डण्डा शास्त्र" कहते हैं।......इसने शासन विधान को जितना सरल और तरल बना दिया है कि इस आविष्कार के सामने डण्डोत करने की इच्छा होती है। अब न कानून की जरुरत है न व्यवस्था की। कौंसिलें और असेम्बलियाँ सब व्यर्थ, अदालतें और महकमें सब फिजूल। डण्डा क्या नहीं कर सकता, वह अजेय है, सर्वं शक्तिमान है। बस डण्डेबाजों का एक दल बना लो, मजबूत अटल दल।

कांग्रेस के इस आन्दोलन को शांत करने के लिए सरकार के द्वारा यदि दमन नीति अपनाई गई थी तो वहीं भारतीय नेताओं को संतुष्ट करने और उन्हें विभाजित करने की

नीति का प्रयोग भी किया गया था। इसी द्वितीय नीति के अन्तर्गत सरकार ने भारतीयों के स्वायत्त शासन की माँग के आन्दोलन को देखते हुये सर जाँन साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन इस उद्देश्य से गठित किया था कि वह भारत का दौरा कर नेताओं से सम्पर्क स्थापित कर विचार विमर्श के पश्चात भारत के लिये अनुकूल संविधान की रूपरेखा प्रस्तुत करे। यह स्पष्ट था कि इसी की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भारतीयों के लिए संविधान निर्मित करने और उन्हें स्वायत्तता प्रदान करने का अहम कार्य पूर्ण करेगी। परन्तु दुर्भाग्यवश सरकार ने इस कमीशन में अंग्रेजों को ही सदस्य बनाया, वह भी ऐसे अंग्रेज जिन्हें भारत में न तो रुचि थी, न उसके सम्बन्ध में ज्ञान ही, अतः इस कमीशन का सर्वत्र विरोध हुआ तथा भारतीयों ने इसका पूर्ण वहिष्कार किया। तथापि कमीशन ने भारतीय संविधान के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रदान की जिसे भारत के प्रत्येक वर्ग ने अमान्य किया इसी कमीशन की रिपोर्ट के सम्बन्ध में सरकार की विभाजन नीति को स्पष्ट करते हुए प्रेमचन्द ने १९३० में हंस के जून अंक में लिखा—

"साइमन रिपोर्ट प्रकाशित हो गयी है। खूब धड़ल्ले से विक रही है। ... ... (इङ्गलैण्ड में) बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसकी निन्दा करते हैं पर भारत में एक भी ऐसा प्राणी नहीं जो रिपोर्ट को लचर, रद्दी, घृणित और त्याज्य न कह रहा हो। मुसलमान और सिक्ख भी जिन्हें प्रसन्न रखने की सिर तोड़ कोशिश की गई है रुठे हुए हैं। लिवरलों ने तो उसकी खूब दुर्गति बनाई है।.... इस रिपोर्ट को देखकर अब यह सिद्ध हुआ कि इङ्गलैण्ड में अब विवेक और विचार का दीवाला हो गया है। केवल साम्राज्यवादिता का ही जोर है और पशु वल ही राजनीति का मूलाधार।"

भारतीयों द्वारा कमीशन का वहिष्कार, रिपोर्ट की अस्वीकृति को प्रगट करने वाली इस टिप्पणी में प्रेमचंद ने सरकार की साम्प्रदायिक नीति को भी स्पष्ट कर दिया है, किन्तु प्रेमचंद की कलम यहीं नहीं रुकी उन्होंने सरकार की नीति की आलोचना और उसका दिवालियापन और भी स्पष्ट किया। गोलमेज सम्मेलनों के ऊपर अपनी टिप्पणियाँ देकर—

व्रिटिश सरकार ने भारतीय संविधान पर विचारार्थ इङ्गलैण्ड में गोलमेज सम्मेलन आयोजित किये जिसमें भारतीय देशी रियासतों के प्रतिनिधि एवं अवशिष्ट भारत के प्रतिनिधि भी आमंत्रित हुये। इन्हीं सम्मेलनों में गांधी ने भारत का प्रतिनिधित्व किया और खाली हाथ लौटे। प्रेमचंद भला कब चूकने वाले थे आपने सरकार की इस दिवालियेपन की नीति के सम्बन्ध में तो लिखा ही भारतीय नेताओं को भी चेतावनी दी। आप नवम्बर १९३० में लिखते हैं—

"..... सरकार की जो नीति है उसका तकाज़ा तो यही होगा कि मुस्लिम शर्तों को प्रधानता दे कर थोड़ा सा सुधार और कर दें। ऐसी दशा में आपस में वैमनस्य ही

बढ़ेगा। हम यह स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि भारत सुधार नहीं चाहता वह अपने भाग्य के निर्णय का अधिकार चाहता है। गोलमेज वालों को यह समझ लेना चाहिये कि नुमाइशी सुधारों को स्वीकार करके वे भारत में शांति स्थापना न कर सकेंगे ..।"

इसी सन्दर्भ में भारतीय राजनीति के उदारवादी नेताओं को चेतावनी देते हुये आपने आगे लिखा है कि—

"·······हमारे लिवरल नेता डोमिनियन स्टेटस के साथ Safe Guards की शर्त लगा दिया करते हैं। ······Safe Guards की आड़ में बहुत कुछ किया जा सकता है, यहाँ तक कि डोमिनियन स्टेटस को केवल नाम का गोरखधन्धा बनाया जा सकता है। अतएव Safe Guards से बहुत सावधान रहने की जरूरत है। अगर रुपये की थैली और फौज पर सरकार का अधिकार रहा तो डोमिनियन स्टेटस का कोई अर्थ न होगा।"

सरकार की नीति पर आक्षेप के साथ ही प्रेमचंद ने तत्कालीन भारतीय राजनीति के रंगमंच पर कार्यरत नेताओं की मनोवृत्तियों की भी आलोचना की तथा भारत के विभिन्न वर्गों को अपनी लेखनी की चाबुक मारकर क्रियाशील और सतर्क बनाने का कार्य किया। १९२८ के बाद से भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन निरन्तर गति पकड़ता जा रहा था और १९३० से इस आन्दोलन का उद्देश्य पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो गया था जिसका परिणाम था कि भारत से सुविधा उपभोगी सामन्तीय विचारधारा वाला वर्ग एवं सरकार समर्थक वर्ग, स्वराज्य आन्दोलन की ओर से उदासीन था और उसे सन्देह से देखने लगा था। भारत के भीतर की अराष्ट्रीयता की यह मनोवृत्ति जागरूक पत्रकार प्रेमचन्द की पैनी दृष्टि और कलम से न बच सकी और आपने १९३० अप्रैल में हंस में "स्वराज्य से किसका अहित होगा" नामक अग्रलेख में लिखा—

'कुछ लोग स्वराज्य आन्दोलन से इसलिए घबड़ा रहे हैं कि इससे उनके हितों की हत्या हो जायेगी। ······इसमें अधिकांश हमारे जमींदार, सरकारी नौकर, बड़े-बड़े व्यापारी और आय वाले लोग हैं।"

"इसमें सन्देह नहीं कि स्वराज्य आन्दोलन गरीबों का आन्दोलन है। अंग्रेजी राज्य में गरीवों, मजदूरों और किसानों की दशा जितनी खराब है और होती जा रही है, उतनी समाज के किसी अन्य अंग की नहीं। यों तो सरकार ने किसी को वेदाग नहीं छोड़ा। शिक्षित समुदाय आये दिन अपने अधिकारों को छिनते देखता है, राजे रईसों की रियासतें और जायदादें जब्त हो रही है, व्यापारियों और मिलों के मालिकों को मेनचेस्टर और लंकाशायर का शिकार बनाया जा रहा है; फिर भी जितनी बरबादी किसानों की हुई उतनी और किसी समुदाय की नहीं। कौंसिलों में उनके हितों का रक्षक कोई नहीं। वे उन्हीं को अपना प्रतिनिधि बनाने को मजबूर होते हैं जो उनके हितों का भक्षण करते हैं।"

इसमें किसानों की बरबादी का चित्रण ही प्रेमचंद का लक्ष्य न था आपने सरकार समर्थक, सामन्तीय और पूजीपति वर्ग को चेतावनी देते हुए कहा—

" " स्वाधीन बनकर आधी खा लेना गुलामी की पूरी से कहीं अच्छा है।··· यह आन्दोलन तो खुद आप में पैदा होना चाहिए था उसका विरोध करना आपको शोभा नहीं देता।······वही सरकार जिसके दामन में आप मुँह छुपाये हुये हैं, आपको ठुकरा देगी।··· यदि आप देशद्रोही न बने तो स्वराज्य से आपके भयभीत होने का कोई कारण नहीं है।"

सरकार की उद्योग नीति पर प्रकाश डालते हुए और भारत के सरकार समर्थक व्यापारी वर्ग को सतर्क करते हुए आपने नवम्बर १९३० में हँस में लिखा कि—

"······अंग्रेजी शासन का उद्देश्य केवल एक है और वह है भारत में अंग्रेजी व्यापार का प्रसार और शिक्षित अंग्रेज बेकारों के लिए बड़ी-बड़ी जगहों का आयोजन। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह भारत की गर्दन पर सवार है और उसे यह किसी तरह भी स्वीकार नहीं है कि उसके स्वार्थ में जौ भर की कमी हो। आप उसके स्वार्थ में हस्तक्षेप न करे तो वह एक खास दायरे के अन्दर आपके साथ न्याय मनुष्यत्व और सौजन्यता का व्यवहार करने को राजी है।"

सरकार की उद्योग नीति को और भी स्पष्ट करते हुये प्रेमचंद जून 1930 के अंक में हँस में पुनः लिखते हैं—

पुरानी कहावत है कि बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। इस वक्त ऐसा जान पड़ता है कि अंग्रेजों के बुरे दिन आ गये हैं, नहीं तो अंग्रेजी कपड़े को अन्य देशों के कपड़े से कम महसूल पर लाने का प्रस्ताव पास कराने की जरूरत ही क्या थी गैर सरकारी बहुमत इस प्रस्ताव के विरुद्ध था, पर सरकार ने अपनी जिद से उसे पास करके ही छोड़ा। नतीजा क्या हुआ, आज मदन मोहन मालवीय से लेकर हसन इमाम हमारे साथ हैं··· उसी सन्दर्भ में आप आगे लिखते हैं कि—

"हमारी प्रजावत्सल सरकार से यह नहीं देखा जाता कि उनकी नादान जनता रद्दी स्वदेशी चीजों पर अपना धन नष्ट करे। हमारे विधाता जनता की इस मूर्खता और अदूरदर्शिता से दुखी हो रहें हैं, पर जनता उनकी ओर मुखातिब ही नहीं होती। क्या अब भी किसी को सन्देह हो सकता है कि अंग्रेजी सरकार किसके लिए भारत का शासन कर रही है।"

इन समस्त अग्रलेखों एवं टिप्पणियों का उद्देश्य, सरकार की कूटनीतिक चालों को जनता पर प्रगट करना तथा यह स्पष्ट कर देना था कि भक्षक सरकार कभी भी रक्षक नहीं हो सकती। ब्रिटिश साम्राज्यवादिता जो सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती जा रही है, उसमें किसी भी वर्ग का चाहे वह राजाओं, जागीरदारों, जमींदारों या सरकारी नौकरों का ही क्यों न हो भविष्य सुरक्षित नहीं। प्रेमचन्द की लेखनी ने सीधी सरल भाषा में सरकार की स्वार्थपरक नीति को स्पष्ट करते हुये जनता के सामने प्रगट किया कि ब्रिटिश

शासन का उद्देश्य भारतीयों के परोपकार उन्नयन आर्थिक शैक्षिक विकास के लिए नहीं वरन् उनकी अपनी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये है।

इन वर्षों में चलने वाले जन आन्दोलन को सरकार न तो नियन्त्रित करने में समर्थ थी न ही फैलने वाली जन जागृति को रोकने में अतः सरकार द्वारा आन्दोलन की अनुपयोगिता, अनौचित्य को प्रगट करने की नीति अपनायी गयी तथा प्रेस के ऊपर और भी कठोर प्रतिबन्ध लगाने के कार्य किये गये। सरकार की इस नीति पर उपहासात्मकरूप से प्रहार करती और कठोर दमन को स्पष्ट करती टिप्पणी आपने सितम्बर 1931 में प्रकाशित की —

"वायसराय साहव से फरमाया है कि सत्याग्रह आन्दोलन ने लोगों को कानून के सम्मान और भय को निर्मूल और जनता की कुप्रवृत्तियों को जाग्रत कर दिया है–कानून के सम्मान को इस आन्दोलन ने निर्मूल नहीं किया है, उसे निर्मूल किया है, गैरकानूनी कानूनों ने, पुलिस की लाठियों ने, जेल के डण्डों ने और फौज की गोलियों ने। हाँ! अब जनता उस कानून को कानून न मानेगी, जो किसी व्यक्ति विशेष के दिमाग से निकले हों.............।"

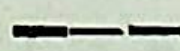
इसी प्रकार 1931 में पारित होने वाले प्रस एक्ट के सम्बन्ध में भी आपने लिखा—

"सरकार ने समाचार पत्रों के लिए एक नया दण्ड विधान सोच निकाला। सरकार का कथन है कि समाचार पत्रों में उत्तेजना पैदा करने के लिए लेख निकलते हैं। हत्याकारियों की तस्वीरें छपती हैं और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी प्रशंसा की जाती है।.... .. इस वक्त भी जो कानून मौजूद हैं, उसके द्वारा सरकार ऐसे पत्रों की जवान बन्द कर सकती है .... लेकिन एक नया कानून बनाकर अधिकारियों को यह अधिकार दे देना, कि वे जिस पत्र को चाहें कुचल डालें और सरकारी नीति की निष्पक्ष आलोचना करने के लिए भी पत्रों को दण्ड दे सकें, खतरे की बात है।.... और यह कानून उस वक्त बनाया जा रहा है जब भारत को स्वराज्य देने की बात हो रही है।"

इस प्रकार प्रेमचन्द ने उक्त टिप्पणी द्वारा सरकार के विरोधी कार्यों को स्पष्ट किया। साथ ही सरकार द्वारा प्रदत्त स्वराज्य सम्बन्धी वायदों, सम्मेलनों की निरर्थकता भी प्रकट करते हुये इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि दमनात्मक प्रतिबन्धक कानूनों की उपस्थिति में प्राप्त स्वराज्य कितना थोथा और विडम्बनापूर्ण स्वराज्य होगा।

इस प्रकार प्रेमचन्द्र, 1936 तक निरन्तर भारतीय समाज, भारतीय वर्गों और राजनीतिक विषयों के सम्बन्ध में निष्पक्ष विचारोत्तेजक लेख लिखते रहे। आपने किसी आर्य समाज, ब्रह्म समाज या पत्रकारिता के विद्यालय अथवा विद्यापीठ की स्थापना नहीं कि अपितु अपनी लेखनी के द्वारा राष्ट्रीयता और गांधीवादी विचारों की अजस्र धारा प्रवाहित की।

शिव प्रसाद सितारे हिन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के संरक्षण में प्रस्फुटित तथा विकसित होने वाली काशी की हिन्दी पत्रकारिता, मुशी प्रेमचंद के द्वारा अपने विकास के चरम बिन्दु को स्पर्श करने में समर्थ रही। प्रत्रकारिता को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने एवं पत्रकारों को साहित्यकारों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने गें, प्रेमचन्द का योगदान स्मरणीय है। आपने अपने संपादकीय लेखों तथा पत्रों के माध्यम से इस तथ्य को प्रतिष्ठित करने का सफल कार्य किया कि पत्रकार राष्ट्ररूपी रथ के संचालन की महत्वपूर्ण धुरी है जिसमें समस्त राष्ट्र को विभिन्न विरोधाभासों के वाद भी एक सूत्र में बाँधने की अपूर्व क्षमता है।



पत्रकार के रूप में मुन्शी प्रेमचन्द का मूल्यांकन एक शोध का विषय है। प्रस्तुत लेख उनके लेखों के कुछ चुने हुये अशों के आधार पर उनकी पत्रकारिता के राष्ट्रीय रूप को स्पष्ट करने के निमित्त लिखा गया है। लेख में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि पत्रकार राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण की एक महत्वपूर्ण धुरी है।

मध्यदेश के भील और उनका भौगोलिक परिवेश

डा० रामयज्ञ सिंह*

परिस्थान :

हिमवद्विंध्ययोर्मध्यं यत् प्राग विनशनादपि।
प्रत्यकेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तिता ॥

मनु ने हिमालय, विन्ध्यविनाशन तथा प्रयाग के मध्य स्थित क्षेत्र को मध्यप्रदेश कहा है। डा० एस० एम० अली के अनुसार मध्यदेश के अन्तर्गत ऊपरी तथा मध्य गंगा वेसिन तथा यमुना-चम्बल वेसिन क्षेत्र सम्मिलित हैं जिसकी पूर्वी सीमा सोनघाटी तक, उ० प० सीमा सतलज नदी तक, उत्तरी सीमा हिमालय तक, पश्चिमी सीमा अरावली तक और दक्षिणी सीमा सतपुड़ा तक विस्तृत है।[1] मत्स्य पुराण के अनुसार (अ० १३) भारतवर्ष को पाँच भागों में विभक्त किया गया है जिसमें मध्यदेश को भी पांच भागों में अलग किया गया है, यथा—

(१) कुरुक्षेत्र (राजधानी—इन्द्रप्रस्थ)।
(२) उत्तर कोशल (राजधानी—अयोध्या)।
(३) मिथिल विदेह (राजधानी—मिथिला)।
(४) मगध (राजधानी—पाटलिपुत्र)।
(५) मालवा (राजधानी— अवन्ती या (उज्जैन)।

किन्तु आज के सन्दर्भ में मध्यदेश के अन्तर्गत मध्यप्रदेश के पश्चिमी भाग, गुजरात के पूर्वी भाग, राजस्थान के दक्षिणी जनपद (उदयपुर, बाँसवाड़ा तथा चित्तौड़) और महाराष्ट्र के उत्तरी जनपदों के कुछ भाग सम्मिलित हैं।

भीलों के प्राकृतिकवास का विस्तार अरावली पहाड़ियों से लेकर सतपुड़ा के अंचलों तक है किन्तु इनके अधिवास मुख्यतया पहाड़ी—पठारी भागों में स्थित हैं। विन्ध्य पहाड़ियों में इनके अधिवास पंच महाल—रतनमाल से लेकर महू के पूर्वी भाग तक मिलते हैं। यद्यपि इनका उल्लेख इस क्षेत्र के ३० जनपदों में मिलता है किन्तु ये मुख्यतया बाँसवाड़ा, झाबुआ, धार, प० नीमाड़, चित्तौड़गढ़ के प्रतापगढ़ तहसील, रतलाम के सैलाना तहसील, इन्दौर के महू तहसील के द० भाग में केन्द्रित हैं, अर्थात् भीलों का निवास स्थान नर्मदा नदी के दोनों ओर लगभग २५,००० वर्ग कि० मी० क्षेत्र में विस्तृत है जिसमें लगभग १६ लाख भील निवास करते हैं। सामान्यतया इनके निवास क्षेत्र पहाड़ी होने के कारण मिट्टियाँ हल्की और अपक्षयित हैं। केवल पहाड़ियों के मध्य निचले मैदानों में, जहाँ काली मिट्टी के अवसाद पर्याप्त हैं, कृषि-उपयुक्त परिस्थिति प्राप्त है। प्रायः इन क्षेत्रों में पहले और भी गत कई दशाब्दों में वनस्पतियों के अनियमित कटान

* रीडर, भूगोल विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

और क्रूर विनाश के कारण भूमि अपरदन चरम सीमा पर है। क्षेत्र के उ० प० भाग में अरावली की श्रेणियाँ वायव्य कोणीय नमन के साथ एकान्तरण से घाटियों-श्रेणियों के समानान्तर रूप में उत्तर की ओर फैली हैं। यह भाग माही और उसकी सहायक नदियाँ अनासादि से अपवाहित हैं। (मानचित्र देखें) ऊँचाई क्रमशः माछल्याघाट (४५० मी०) से घट कर बाँसवाड़ा में १५० मी० शेष रह जाती है। इसे वागड़ क्षेत्र कहते हैं। मध्य-भाग में विन्ध्य जलप्रवाहक एकावेग दक्षिण की ओर ढलुवाँ हो गया है और सरदारपुर के निकट से अरवेली तथा बाघ पहाड़ियों के रूप में अनेक स्पर तथा लघु पहाड़ियाँ अतिकोणीय दिशा में नर्मदा नदी तक फैली हैं। नर्मदा तथा विन्ध्य पर्वत के मध्य का यह क्षेत्र कम ऊँचा है और हथिनी, डही, बाघ उरी तथा मान नदियों द्वारा अपवाहित है। इसका पश्चिमी भाग 'राठ' कहा जाता है। करम और चोरल नदियाँ पूर्वी भाग को अपवाहित करती हैं। मथवार और बड़वानी पहाड़ियों के मध्य यहीं पर नर्मदा खड्ड है जिसके दक्षिण में सतपुड़ा की श्रेणियाँ अखरानी, बड़वानी तथा असीरगढ़ पहाड़ियों के रूप में पश्चिम से पूर्व की ओर फैली हैं। इनकी ऊँचाई में भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। सेंधवा-नेवाली पठार से अनेक पहाड़ियाँ कई दिशाओं में प्रसरित हैं जिनकी चौड़ाई २५ से ३० कि० मी० है और इनका क्रम पश्चिम में गुजरात के भड़ौच तक है। कई चोटियाँ ६०० मी० से भी ऊँची हैं यथा वावनगजा (६३३), अष्टम्वा डूँगर (१३५५) हिण्डलवारा (९९९)। यह क्षेत्र गोई, नाहली, देव तथा कुन्दी नदियों से अपवाहित है।

कुल क्षेत्र का तीन चौथाई भाग दकन लावा से आवृत है फलतः घाटियों तथा ढालों पर क्रमशः काली एवं भूरी हलकी मिट्टियाँ विस्तृत हैं। नदी घाटियों में काँप भी मिलती है। भूविज्ञानीय रचनाओं में क्रिटेशियस लैमेटा (जिसमें झाबुआ तथा धार के बाघ वेड्स सम्मिलित हैं) अरावली, बाँसवाड़ा के नीस, जोबट के नीस तथा नीमाड़ बालू पत्थर आदि शैल-समूह मुख्य हैं।

खनिज :

मैंगनीज के भण्डार बाँसवाडा तथा झाबुआ के थाण्डला तहसील में प्राप्त हैं। मुख्य स्थल काजलीड्ङ्गरी, रम्भापुर, पारन्दी, नागन्वट तथा नानपुर हैं। काजलीड्ङ्गरी के अनुमानित संचित भण्डार ८३७,००० टन है। झाबुआ, जोवट तथा अलीराजपुर में भी इसके भण्डार हैं। अन्य खनिजों में एसवेस्टास, चूनापत्थर, टाक, अभ्रक, कैल्शाइट, क्ले, सोपस्टोन, शीशा तथा जस्ता आदि हैं। लौह खनिज अल्प मात्रा में धार, झाबुआ, प० नीमाड़ तथा बाँसवाड़ा में प्राप्त हैं।

जलवायु :

क्षेत्र की जलवायु उष्ण कटिबन्धीय मानसूनी है। सामान्यतया मृदु तथा सुखप्रद ऋतु ही मिलती है। उच्च भागों में गर्मी की रातें ठंडी होती हैं। विन्ध्यसतपुड़ा की समान्तर श्रेणियों का प्रभाव पछुआ हवा के रूप में परिलक्षित होता है। नैऋत्यीय मानसूनी ऋतु के अतिरिक्त वर्ष के अन्य समय में जलवायु में गर्मी तथा शुष्कता की प्रधानता है। अतः वर्ष में तीन ऋतुएँ (शीत, ग्रीष्म तथा वर्षा) व्याप्त हैं। गर्मी की ऋतु 'उन्हाला'

मार्च से जून तक, जून से सितम्बर तक ठण्डी-नम वर्षा ऋतु और पुनः शीत ऋतु नवम्बर से फरवरी तक स्पष्टतया व्याप्त मिलती है। सर्वाधिक तथा न्यूनतम तापक्रम क्रमशः ४२·८ सेन्टीग्रेट, ११·०५ से० है। वर्षा की मात्रा ८० से० मी० से १०० से० मी० तक है। चक्रवातीय तूफान भी आते हैं किन्तु गर्मी की ऋतु में धूल के अंधड़ प्रायः चला करते हैं। ओले भी कभी-कभी पड़ते हैं।

जीव-जन्तु एवं वनस्पति :

पठारी भागों में सवाना प्रकार की तथा दक्षिणी पहाड़ियों पर नम पतझड़ की वनस्पति मिलती है। मुख्यतया सुरक्षित तथा संरक्षित वनों को उपजातियों के आधार पर दो प्रकारों में देखा जा सकता है।

१. सागौन के बन पहाड़ियों पर मिलते हैं जिनमें सलई, धावरा, बबूल, तेन्दू, कुत्थ, मोयन, अंजन, साजा, बोर, घुघी, खेर, नीम, करौंदा के वृक्ष भी मिलते हैं।

२. मिश्रित बन--मुख्यतया सलई तथा अंजन वृक्षों से पूर्ण हैं और नर्मदाघाटी, प० सतपुड़ा तथा मथवार पहाड़ियों पर मिलते हैं। अन्य वृक्षों में सदर, मोहिनी, बीजा, ककड़, शीशम, कलम, धोवन, आँवला आदि हैं। शहद, चिरौंजी (करोली) तथा महुआ भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। बाँस के जंगल बाँसवाड़ा तथा प० नीमाड़ में हैं। पलाश के वृक्ष सर्वत्र बिखरे मिलेंगे।

मुगल समय में इन जंगलों में हाथियों के झुण्ड घूमते थे किन्तु अब विलुप्त प्राय हैं। ब्रिटिशकाल में बाघ, शेर (नाहर) अधिक थे किन्तु अब नगण्य हैं। यहाँ तेन्दुआ, चीता, जंगली सूअर, चीतल, हिरन, लकड़बग्घा तथा चिन्कारा फिर भी अधिक हैं। साँप, बिच्छू तथा अन्य कीड़े-मकोड़ों का बाहुल्य तो है ही। शिकार वाली पक्षियों में पेंढकी, हरे कबूतर तथा बत्तखादि हैं। मछलियों में फरोली, पतीला, झारियाँ, खैपाती, बादूस, रोहू तथा पन्वाल मुख्य हैं। बन्दर तथा लंगूर प्रायः सर्वत्र मिलते हैं।

मिट्टियाँ :

कृषिगत मिट्टियाँ दो प्रकार की हैं--

१. 'मलेटू' अथवा शुष्क तथा २. 'पियत' या सिंचित। उपयोगिता के आधार पर इन्हें चौरस, ढालू तथा चापेरा (कटी-फटी) नाम दिया जाता है। स्थिति के आधार पर इन्हे 'गंवारु' तथा 'बारा' कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'शियालू' (खरीफ) तथा 'उन्हालू' (रबी) फसल वाली मिट्टियों का नामकरण भी मिलता है। निचली धान-प्रधान मिट्टी को 'सालगट्टा' चराई योग्य भूमि को 'चरनोई' सिंचित तथा खादवाली मिट्टी को 'अदन' तथा 'अमराई' बागवाली आदि नाम प्रचलित हैं। भौतिक गुणों के आधार पर 'चिक्कट' (काली) 'मार', 'पिलोधा' (पीली), 'पाण्ढर', 'आन्धरपाघ', खारड़ी', 'बारड़ी', 'तलख' तथा 'कछार' आदि नाम दिया जाता है। काली मिट्टी में फास्फेट, नत्रजन, जीवांश की मात्रा कम है किन्तु पोटाश तथा चूना अधिक है अतः कपास, ज्वार, गेहूँ, गन्ना तथा मूँगफली के लिए उपयुक्त है। पहाड़ियों पर प्राप्त कंकरीली भूमि ज्वार, बाजरा तथा तेलहन-उत्पादन-योग्य है।

सम्पूर्ण क्षेत्र में रेलों का विस्तार नगण्य है। केवल एक लाइन झाबुआ क्षेत्र में लगभग ५० कि० मी० तक विस्तृत है।

मुख्य सड़कें—१. रतलाम से बाँसवाड़ा तथा डूँगरपुर तक। २. झाबुआ-रानापुर-अलीराजपुर। ३. झाबुआ-जोवट-बाघ बड़वानी। ४. झाबुआ-सरदारपुर। ५. राष्ट्रीय राजपथ नं० ३ हैं। कुछ सड़कें विन्ध्य-सतपुड़ा को पार करके आन्तरिक क्षेत्र को धूलिया खरगोन, महेश्वर तथा इन्दौर से मिलाती हैं। बाँसवाड़ा, झाबुआ. कुशलगढ़, थान्डला, जोवट, अलीराजपुर, बाघ तथा बड़वानी इस क्षेत्र के मुख्य नगरीय केन्द्र हैं।

आर्थिक तन्त्र :

भीलों के आर्थिक तन्त्र पर प्रकृति का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कृषि ही इनका मुख्य पेशा है। लगभग ९६% लोग कृषि में लगे हैं जिसका ४/५ भाग कृषक तथा १/६ मजदूर के रूप में और शेष ४% अन्य सेवाओं में लगे हैं। विभिन्न फसलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल—वितरण से विभिन्न फसलों का महत्व तथा उत्पादन की विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। खाद्यान्न प्रमुख हैं और ६०-८०% कृषि क्षेत्र में बोये जाते हैं। सर्वत्र खरीफ प्रधान फसल है तथा रबी से १०-१५% अधिक विस्तृत है। ज्वार, मक्का, धान, गेहूँ, चना तथा मूँगफली प्रमुख फसलें हैं। दालें तथा कपास भी महत्वपूर्ण हैं। मक्का भीलों का मुख्य खाद्यान्न है तथा ज्वार, मक्का की रोटी तथा नमक मिश्रित छाछ उनका प्रिय भोजन है। पहाड़ी भागों में बाजरा तथा अन्य छोटे-मोटे अनाज महत्वपूर्ण हैं। दो प्रकार का मक्का 'साठी' (साठ दिन में पकने वाला) तथा बाड़ी पैदा किया जाता है जो 'घोली' (सफेद) तथा पीला होता है। पीला मक्का हरे भुट्टे के रूप में स्वादिष्ट होता है। कृषि क्षेत्रफल क्रमशः बढ़ता जा रहा है और अधिकांश सिंचित भूमि खाद्यान्न, विशेषतया गेहूँ उत्पादन हेतु उपयुक्त है। अधिवास के पास प्रायः सिंचित भूमि में मक्का बोया जाता है। ५६% लोग कार्यशील हैं और ५७·२% पुरुष तथा ४६·७% महिलायें कार्यशील हैं। महिलाओं की अधिक कार्यशीलता का कारण बहुपत्नी प्रथा है। भील-कृषक, मजदूर, असामी आदि कई रूपों में मिलते हैं। आदिम जातियों का केवल १.८-५·००% ही मजदूरी पेशा में है। ये प्रायः कटाई के समय मजदूरी करते हैं। इन्हें मजदूरी नकद या अनाज के रूप में मिलती है। मजदूरी का समय ९–१० घण्टे होता है। प्रायः मालवा, नीमाड़ तथा गुजरात के उपजाऊ भागों में मजदूरी के लिए सामयिक स्थानान्तरण होता है। अधिकांश भील कृषि के साथ पशु-पालन में लगे रहते हैं। कृषि के अतिरिक्त वन-संपदा द्वितीय प्रमुख जीवन-यापन का स्रोत है। तीसरे क्रम में तीसरी श्रेणी के लोग आते हैं। बड़वानी, जोवट तथा अलीराजपुर में अधिक लोग इस श्रेणी में आते हैं। अधिकांश लोग ईंधन की लकड़ी काटने, बेचने, अंजनतेन्दू की पत्तियाँ एकत्रित करने, घास काटने बेचने तथा कुछ लोग खान खुदाई कार्य में लगे हैं। मत्स्याखेट भी मुख्य कार्य है। शेष लोग सड़क मरम्मत तथा निर्माण कार्य (पुल, बाँध, बन्धी तथा तालाब आदि) में लगे हैं। पत्थर काटने का कार्य भी पर्याप्त आकर्षक है। शिकार, खपरैल निर्माण तथा मकान मरम्मत कार्य भी भीलों के अन्य कार्य हैं। (सारिणी)

(सारिणी)

भीलों की श्रेणीवार व्यावसायिक संरचना
Categorywise Occupational Structure of Bhils[1]

District/ Tahsil जनपद/तहसील	कुल जनसंख्या का % Total Population % Rural ग्रामीण	Urban नगरीय	Total योग	% Total workers कुलकार्यशील	I-IX	I	II	III	IV	V	VI	VII	VIII	IX	X
West Nimar वेस्ट नीमार	98.54	1.46	399,116	57.2		79.7	15.9	1.5	.26	.08	.1	.09	—	2.1	42.8
Dhar धार	98.27	1.73	328,867	58.8		78.8	17.6	1.2	.21	.08	.1	.05	—	1.7	41.2
Ratlam रतलाम	99.9	.1	57,875	50.8		96.0	1.3	.8	.08	—	.3	.07	.05	.5	49.2
Jhabua झाबुआ	98.7	1.3	435,707	56.14		88.40	2.62	2.10	1.83	.34	.27	1.3	.3	2.8	43.8
Raisen रायसेन	94.3	5.7	825	55.7		36.3	24.7	13.9	.2	—	5.8	.2	1.5	18.4	44.3
East Nimar ईस्ट नीमार	100	—	359	66.5		53.1	32.6	5.8	—	—	7.5	—	—	.8	23.5
Banswara बाँसवारा	99.9	.1	339,486	57.1		90.3	1.8	2.0	1.0	.1	—	1.8	.4	.3	42.9
Chittorgarh चित्तौड़गढ़ (Partabgarh & Achnera)	100	—	5918	54.8		44.3	23.3	14.8	.3	—	6.0	.2	1.1	10.0	45.2
Others[2] अन्य	100	—	133	—		—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
Total योग	98.91	1.09	(1568286)	—		—		—		—	—	—	—	—	—

1. Census of India 1961, District Census Handbooks for the concerned distts.
1. सेन्सस आँफ इण्डिया १९६१, डिस्ट्रिक्ट सेन्सस हैन्डबुक ।
2. Other districts are Vidisha, Indore, Ujjain, Mandsaur, Guna, Sehore, Dewas, Rajgarh, Shajapur and Jhalawar-all having less than 50 Bhils each.
2. अन्य जनपद जिनकी भील-संख्या प्रत्येक में ५० से कम है—विदिशा, इन्दौर, उज्जैन, मन्दसौर, गुना, सीहोर, देवास, राजगढ़, शाजापुर तथा झालावाड़ हैं।

दैनिक श्रमविभाजन भीलों के आर्थिकतंत्र का उल्लेखनीय पक्ष है जिसके कारण परिवार के लोग सम्पत्ति अर्जन में अधिक समय दे पाते हैं। ये सामाजिक रीति-रिवाज तथा परम्परा पर आधारित हैं। कुदाल, फावड़ा, जुताई, खेत समतल करना, फसल सुरक्षा, मकान निर्माण एवं मरम्मतादि के कार्य तथा शिकार पुरुषों द्वारा तथा निराई, अनाज निकालना, तैयार करना, लकड़ी एकत्रित करना, वेचना, दीवाल मरम्मतादि कार्य महिलाओं द्वारा संपादित होते हैं। कटाई-बुवाई, बागवानी, मछलमारी, मुर्गीपालन सभी मिलकर करते हैं। बच्चों का कार्य पशुचारण, घास काटना तथा पत्तियाँ एकत्रित करना है।

खेत और खेती :

अधिकांश भील खेतिहर हैं अत: ये खेतों में ही मकान बनाकर रहते हैं। खेतों के आकार ढाल पर आधारित हैं। वंशानुगत अधिकार के कारण खेतों का बिखराव सर्वत्र है। कभी-कभी ये भील पट्टेदार, माफीदार के रूप में भी खेत जोतते हैं। सेवा खातेदार तथा भूदान वाले खेतिहर भी हैं। अब अधिकांश भील भूमि स्वामी होते जा रहे हैं।

मानसूनी वर्षा प्रारम्भ होते ही भील अपने बाखर (हल) से जुताई तथा त्रिपण (तीन मुह वाला बीज त्रिपणक) से बुवाई करने लग जाते हैं। फिर भी वे देशी, पुराने प्रकार के यन्त्र-हल, कोडपा, कुसलों, हँसुआ का प्रयोग करते हैं। ढालों पर पथरीली भूमि की जुताई में दो जोड़ी बैलों का प्रयोग एक अनूठी चीज है। इस कार्य में दो चालक तथा एक आदमी मध्य की रस्सी पर बैठने के लिए कार्यरत रहते हैं। बीज का छिड़काव ही प्रमुख बोने की विधि है। खेतों का प्रतिरूप फसल के प्रकार पर आधारित है। अधिवास के पास सब्जी, मक्का तथा ज्वार की खेती तथा दूर खेतों में अन्य फसलें होती हैं। भील स्वयं मिलकर अपने कुएँ बनाते हैं। तालाब तथा नालों का पानी भी प्रयोग में लाते हैं। खाद का प्रयोग भी होने लगा है। मालवी, नीमाड़ी तथा राठ नस्ल के पशु अधिक मिलते हैं। मुर्गी पालन के शौकीन भीलों के टापरा पर बाँस से लटके झाबे दूर से ही दृष्टिगोचर होते हैं।

फसलचक्र सर्वत्र व्याप्त है। वर्षाभाव के समय केवल खरीफ फसल ली जाती है। कभी-कभी खेत पूरे वर्ष तक परती छोड़ देते हैं। मिश्रित फसलों में ज्वार तुअर मुख्य हैं किन्तु तुअर उर्द भी मिश्रित फसल है। कपास + उर्द, तिल + मक्का + उतैला भी ऐसी फसलें हैं। तिल + मूँगफली, कपास + अरहर, तिल + उतैला, अलसी + गेहूँ भी पैदा करते हैं। जलवायु, उच्चावच तथा मिट्टियों की विभिन्नता फसलों की विविधता के रूप में प्रकट होती है।

सामाजिक ढाँचा :

प्राचीन काल में ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों तथा प्रभावों के कारण भील कई उप-जातियों में विभक्त हो गये हैं। इनमें प्रमुख भिलाला, पाटलिया, मानकर, राथी,

निहाल तथा तड़वी आदि हैं। भील, भिलाला तथा बारेला अधिक संख्या में मिलते हैं। इनके बारे में पृथक वर्णन के पूर्व भीलों की उत्पत्ति के बारे में कह लेना अधिक समीचीन होगा।

बेंकटाचार[2] अपनी जनगणना रपट प्रस्तुत करते हुए भील शब्द की उत्पत्ति द्रविड़ शब्द जिसका अर्थ धनुष होता है, से बतलाते हैं (तामिल तथा कनारी में 'बील') प्राचीन तमिल कवियों ने कुछ वर्वर पुरा—द्रविड़ लोगों को 'विलावर' धनुर्धर के रूप में उल्लेख किया है जिसका तादात्म्य आधुनिक भीलों से किया जा सकता है। यदि ऐसा है तो भील शब्द द्रविड़ों द्वारा प्रयुक्त किया गया होगा।[3] मालकम (सेण्ट्रल इण्डिया, वा० १, पृ० ५१९) के अनुसार भील, जोधपुर, उदयपुर से स्थानान्तरित होकर अपने वर्तमान परिस्थान में निवास करते हैं। यह कहना कठिन है कि भील भारत के ही आदिवासी हैं। कुल १२२ उपशाखाओं में वितरित भीलों का उल्लेख है। सर्वप्रथम भील शब्द का प्रयोग ए० डी० ६०० में मिलता है। इन्हें इतेसिया (४०० बी० सी०) के पिग्मी, टालेमी के योलिन्दाई, फीलाइट (ए० डी० १५०) कह सकते हैं किन्तु संस्कृत साहित्य में अति प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण में पुलिन्द कबीले का उल्लेख है तथा अशोक द्वारा भी ऐसे नाम लिखे गये हैं। किन्तु इन्हें भील कहना विवादास्पद है। याशिका के निरुक्त में निषादों को चार वरुओं[4] से पृथक कहा गया है। 'ला' के अनुसार निषादों के टिप्पणीकार महीन्द्र ने 'भील' अथवा 'भिल्ल'[5] कहा है। एन्थोवेन के अनुसार भील शब्द का प्रथम उल्लेख कथा-सरित-सागर में मिलता है[6]। पौराणिक आख्यानानुसार स्वायम्भू मनु के वंश में उत्पन्न अंग के पुत्र वेण की जाँघ से भीलों की उत्पत्ति हुई है। वेंकटाचार के अनुसार भील प्रजाति मुण्डा प्रजाति की एक उप-जाति हैं जो पुरा द्रविड़काल में भारत के मध्यभाग में वास करती थी। किन्तु झाबुआ के भीलों में एक धुँधली सी यादगार अपने प्राचीन भूमि की है जहाँ से स्थानान्तरण के पश्चात् ही वे वर्तमान क्षेत्र में बसे हैं। उनकी कथानुसार प्रथमतः भील दमोर थे। भीलों की एक शाखा वारक्या थीजो दमोर[7] की सहवासी थी। रसेल तथा हीरालाल के अनुसार भील दक्षिणी राजस्थान के प्राचीनतम मूल निवासी थे। परम्परानुसार भीलों के पूर्वज तथा जन्मदाता महादेव थे जिन्होंने एक वन-कन्या से प्रेम-विवाह किया था। भील उसी कन्या की संतति हैं[8]। पराशर संहिता में उल्लेख है कि भील एक ब्राह्मणी तथा त्रिवार पिता से उत्पन्न हुए थे। वाल्मीकि स्वयं भील थे जिनका नाम 'वालिया' (वहेलिया) था[9]। कहा जाता है कि राम-भक्तिन सेवरी भी एक भील महिला थी। स्वयं कृष्ण भी भील-वाण के शिकार हुए थे। उपरोक्त प्रसंगों से इतना सुस्पष्ट है कि भील प्राचीन निवासी हैं किन्तु उनकी उत्पत्ति विवाद की वस्तु है। मजुमदार ने सच ही कहा है कि जितना ही आँकड़ों का विश्लेषण किया जाय भील प्रजाति पुरा-द्रविड़ समूह से उतनी ही दूरस्थ होती जाती है जबकि सवर्ण उच्चजाति के सन्निकट पहुँच जाती है।[10] उन्हीं के अनुसार 'भील' एक जातीय संज्ञा है जिसे आक्रामक लोगों ने प्राचीन तथा साधारण निवासियों को प्रदान किया है। ये श्यामरंग, नाटेकद, ऊँची ठुड्डी, चपटी नाक तथा घनेबाल वाली प्रजाति के लोग हैं।

भाषा सम्बन्धी साहचर्य दूसरे प्रकार के संकेत प्रदान करते हैं जिनमें शीर्षाभि-सूचक महत्वपूर्ण हैं। शाह के अनुसार भीली बोलियाँ, राजस्थानी, गुजराती, मालवी, खानदेशी तथा मराठी के बीच की सततकड़ी हैं[11]।

थाम्पसन का मन्तव्य है कि भील मेहराब-तुल्य हैं जो भारतीय आदिम जाति तथा आर्य रूपी दो स्तम्भों पर आधारित हैं[12]। इसी प्रकार हर्वर्ट रिसले, फ़ूक्स, डा० गुहा, स्टीफेन फुच्स, डी० एन० मजुमदार, ग्रियर्सन तथा टी० एन० देव आदि के अनेक मत हैं किन्तु इस बात पर सहमति है कि भील मिश्रित प्रजाति के भारतीय आदिवासी हैं जो रामायण, महाभारत काल में भी अच्छे धनुर्धर थे। इनका मूल स्थान मारवाड़ अथवा जोधपुर था जहाँ से वे आर्यों द्वारा वर्तमान प्राकृतिकवास को भगाये गये। स्वतन्त्रता तथा प्रजातीय सम्मान की रक्षा हेतु इन्हें सदैव जंगल की शरण लेनी पड़ी। मुस्लिम शासन के समय ये भील कई झुण्डों तथा गिरोहों में वँटकर झब्बू[13] नायक की भांति नायकों के मातहत रहकर लूटपाट किया करते थे। धर्मवीर महाराणा प्रताप अपने वनवास के समय इन भीलों के सम्माननीय अतिथि ही नहीं राजा थे। सभी मुस्लिम विरोधी लड़ाइयों में उन्हें भीलों की सहायता प्राप्त थी। ब्रिटिशकाल में अत्यधिक विरोध के पश्चात् ये भील कृषक के रूप में परिवर्तित हो गये हैं।

उपप्रजातियाँ—

भील—सभी उप जातियों को सामान्यतया भील कहा जाता है किन्तु ये विशेष नाम से बाँसवाड़ा, उ० झाबुआ, धार, सैलाना, प० नीमाड़ के कुछ भागों में मिलते हैं।

भिलाला[14]—इस उप जाति में सर्वाधिक राजपूती रक्त मिश्रण मिलता है। इनकी उत्पत्ति किसी दोष के कारण राजपूत से पृथक भिलाला के रूप में हुई है। भिलारा=भील+आरा (दोष)=भिलाला। ये मुख्यतया जोबट, बड़वानी, राजपुर सेन्धवा और खरगोन तहसीलों में मिलते हैं। इन्हें भीलों से अधिक सामाजिक स्थान प्राप्त है। इनमें अनेक अच्छे कृषक हैं और राव तथा रावत की पदवी धारण करते हैं। इसी कारण अनेक भील अपने को भिलाला कहते हैं।

बरेला :

१९२१ की जनगणना के बाद इनकी संख्या बढ़ी है। ये मुख्यतः बड़वानी तथा सेन्धवा तहसील में हैं। बरेला अधिक आदर के पात्र हैं।

मानकर :

यह नाम इन लोगों के एक विशिष्ट धन्धे में रुचि लेने के कारण पड़ा है। अन्य भील इन्हें 'धनकवास' कहते हैं। किन्तु ये लोग अपने को 'नाहाल' कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

राठिया :

ये लोग सन् १९३१ में बड़वानी स्टेट लौटे। इनका नाम शायद 'राठ' में लम्बे समय के निवास के कारण पड़ा।

तड़वी :

यह नाम 'तड़' से वना है तड़ का अर्थ भीलों का मुखिया है। इनकी दो उप-जातियाँ रथवी तथा भगोरी तड़वी हैं।

पाटलिया :

भिलाला की भाँति ये भी राजपूती खून से मिश्रित जान पड़ते हैं। इनकी उप-जातियाँ टँडिया परमार, टिपरा परमार आदि हैं।

पेशे तथा व्यवहार के आधार पर भीलों को तीन भागों में विभक्त किया गया है। 1. ग्रामीण मजदूर जो वड़े खेतिहर पर आश्रित हैं अथवा सड़क, बांध, पुल के निर्माण कार्य में लगे हैं। 2. जो भू-स्वामी खेतिहर हैं। 3. पहाड़ी भील जो जंगली शिकार तथा वन सम्पदा पर निर्भर हैं। इनका लिंग अनुपात 939 से 958 तक मिलता है। सभी भील विजातीय विवाह वाले हैं। ये किसी वृक्ष अथवा जानवर को गणचिन्ह (टोटेम) मानते हैं। विवाह की उम्र 14 से अधिक होती है। केवल 3% लोग ही 14 से कम उम्र की शादी वाले मिलते हैं। विधवा विवाह प्रचलित है। पहले शक्ति-प्रयोग के आधार पर विवाह हुआ करते थे। किन्तु अव भगोरिया हाट[15] की परम्परानुसार अधिक होते हैं।

भगोरिया हाट

भीलों के जीवन की आकर्षक घटना इस हाट से सम्बन्धित हैं। सामूहिक स्वयंवर का जीता-जागता उदाहरण यहाँ मिलता है जब युवक-युवती अपना जीवन साथी ढूढ़ते हैं। भगोरिया का अर्थ ही है चुनकर ले भागना। यह मेला स्थान-स्थान पर होली के उत्सव-दिन के दूसरे दिन पड़ता है। युवक, युवतियाँ हर्षोल्लास के साथ लगभग दौड़ते हुए मेले में पहुँचते हैं। युवक अपनी चहेती के चेहरे पर गुलाल लगाता है और यदि उसे मान्य है तो वह भी गुलाल लगाती है। यदि नहीं तो युवक अनेक प्रयास करता है अथवा 'भँगाइयाँ' के माध्यम से लड़की तक पहुँच पाता है। इस प्रेम-बन्धन के तीन सोपान हैं। (1) गुलाल आदान-प्रदान, मेला घूमना तथा मौका पाकर भागना। (2) जंगलवास के बाद वर-पिता द्वारा वधू पिता से मांग करना तथा कबीले के मुखियादि के साथ विवाह तय करना। (3) कभी-कभी न मानने पर युवक साथियों की सहायता से लड़की को उठा ले जाता है और उसके पिता की माँग के अनुसार दहेज देता है। यदि वर पूर्ण भुगतान नहीं कर पाता तो कन्या पक्ष के पास सेवा कार्य करना पड़ता है। इसे 'सालकाटना' कहते हैं। कभी-कभी दो एक संतति के वाद भी तयशुदा शादियाँ होती हैं। झगड़े भी होते हैं जो कत्ल तथा मुकदमें के रूप में सामने आते हैं। तलाक की घटनाओं में कन्या-पिता पूर्व पति से 'इज्जत का पैसा' लेता है। पंचायत द्वारा भी इसका निर्णय होता है। कन्या या बहू का मूल्य उम्र के अनुसार तीसरे चौथे विवाह तक बढ़ जाता है क्योंकि नये पति द्वारा पुराने पति को मुआवजा देना पड़ता है। इसे 'झगड़ा तोड़ना' कहते हैं।

शराब भील जीवन का एक अंग है और मेलों के अवसर पर सभी पीकर मस्त रहते हैं।[16] अधिकांश भील अशिक्षित एवं अनपढ़ हैं। ये बिना रोक टोक सभी प्रकार का मांस खाते हैं। साँप तथा मेढक का शिकार अधिक स्वादिष्ट समझा जाता है और दावत में दिया जाता है।[17] मक्का, ज्वार, चावल, छाछ, मिर्च, इमली की चटनी, खजूर, महुआ, चारोली तथा वन-फूल-फल भोज्य पदार्थ हैं। कमी के समय भील वर्बर हो जाते हैं।[18] 'रोटो' (रोटी) 'चोखा' (भात) 'घाट' (उबला गेहूँ) 'पीथी' (आटा) भाजी तथा दारू इनके विशेष ढंग तथा आत्मनिर्भरता के प्रतीक हैं। दारू तैयार करने के लिए महुआ, गेहूँ, चावल का प्रयोग करते हैं। नगरीय भागों में दुकान की शराब भी पीते हैं। फसल कटाई के बाद पीने में तीव्रता आ जाती है। तम्बाकू पीने के शौकीन ये भील हुक्का चिलम अपनाते हैं। अधिक शराब पीने वाला सम्मान का पात्र बनता है। यद्यपि ये अधिक मेहनती, फुर्तीले होते हैं किन्तु बाधाओं से बेचैन हो जाते हैं।

नाचना-गाना भीलों का जन्मसिद्ध अधिकार हैं। दिनभर की कड़ी मेहनत के बाद भी देर रात तक नाचना-गाना चलता है। देव-पूजा अथवा विवाह के समय तीर धनुष, कृपाण, ढोल, मजीरा, मृदंगादि के साथ रात भर नाचते हैं। किन्तु ये अंधविश्वासी और जादू-टोना मानने वाले हैं। इसीलिए मन्त्र द्वारा आग, कीड़ों, मक्खियों, जन्तुओं, प्राकृतिक विपदाओं पर नियन्त्रण रखने वाले जादूगरों को सम्मान देते हैं। चोरवालिया तथा विट्ठल दो प्रकार के देवताओं की पूजा की जाती है। खतरिया देव, पिरसरी, शीतला माता, या मातामाया, रानी का दल, मात्को बापदेव, कुलपालो या काको बापदेव, मेसता कुहाजा, खेड़यादेव, कोलावेइड़ी आदि मुख्य देवी देवता हैं। देवों की स्थापना उच्चस्थल पर की जाती हैं और बाँस के साथ झंडा लगा देते हैं। आषाढ़ में इन्द्र की भी पूजा करते हैं। पुरुषों का दाह संस्कार करते हैं किन्तु स्त्रियों-बच्चों को भूमि में गाड़ देते हैं। मृत्यु की सूचना मांदाल से देते हैं। लाश दो दिन तक रखते हैं। पचकल कुमारिया तथा मडारिया श्मशान पृथक होते हैं। प्रत्येक गड़े शव पर पहचान हेतु एक पत्थर रखते हैं। लड़कियों के माता-पिता उसके ससुराल से शव ले जाकर संस्कार करते हैं। धारणा है कि मांस का दान होता है न कि हड्डी का।

वस्त्र तथा आभूषण :

पुरुष भील साधारण वस्त्र धारण करते हैं किन्तु स्त्रियाँ अनेक आभूषण पहनती हैं आन्तरिक भागों में तो ये नग्न प्राय रहते हैं। केवल लिंगोट तथा पगड़ी ही पहनावा है। कुछ जागरूक लोग कमीज (शर्ट) बन्डी, फेटा, कस्टी (धोती) भी धारण करते हैं खासड़ा (जूता) भी पहनते हैं। युवक कलाई में निकल का कड़ा धारण करते हैं। महिलाएँ कौड़ी (चूड़ी), बीचा (पैर की अँगुली में) कड़िया (किहुनी पर), बो (माथे पर), बाउटी (बाँह पर) कड़ी (बाउटी के ऊपर नीचे) जिसे वहुठिया भी कहते हैं, पैर के अँगूठे में छल्ला, कण्डोरा (करधनी), तागली (गले का हार हुमेल) झल्ला या टोकड़ी (कान में) कन्ता या लवंग (नाक में), हाथ साकली (ऊपरी हथेली तथा उँगली पर) आदि पहनती हैं। घाघरा या लहँगा, चोली या कचोली (प्रायः कसी हुयी) मुख्य वस्त्र हैं।

अव वालों में फण्डा (रिवन) भी लगाती हैं। वड़े वूढ़ों से परदा भी करती हैं। गुदना की प्रथा पूर्णतया व्याप्त मिलती है जिससे अंग-अंग भरा दीखता है।

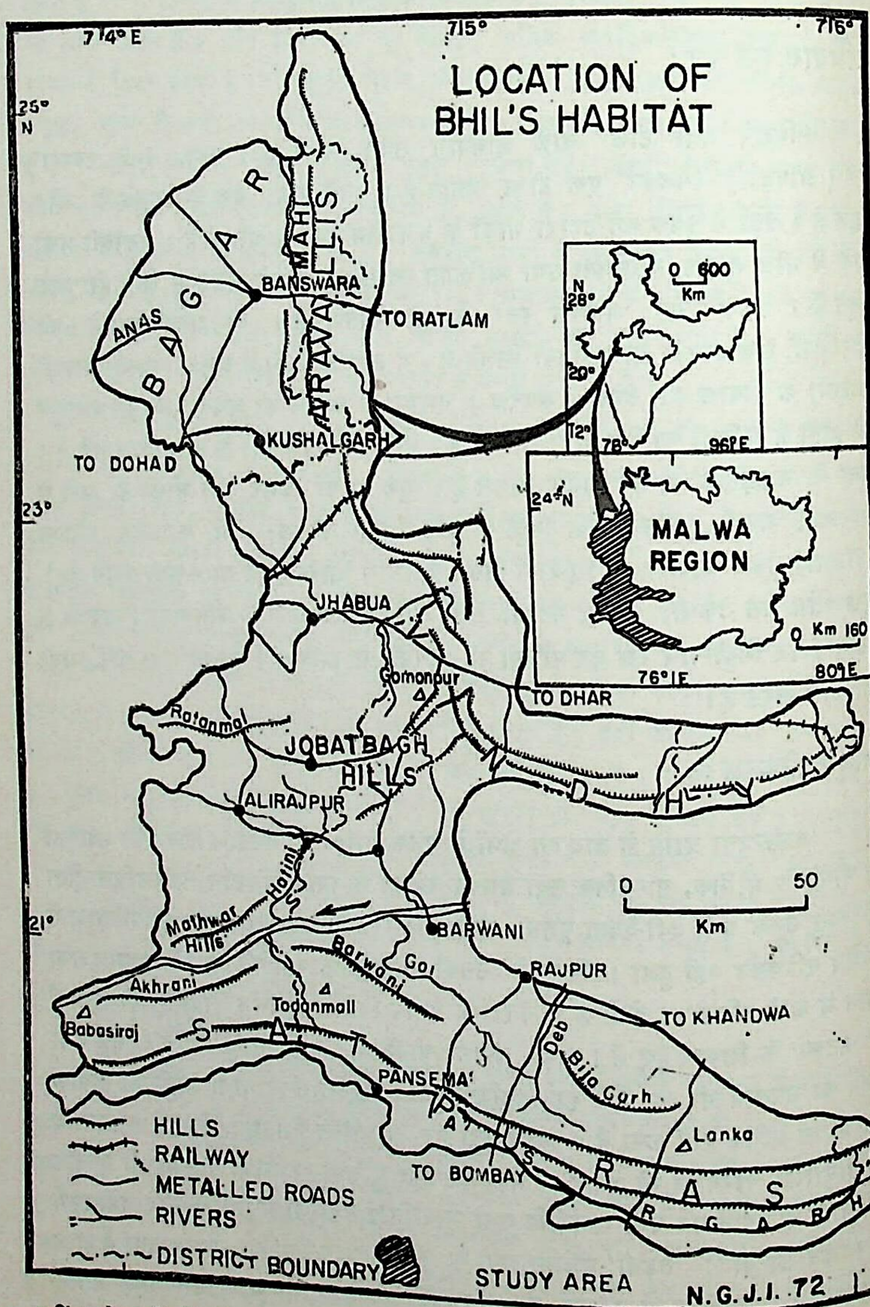
अधिवास एवं घर :

विखरे तथा टोले वाले अधिवास सर्वत्र मिलते हैं। प्रायः 1-5 'टापरा' घर (झोपड़ी) मिलकर एक टोला वनाते हैं। इनमें प्रायः एक ही कुनवे के लोग रहते हैं। खेतों में पृथक वने टापरा भीलों के प्रजातीय गुणों के द्योतक हैं। वहुपत्नी प्रथा वाले ये भील सुरक्षा, स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत स्वच्छन्दता वनाये रखने के लिए ही पृथक रहते हैं। इनके गृह आर्थिक स्तर के भी द्योतक हैं। दो आमने-सामने की झोपड़ियाँ, एक डागला सामान्यतया मिलते हैं। ये झोपड़ियाँ मिट्टी अथवा जंगली लकड़ी (लट्ठों) के दीवाल की, कवेलू (खपरैल) 'नाल्या' के छाजन की अथवा लकड़ी-घासफूस की होती हैं। मिट्टी का लेप प्रायः मिलता है। वाँस की खपच्चियों से दरवाजे वनाते हैं। खेतों में लकड़ी के मचान प्रायः मिलते हैं। एक या दो कमरे वाले भीलों के घरों में चारपाई, 'कड़गी' (लकड़ी तथा मिट्टी के लेप से वनी कोठली) या कोठिया, टोपला (डलिया) मूसल-ओखरी, गट्टी (आटा पीसने के लिए), सींका (दूध या कलेवा रखने हेतु), कुछ वर्तन जैसे डेकची, परात, मटका, तवा आदि रखे जाते हैं। पनियारा (लकड़ी के स्टैण्ड) पर मिट्टी-पात्र रख कर पत्तियों की 'खपड़ी' से ढकते हैं। लकड़ी तथा काँटे झाड़ी का कार्य करते हैं।

आधुनिकीकरण :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद इन क्षेत्रों में अनेक आदिवासी कल्याण केन्द्रों की स्थापना से भीलों के भौतिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन परिलक्षित होता है किन्तु उनके धर्म, देवी-देवता पूजन, जादू, त्योहार, अन्धविश्वास तथा रीतिरिवाज में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। फिर भी उनकी परम्परागत खर्च की आदतों, उत्साह तथा शान में कमी दृष्टिगोचर होती है। नगरों के समीप विशेष परिवर्तन आया है किन्तु वहाँ वे 'मटका' के शिकार हुए हैं। वीड़ी, चप्पल, धोती, शर्ट आदि नये प्रयोग हैं। गेहूँ तथा चाय का उपयोग भी वढ़ा है। गृह निर्माण में लम्बे खपरैल, टिन तथा मिट्टी की दीवाल का प्रयोग अधिक होने लगा है। नकद मुद्रा पर आधारित विनिमय, शिक्षा, प्रशासनादि से सामाजिक परिवर्तन भी हुए हैं। जातिगत तथा मुखिया सम्वन्धी हैसियत की प्राचीन परिपाटी के स्थान पर धन, राजनीति तथा भूस्वामित्व सम्वन्धी सामाजिक स्तर महत्त्वपूर्ण है। कबीलों वाली 'तड़वी' मुखिया प्रथा के स्थान पर 'पटेल' का महत्व वढ़ा है और लेखपाल (पटवारी) का सम्मान, डर अधिक है। पुनश्च, सामान्यतया आदिवासी जीवन प्रणाली-निर्दोष, निश्छल, ईमानदारी का व्यवहार, सन्तोष, आदिवासीपन से लगाव, स्थिरता, वंशीय एकता एवं संगठन सभी-में तीव्रता के साथ परिवर्तन आ रहा है।[19]

यद्यपि भौतिक रूप में भील कम समृद्ध हैं किन्तु चारित्रिक श्रेष्ठता अनुकरणीय हैं। इनमें सभ्य कहे जाने वाले समाज के सम्पर्क से अनेक दोष प्रवेश पा रहे हैं। कोई भी



नहीं चाहेगा कि ये भील अपनी नाच गान की स्वस्थ सुखद परम्परा से विरत हो जायँ।[20] इनके द्वारा शनैः शनैः अच्छी बातों का स्वांगीकरण इनके कल्याण के लिए समीचीन होगा।

संदर्भ :

1. एस० एम० अली, "ज्याग्रफी आँफ दी पुरानाज", पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६६, पृ० १३२।

2. सेन्सस आँफ इण्डिया, १९३१, वाल्यूम × × सेण्ट्रल इण्डिया एजेन्सी, पार्ट १ रिपोर्ट वाई सी० एस० वेंकटाचार, पृ० २३८।

3. 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', वाल्यूम १, पृ० ५९५।

4. मैकडूनेल एण्ड कीथ, वैदिक इन्डेक्स, वा० १, पृ० ४५३।

5. बी० सी० ला०, 'एन्सिएन्ट इन्डियन ट्राईब्स' वा० ११, पृ० ६१।

6. एन्थोवेन, 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बाम्बे', वा० १ भील।

7. सेन्सस आँफ इण्डिया, १९३१, पृ० २३९।

8. राउनी, एच० बी०, दी वाइल्ड ट्राइब्स ऑफ इन्डिया, पृ० २३।

9. भवभूति, उत्तर रामचरितमानस।

10. मजुमदार, डी० यन०, "रेशियल एफिलिएशन आँफ दी भील्स ऑफ गुजरात।"

11. शाह पी० जी०, "नान हिन्दू एलीमेन्ट्स इन दी कल्चर आँफ दी भील्स, एसे इन एन्थ्रोपोलाजी, प्रजेन्टेड टु एस० सी० राय, पृ० १८२।

12. वही पृ० १८२।

13. झब्बू नायक को फतेह सिंह राठौर ने पराजित किया जो जोधपुर राजपूत परिवार से आये थे।

14. भिलाला, चुस्त, स्वस्थ तथा आक्रामक लगते हैं। धनुषवाण के साथ भयंकर प्रतीत होते हैं किन्तु बहुत दयालु तथा ईमानदार हैं।

15. विस्तार के लिए देखें डा० रामयज्ञ सिंह "भील्स आफ मालवा रीजन देयर हैबिटाट पार्ट इकोनामी एण्ड सोसाइटी" ने० ज्या० ज० इ०, वा० × viii पार्ट 3 और 4, 1972.

16. शादी तय करने की तिथि पर सभी बड़े बूढ़े छक कर पीते हैं और वर-पिता भुगतान करता है।

17. रामा (झाबुआ) के जंगल-रक्षक ने लेखक को बतलाया कि रात में भीलों के

गिरोह निकल पड़ते हैं और गाय वैलादि चुराकर जंगल में काटकर बाँटकर भाग निकलते हैं।

18. जोवट के एक शिक्षक ने बतलाया कि अभाव के समय ये संगठित रूप में वाजार से अनाज लूटते हैं।

19. मजुमदार, डी० एन०, "दी चेन्जिग कनवास ऑफ ट्राइवल लाइफ, दी ईस्टर्न एन्थ्रोपोलाजिस्ट, सितम्वर, 1949, वा० III, सं० 1, पृ० 44.

20. कार्स्टेयर्स, सी० मारिस, "भील विलेज आफ वेस्टर्न उदयपुर, ए स्टडी इन रेजिस्टेंस टू दी सोशल चेंज", इण्डियाज विलेजेज, (सं०), एम० एन० श्री निवास, पृ० 76,

भारतीय स्थापत्य में ईंटों के प्रयोग की प्राचीनता

डा० तेज नारायण मिश्र,* जे० के० लाल**

भारतीय स्थापत्य में ईटों का उपयोग लगभग पाँचवीं सहस्त्राब्दी ईसा पूर्व से आरम्भ हुआ जैसा कि मेहरगढ़,[1] किले गुलमुहम्मद,[2] दम्बसादात[3], मुण्डिगाक[4] आदि स्थानों के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त आद्यैतिहासिक संस्कृतियों के अवशेष से ज्ञात होता है। आरम्भ में निर्माणों में लौंदों का उपयोग हुआ। विकास की दूसरी स्थिति में मिट्टी की अनगढ़ ईटों का उपयोग किया गया। अनगढ़ ईटों से निर्माण कार्य में आसानी और इस प्रकार कार्य की पूर्णता में शीघ्रता की सम्भावना बढ़ गयी होगी। विकास के अगले चरण में ईटों के निर्माण में सांचे का प्रयोग किया गया। ईटों को सांचे के द्वारा निर्मित करने से एक नाप एवं एक रूप की ईटें प्राप्त होती थीं। इससे संरचनाओं में सुरूपता आई। वास्तु सम्बन्धी नाप जोख की दृष्टि से भी निश्चित नाप वाली ईटों का महत्व हुआ होगा।

ऐसा माना जाता है कि ईटों का स्थापत्य वहीं पर फला फूला जहाँ पर इनकी बनाने की सुविधा मौजूद थी। बहुत हद तक यह बात सही भी है लेकिन ये सुविधा वाली बातें सभी स्थानों पर समान रूप से लागू नहीं होती, यदि ऐसी बात होती तो जहाँ पर सरलता के साथ पत्थर संरचनाओं के लिये उपलब्ध थे वहाँ के निर्माणों में केवल पत्थर का ही प्रयोग हुआ होता। निर्माण में ईटों का प्रयोग बहुत कुछ निर्माता की इच्छा, तात्कालिक परिस्थिति एवं आर्थिक दृष्टिकोंण आदि भी रही होगी तथा ईटों का स्थापत्य पत्थर की निर्माण के बनिस्पत कम खर्चीला एवं सुविधाजनक होता है साथ ही निर्माण में नये-नये प्रयोग और अधिक सरलता के साथ अपनी तकनीकी ज्ञान के प्रयोग करने की गुंजाइश भी एक रही है बिना किसी बड़े खर्च के। ये सभी बातें पत्थर के निर्माणों में सरलता के साथ सम्भव नहीं थीं। ईटों पर अलंकरण करने की सुविधा एवं संरचना के तदनुरूप उनसे सामन्जस्य बैठना भी ईटों के निर्माण में अधिक सरलता के साथ सम्भव था। सम्भवतः इसीलिए पत्थर की बनिस्पत ईटों का संरचनाओं में अधिक प्रयोग हुआ। ईटों की संरचना पत्थर के निर्माणों की तुलना में किसी भी प्रकार से कमजोर या टिकाऊपन में कम नहीं होती।

ईटों के निर्माण एवं स्थापत्थ में प्रयोग की दृष्टि से हुई क्रांति सैंधव सभ्यता में देखने को मिलती है। कच्ची ईटों का स्थान धीरे-धीरे पक्की ईटों ने लेना शुरु कर दिया था। अलंकृत विशेष आकार एवं विशेष नापों वाली कई प्रकार की ईटों का निर्माण होने लगा। भारी ईटें भी निर्मित की गई। पक्की ईटों के प्रयोग से स्थापत्य का स्थायित्व बढ़ा। भारी वर्षा और बाढ़ के कटाव से बचाव[5] के उपाय के रूप में ये पक्की ईटे कारगर सिद्ध हुयी

* भारत कलाभवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
** शोधछात्र, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

होगी। स्थापत्य की आवश्यकता के अनुसार कई आकार की ईटें वनायी गयीं। शिल्पियों और निर्माताओं के सामने स्थायित्व, स्थापत्य की आवश्यकता की ईटों के माध्यम से पूर्ति आदि वातें ध्यान में थीं। उन्हें इस वात का भी ध्यान था कि संरचनायें सुघढ़ और सुरूप एवं आकर्षक युक्त हो। इसी कारण विशेष नाप-जोख वाली कई प्रकार की अलंकृत ईटों का भी निर्माण किया गया।

सैंधव सभ्यता के कुछ स्थानों में पक्की ईटों का प्रयोग तो हुआ किन्तु कम। इन स्थानों के निर्माणों में मुख्य प्रयोग कच्ची ईटों का हुआ। पक्की ईटों का प्रयोग मुख्यतया नालियों, पनालियों, कुओं[6] तथा स्नान सम्वन्धी एवं तटवन्ध[7] निर्माण में किया गया है। कच्ची ईटों का भारी प्रयोग सैंधव नगरों को बसाने के लिए चवूतरे वनाने में भी किया गया है। ऐसे चवूतरे हड़प्पा[8] मोहनजोदड़ों, चन्हुदड़ों[10] और कालीवंगा,[11] नामक स्थानों में पुरातात्विक उत्खननों में पाये गये हैं। कालीवंगा में तो कच्ची ईटों का ही प्रचुर प्रयोग सभी प्रकार के निर्माणों में हुआ है। शेष तीन स्थानों में पक्की ईटों का अच्छा खासा उपयोग यहाँ के निर्माणों में किया गया। इन जगहों के चवूतरे कच्चीं ईटों के क्यों वनाये गये यह एक प्रश्न उठता है। ओ0 पी0 जग्गी के अनुसार कच्ची ईटों का चौकियों में प्रयोग करने का उद्देश्य यह था कि कच्ची ईटे वाढ़ के पानी को सोख लिया करती थी जिससे पानी अधिक ऊँचाई तक नही चढ़ सकता था जव कि पक्की ईटों के निर्माण से यह वात सम्भव नहीं थी।[12] ओ० पी० जग्गी महोदय का यह मत तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है। कच्ची ईटों की चौकियों का निर्माण वाढ़ के प्रचण्ड वेग को रोकने में समर्थ नहीं हो सकता है। कच्ची ईटों के निर्माण को वर्षा की तेजधार और बाढ़ के पानी के बहाव से कटकर वहने का खतरा अधिक रहता है। यदि जग्गी महोदय की यह बात सच मान ली जावे कि कच्ची ईटों का निर्माण वाढ़ का पानी रोकने में समर्थ होता है तो जिस वाढ़ के विभींषिका का ई० जे० एच० मैके, सर जान मार्शल, माधोस्वरूप वत्स, एम० ह्वीलर आदि पुरातत्व वेत्ताओं ने सम्भावना बताया है वह जग्गी महोदय के अनुसार गलत अनुमानित हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ पर उस प्रकार के भीषण बाढ़ की सम्भावना थी ही नहीं या बाढ़ आती ही नहीं थी। इनके निर्माण में कच्ची ईटों के प्रयोग का यह कारण हो सकता है कि इतनी अधिक मात्रा में पक्की ईटों का इनके निर्माण में प्रयोग करना आर्थिक दृष्टिकोण से बहुत ही कीमती पड़ता रहा होगा, शायद इसी आर्थिक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए उन्होंने कच्ची ईटों का उपयोग चौकियों के निर्माण में किया होगा।

कच्ची और पक्की ईटों के कम या अधिक उपयोग का कारण सम्भवत: विभिन्न स्थानों की स्थापत्य सम्वन्धी आवश्यकता अथवा ईटों को पकाने की सुविधा-असुविधा रही हो। सम्भवत: मोहनजोदड़ो में ईटों को पकाने की सुविधा अधिक थी।[13] यही कारण हो सकता है कि यहाँ के निर्माण में पक्की ईटों का प्रचुर प्रयोग हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि मोहन जोदड़ो में प्राकृतिक विपदाओं (बाढ़ और वर्षा) से बचने के उपाय

के रूप में पक्की ईटों का संरचनाओं में उपयोग सोचा गया होगा। वह कारण हड़प्पा के लिए भी ज्यों का त्यों रहा, फिर भी वहाँ पक्की ईटों का प्रयोग उस प्रचुरता के साथ नहीं हुआ जैसा कि मोहनजोदड़ों में। समान प्रकार की आपदाओं से छुटकारा पाने के प्रयास में ईटों के उपयोग में विभिन्नता का एकमात्र यही कारण सम्भावित होता है कि हड़प्पा में पकाने की सुविधा कम रही होगी। सम्भवतः ऐसी ही असुविधा उन स्थानों में रही हो जहाँ कच्ची ईटों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया। कम वर्षा या अधिक गर्मी जैसे प्राकृतिक कारण भी हो सकते हैं[14] कि कच्ची ईटों का प्रचुर प्रयोग अधिक सुविधा-जनक रहा हो क्योंकि कम वर्षा के कारण ईटों के कटाव की सम्भावना क्षीण रही होगी, कच्ची ईटों के कारण गर्मी के दिनों से शीतलता अधिक मिलती रही हो[15], साथ ही निर्माण में व्यय की कमी पड़ती रही हो।

निर्माण आवश्यकताओं सम्बन्धी कारणों के साथ ही प्रकारान्तर से आर्थिक दशा भी कम खर्च से तैयार होने वाली कच्ची ईटों के प्रयोग में एक कारण मानी जा सकती है जैसा कि हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो में पक्की ईटों के निर्माणों के साथ कच्ची ईटों से वने निर्माणों के पाये जाने से ज्ञात होता है।[16]

कच्ची ईटों का प्रयोग सैंधवोत्तर संस्कृतियों में भी प्राप्त होता है। धूसर मृदभांड संस्कृति में ईटों की जो कुछ थोड़ी संरचनायें प्राप्त हुयी हैं उनमें कच्ची ईटों का प्रयोग अधिक है। पकाई गयी ईटें यदा कदा ही प्राप्त हुयी है।[17] कृष्णमार्जित मृदभांड संस्कृति के निर्माणों में पक्की ईटों का प्रयोग अधिक है किन्तु कच्ची ईटों के प्रयोग भी संरचनाओं में किये गये हैं।[18] कुछ स्थानों पर पक्की एवं कच्ची ईटों का मिला-जुला प्रयोग भी पाया गया है। कुछ कालों में जव पक्की ईटें ही संरचनाओं के प्रयोग में पायी जाती थी तब कच्ची ईटों का प्रयोग अपवाद स्वरूप प्राप्त हुआ है। कुछ स्थानों पर पक्की व कच्ची ईटों का मिला-जुला प्रयोग भी पाया गया है।[19] यह संस्कृति सैंधव संस्कृति की भाँति समृद्ध, उन्नत व नागर संस्कृति नहीं थी वहाँ के निर्माण मुख्यतया झोपड़ियों जैसे किये गये हैं। ऐसे छोटे निर्माणों के लिए पक्की ईटों की सम्भवतः उतनी आवश्यकता ही नहीं है। जव कृष्णमार्जित संस्कृति के समय पुनः नगरीय विकास हुआ और परिणाम स्वरूप अधिक स्थायी, अपेक्षाकृत विशाल निर्माणों की आवश्यकता पड़ी तो लोगों ने पुनः पक्की ईटों का सहारा लिया। सम्भवतः यही कारण था कि पूर्वोल्लिखित संस्कृति में कच्ची ईटों का प्रयोग और उत्तरोल्लिखित संस्कृति में कच्ची ईटों का उपयोग किया गया। मौर्यकाल में अपवादस्वरूप केवल कच्ची ईटों के निर्माण सोख नामक स्थान से प्राप्त हुए हैं, भीटा, राजघाट और मीरिजियारत के संरचनाओं में कच्ची एवं पक्की ईटों का निर्माणों में प्रयोग हुआ है। शुङ्ग, कुषाण एवं गुप्त काल तक यदा कदा कच्ची ईटों का प्रयोग पाया गया है। ऐतिहासिक काल की ईटों से वने निर्माणों में पक्की ईटों का ही प्रचुरता के साथ प्रयोग मिलता है।[20] संरचनाओं के अलंकरण को दृष्टि में रखते हुए अलंकृत ईटों का भी प्रयोग किया गया।

वर्गाकार ईटें

संरचनाओं में वर्गाकार ईटों का प्रयोग प्राक् सैंधव काल से ही शुरू हो जाता है। नाल नामक स्थान से $12'' \times 12'' \times 7\frac{1''}{2}$ नाप की वर्गाकार ईट निर्माण में प्रयुक्त हुयी है।[21] इसी प्रकार शाहडम्ब (सुराब) नामक स्थान के निर्माणो में $9'' \times 6'' \times 3''$ और $12'' \times 12'' \times 3''$ नाप की ईटें प्रयोग में लायी गयी हैं।[22] मुस्तंग नामक स्थान से भी वर्गाकार ईटें प्राप्त हुयी हैं। यहाँ से पाई जाने वाली ईटें दो आकार-प्रकार वाली हैं एक 18″ लम्बाई—चौड़ाई दूसरी 12″ लम्बाई एवं चौड़ाई वाली हैं। इन ईटों की मुटाई की जानकारी नहीं हो सकी है।[23]

प्राक् सैंधव काल के वर्गाकार ईटों की माप थोड़े अन्तर के साथ सैंधव सभ्यता के वर्गाकार ईटों में पायी गयी है। कुछ वर्गाकार ईटें आलमगीर पुर से प्राप्त हुई है इनकी माप $12\frac{1''}{2} \times 12\frac{1''}{2} \times 3\frac{1''}{4}$ हैं।[24] प्राक् सैंधव सभ्यता की जो वर्गाकार ईटें प्राप्त हुई हैं उनमें 12″ की आकार वाली ईटें अधिक मान्य माप वाली कही जायेगी।

सैंधवोत्तर संस्कृति के प्रकाश नामक स्थान से प्राप्त वर्गाकार ईट की माप $10'' \times 10'' \times 3\frac{1''}{2}$ है।[25]

उत्तरीय कृष्णमार्जित मृत्पात्र संस्कृति की संरचनाओं में वर्गाकार ईटों का प्रयोग हुआ है। जो दो जगहों से ईटें मिली हैं वो 12″ से छोटी हैं और दूसरी जगह से जो मिली हैं वह वहुत वड़ी हैं। उज्जैन से $30'' \times 30'' \times 7''$ माप की कच्ची इंट प्राप्त हुई है।[26] वड़गाव से $9\frac{1''}{2} \times 9\frac{1''}{2} \times 3''$ माप की ईटें प्राप्त हुयी हैं।[27]

ऐतिहासिक कालमें $12\frac{1''}{2}$ माप की आकार वाली ईटों का पुन. प्रचलन हुआ, लेकिन इस काल में और भी कई माप वाली वर्गाकार ईटें प्रयोग में लायी गयी हैं। चाकीगढ़ से $12\frac{1''}{2}$ लम्बाई एवं चौड़ाई वाली है। मुटाई की दृष्टि से ये दो प्रकार की है। एक $2\frac{1''}{2}$ मोटाई वाली और $2\frac{3''}{4}$ मोटाई वाली।[28] चाकीगढ़के $2\frac{3''}{4}$ मोटाई वाली ईटों के तरह ही रामपुरवा से भी प्राप्त हुई हैं।[29] मीरजियारत, सारन, हस्तिनापुर एवं कौशाम्बी से 11″ वर्ग की ईटें प्राप्त हुई है। इन ईटों की मोटाई में अन्तर मिलता है। 10″ वर्ग की ईटें श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, अम्वारी, सारन, कौशाम्बी एवं रेर नामक स्थान से प्राप्तहुयी है। कौशाम्बी से $19\frac{1''}{2} \times 19\frac{1''}{2} \times 11''$ और $18'' \times 18'' \times 11''$

माप की वर्गाकार ईटें प्राप्त हुई है। भट्टिप्रोलु से भी 18″ × 18″ × 2″ और 16″ × 16″ × 4″ वर्ग की ईटें प्राप्त हुई हैं। शाह जी की ढेरी से 16″ × 16″ × 7″ वर्ग की ईटें प्राप्त हुई हैं। मथुरा से भी वर्गाकार ईटें प्राप्त हुई हैं। इसके अलावा कुशी नगर, वोधगया, सरकोट, श्रावस्ती, वैशाली, महास्थानगढ़, अम्बारी, रंगमहल एवं अरिकमेडु आदि स्थानों से वर्गाकार ईटें प्राप्त हुई हैं। ये ईटें 3″ वर्ग से लेकर $9\frac{1''}{2}$ वर्ग के वीच की हैं।[30] इन ईटों का प्रयोग दीवालों के अलावा फर्श के निर्माण के लिए भी किया गया है। दीवालों की संरचना में प्रयोग की गई ईटें फर्श की ईटों के अनुपात में छोटी होती थी। फर्श के निर्माण में जहाँ वर्गाकार ईटों का प्रयोग किया गया है उनकी लम्वाई एवं चौड़ाई इन्हीं वर्गाकार ईटों के गुणन के आधार पर सम्भवतः किया गया है। जैसे 12″ लम्बी और 10″ चौड़े कमरे के निर्माण में 140 ईटें 10″ वर्ग की प्रयोग की जायेगीं। पहाड़पुर नामक स्थान से 3″ × 3″ × 3″ की घनाकार ईटें पायी गयी हैं।[31]

आयताकार ईटें

विभिन्न संरचनाओं में आयताकार ईटों का ही प्रयोग निर्माणों में अधिक से अधिक किया गया है। इनका प्रयोग आरम्भिक_निर्माणों से ही शुरु हुआ। ये ईटें वहुतेरे नापों वाली हैं। इनमें सबसे बड़ी ईट 30″ × 30″ × 7″[32] और सबसे छोटी $5\frac{1''}{2}$ × 4″ × 3″[33] माप वाली ईटें प्रयोग में आई है। विभिन्न संस्कृतियों में ईटों की एक अपनी माप देखने को मिलती है जिस माप की ईटें उस संस्कृति में बहुधा प्रयोग में लायी गयी है। अपवाद के रूप में एकाधिक नापों की ईटें भी मिलती हैं ऐतिहासिक काल की ईटों में क्रमशः ईटों की माप में कमी देखी गयी हैं।[34] शिशुपाल गढ़ के कुछेक निर्माणों में आयताकार उन्नतोदर प्रकार की ईटें प्रयोग में लाई गई है।[35] कुछ आयताकार ईटों में बीच में गड्ढे वने हुये थे जिससे कि ये ईटें अपने जोड़ों में बीच में अधिक मशाला ले लें और संरचना में मजवूती आ जाये।

सुजवाकृत ईटें

सुजवाकृत ईटों का प्रयोग प्रायः कुओं एवं गोल चबूतरों के निर्माण में किया जाता था। इसका आरम्भिक प्रयोग सैंधव सभ्यता में देखने को मिलता है[36] और मौर्य काल तक इसके प्रयोग इस प्रकार के निर्माणों में देखने को मिलता है।

एल और टी आकार की ईटें

इसे समकोणीय ईट भी कहा जा सकता है। समकोणीय ईटें सबसे पहले सैंधव सभ्यता में प्राप्त हुई। इस संस्कृति की ईटों को विद्वानों ने अंग्रेजी के एल अक्षर की आकार की ईटें वताया है। अक्षर की सभ्यता के आधार पर पहचानना अनुचित तो नहीं

कहा जायेगा लेकिन इस प्रकार की ईटों का समुचित नामकरण एक कोणीय ईंट होना चाहिए। इस प्रकार की ईटों का प्रयोग कोनों के निर्माण में किया गया है। इस प्रकार की ईंट का भी एक दूसरा रूप देवनीमोरी के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त हुआ है।[39]

चिनाई

ईटों का प्रयोग बिना किसी प्रकार के गिलावे के सम्भव नहीं है। प्राक् सैंधव सभ्यता से लेकर आज तक संरचनाओं में ईटों की चिनाई में मिट्टी का गिलावा ही प्रमुख रहा है। मिट्टी का गिलावे के रूप में प्रयोग किलेगुलमुहम्मद, दम्ब सादात, शाह डम्ब, शाही टुम्प आदि प्राक् सैंधव सभ्यता वाले स्थानों में हुआ है। सैंधव सभ्यता के साधारण निर्माणों में भी मिट्टी का ही प्रयोग किया गया है। सैंधव सभ्यता के कुछ प्रमुख निर्माणों में मिट्टी के गिलावे में जिप्सम अथवा चूने को मिलाकर उपयोग में लाया गया है।[40] मोहनजोदड़ो के वृहदस्नानागार में विट्मन (डामल पलस्टर) का प्रयोग गिलावे के रूप में किया गया है।[41] ऐतिहासिक काल, गुप्त एवं गुप्तोत्तर काल में मिट्टी की गिलावे का प्रयोग मुख्य रहा। केवल बेसनगर और बोधगया के निर्माणों में चूने का गिलावे के रूप में प्रयोग की जानकारी मिली है।[42]

निर्माण में ईटों का प्रबन्ध

सैंधव सभ्यता में स्नानागार एवं महत्वपूर्ण निर्माणों में बहुत ही सावधानी रखी जाती थी उन्हें बड़ी सफाई के साथ काटकर प्रयोग में लाया जाता था। चिनाई करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उनके जोड़ों के बीच में किसी तरह का फांक न रह जाय यद्यपि चिनाई की कोई निश्चित मापदण्ड की जानकारी नहीं प्राप्त हुई है फिर भी चिनाई करते समय आड़ी-बेड़ी, स्टेप्ड खड़ी आदि प्रकार से ईटों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार के निर्माणों में ईटों के प्रयोग करने की सावधानी शुरू के काल से लेकर आज तक भी पायी जाती है। अलंकृत ईटों की चिनाई में सैंधव सभ्यता से लेकर गुप्तोत्तर काल तक के उदाहरणों में चिनाई पर विशेष ध्यान दिया गया लगता है। कलाकारों द्वारा इनकी चिनाई में इतना सावधानी बरतना स्वाभाविक ही है। संरचनाओं में बड़े आकार वाली ईटों का उपयोग नालियों के निर्माण में एवं पनालियों को ढकने में किया जाता था।[43] शायद पत्थर की कमी के कारण और आर्थिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए बड़ी ईटों का निर्माण व प्रयोग इस तरह के कार्यो के लिए किया गया है। ईटों से निर्मित संरचनाओं में ताखों, प्रवेशद्वारों, खिड़कियों एवं नालियों के ऊपरी अंशों के निर्माण के लिए प्राचीन शिल्पियों ने कई प्रकार के प्रयोग किये हैं। कुछ उदाहरणों में इन अंशों के ऊपर पड़ने वाले संरचनात्मक भार को वहन करने के लिए लकड़ी के अथवा पत्थर का प्रयोग किया है। इस प्रकार के लकड़ी के उपयोग का आरम्भिक उदाहरण सैंधव सभ्यता में सम्भावित किया गया है। पत्थर का इस काम के लिए उपयोग बहुधा

किया गया है। इस प्रकार के उदाहरण सीरपुर, भीतरगाँव, बोधगया आदि स्थानों में पाया गया है और यह परम्परा आज तक चली आ रही है।

ऊपर के भार को वहन करने के लिए स्थपतियों ने केवल ईंटों का उपयोग करके अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए मेहराब बनाने की प्रविधि का उपयोग किया है मेहराबों का प्रयोग सैंधव सभ्यता में सबसे पहले देखने को मिलता है।[44] और परवर्ती काल में भी इसका प्रचलन स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है इस प्रकार के उदाहरण भीतरगांव, मीरपुर खास, बोधगया आदि स्थानों से पाया गया है।[45] मोहनजोदड़ो में नालियों के ऊपरी अंश को निर्मित करने के लिए नाली की पूरी चौड़ाई की दूरी पर रखी गयी आधार ईंटों के ऊपर क्रमशः प्रत्येक ईट थोड़ा भीतर की ओर निकली हुई चुनी गयी है ऊपर का हिस्सा अन्तिम एक ईट से बन्द होता है इस प्रकार की पद्धति को कारबोलिंग पद्धति कहते हैं। इस प्रकार से नालियों का निर्माण परवर्ती काल में नहीं होता है। सम्भवत. इस तरह की रचना बड़ी नालियों के लिए की जाती थी। सैंधव सभ्यता एवं बाद के कालों में बनाई गयी अपेक्षाकृत छोटी नालियों में सामान्यतया नाली की दीवाल उठाकर उसके ऊपरी भाग को एक पट ईट से ढक देते थे।[47]

ताखों, खिड़कियों एवं प्रवेश द्वारों के ऊपरी हिस्से के मेहराब का निर्माण गुप्त एवं गुप्तोत्तर कालों में तीन प्रकार से किया गया है मेहराबों का आकार गोलार्द्ध प्रकार का है। मेहराब के निर्माण में दो पद्धतियाँ बनायी गयी हैं। पहली पद्धति में गोलार्द्ध की परिधि पर पट ईटों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के उदाहरण भीतरगांव और बोधगया के संरचनाओं में पाया गया है। और दूसरी पद्धति में गोलाई की परिधि पर ईटों की चौड़ाई वाले खड़ी स्थिति में रखते हुए प्रयोग में लाया गया है। इस प्रकार के मेहराबों का उदाहरण बोधगया के मन्दिर में पाया गया है। इन दोनों पद्धतियों से लगाई गयी ईटों को बीच-बीच में बाधने के लिए क्रमशः खड़ी एवं पट ईटों का प्रयोग किया गया है। दूसरी वाली पद्धति में एक अन्य प्रयोग भी किया गया है जिनमें ईटों के बाद बाधने वाली ईट का प्रयोग न करके खड़ी ईटों को ही ऐसे सजाया गया है कि एक खड़ी ईट के बाद की पंक्ति में आने वाली ईट उस ईट से ऊपर या नीचे गोलार्द्ध के आधे पर खड़ी हो।

दीवाल की संरचना में निःसंदेह नींव का अपना महत्व होता है। नींवों के निर्माण में कुछेक उदाहरणों को छोड़कर सामान्यतया आरम्भिक समय से लेकर परवर्ती काल तक अच्छी पकी हुई ईंटों का प्रयोग किया गया है। नींव के लिए पक्की ईंटों के प्रयोग में सामान्यतया अच्छी पकी हुई ईंटों को चुना गया है। केवल भीटा नामक स्थान के पुरातात्विक उत्खनन से नींव में कच्ची ईंटों के प्रयोग का उदाहरण पाया गया है[49]। नींवें नीचे चौड़ी और ऊपर की ओर ईंटों के कुछ रद्दों के बाद कम चौड़ी होती हुई बनाई गयी हैं[50]। नीचे से लेकर ऊपर तक एक ही चौड़ाई की नीवें भी बनाई गयी हैं। नींव के ऊपर दीवाल नींव से कम चौड़ाई की और नींव के आधार से लेकर ऊपर तक

एक ही चौड़ाई की निर्मित की गयीं। कुछ भारी भरकम (काफी बड़ी-काफी मोटी) दीवारों के निर्माण में दीवाल के प्रत्येक रद्दे में चौड़ाई क्रमशः कम करते हुये रचना की गयी है।

मन्दिरों के शिखरों के निर्माण में दीवाल भाग में ऊपर शिखर निर्माण के लिए क्रमशः सकरा होता हुआ ऊपरी निर्माण किया गया है। गर्भगृह की निचली लम्बाई-चौड़ाई से क्रमशः छोटी होती हुई भूमि या ऊपर उठती हुई नागर शिखर का निर्माण करती है। इस प्रकार मन्दिरों के निर्माण के उदाहरण बोधगया, सिरपुर, भीतरगांव आदि स्थानों में पाये गये हैं। चैत्यभूनिवेष वाले टैर के मन्दिर ईंटों से वने हुए मन्दिरों के शिखर के निर्माण की प्रविधि की जानकारी प्राप्त अवशेषों के आधार पर सम्भव नहीं हो सकी है। पर्सी ब्राउन के अनुसार इस मन्दिर का छाजन मेहराबदार ईंटों का छाजन बना था[52]।

स्तूप के निर्माण में ईंटों का प्रयोग पूर्व मौर्यकाल से ही शुरू हुआ[53]। ठोस प्रकार के बनाये गये स्तूपों में स्तूप के वाहरी हिस्से को गोलार्द्ध रूप देने के लिए ईंटों के रद्दे क्रमशः छोटे व्यास के निर्मित किये जाते थे। ईंटों से निर्मित ठोस प्रकार के स्तूपों को पत्थरों से आच्छादित करके और भी अधिक मजबूती देने की वात होती है[54]। आंध्र क्षेत्र में स्तूपों को निर्मित करने की एक दूसरी पद्धति अपनाई गयी है। इस पद्धति में स्तूप के केन्द्र विन्दु पर गोल या चौकोर आधार का ठोस निर्माण अथवा स्वास्तिक निर्माण किया जाता था[55]। इस निर्माण से रथ के आरे की तरह दीवालें बनाई गयी हैं[56]। जिन्हें घेरती हुई एक परिधि निर्मित की जाती थी इसी परिधि से निकलते हुई पुनः आरे और उन्हें घेरती हुई दूसरी परिधि एवं इसी क्रम से छोटे-बड़े स्तूपों के आवश्यकतानुसार एक, दो और तीन परिधि वाले छोटे एवं बड़े स्तूप निर्मित हुए हैं। ईंटों से बनी हुई संरचना के भीतर के खाली हिस्सों में मिट्टी भर दी जाती थी इस प्रकार के निर्माण में कम ईंटों के उपयोग से मजबूती में विना कमी आये स्तूप निर्मित हो जाता था बीच की भरी हुई मिट्टी को चारों ओर से ईंटों की दीवालें बांधे रहती थीं, और स्तूप ऊपरी हिस्सों में ऊपर उल्लिखित शिलाच्छादन पद्धति से संगमरमर पत्थर से ढंक दिया जाता था।

संकेत तालिका

१. आ. स. इ. ए. रि.=आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया एनुअल रिपोर्ट।
२. आ. स. इ.=आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया।
३. इ. आ. रि.=इण्डियन आर्क्योलाजी ए-रिव्यू
४. ए. इ.=एंशियेन्ट इण्डिया।
५. मे. आ. स. इ.=मेमायर्स आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया।

सन्दर्भ—

1. ज्यारियार्ज और मानिक लैशीवाल्यैं, "एक्सकवेशन ऐट मैहरगढ़, बलूचिस्तान : देयर सिंगनीफिसेंस इन दी प्रीहिस्टारिक कटेंकस्ट आफ दी इण्डो पाकिस्तान वार्डरलैंड" शशि अस्थाना द्वारा उद्धृत, रिपोर्ट आन दी प्रोसिडिंग आफ दी फोर्थ इण्टर नेशनल कांफ्रेंस आफ साउथ एसियन आर्क्योलाजी, मैन एण्ड इन्क्वायरमेण्ट, खण्ड—२, अहमदाबाद, १९७८, पृ० १०७।

2. ब्रिजेट एण्ड रेमन्ड आल्चिन, दी वर्थ आफ इण्डियन सिविलाइजेशन, ब्रिटेन, १९६८, पृ० १०३, वाल्टर ए फेयर सर्विस, एक्सकवेशन इन दी क्वेटा वैली, वेस्ट पाकिस्तान, खण्ड ४५, भाग—२, एन्थोपोलाजिकल पेपर्स आफ दी अमेरिकन म्यूजियम आफ नैचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क, १९५६, पृ० २२३।

3. वाल्टर ए फेयर सर्विस, एक्सकवेशन इन दी क्वेटावैली, वेस्ट पाकिस्तान खन्ड ४५, भाग—२, एन्थ्रोपोलाजिकल पेपर्स आफ दी अमेरिकन म्यूजियम आफ नैचुरल हिस्ट्री, न्यूयार्क, १९५६, पृ० २०६ और आगे।

4. वाल्टर ए फेयर सर्विस, दी रूट्स आफ एन्सियेन्ट इंडिया, न्यूयार्क, पृ० १२४ और आगे।

(अ) पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू), बम्बई, १९६५, पृ० ४०।

(आ) वही, पृ० ४२, आर० एन० मेहता और एस० एन० चौधरी, एक्स-क्वेशन ऐट देवनीमौरी, बड़ौदा, १९६६, पृ० ३३ और आगे, मे० आ० स० इं० संख्या ४०, पृ० ११७ और आगे, हैनारीड, रंगमहल, स्वीडेन, १९५६ पृ० ८६ और आगे, दयाराम साहनी, कैटलाग आफ दी म्यूजियम आफ आर्क्योलाजी ऐट सारनाथ, कलकत्ता, १६१४, पृ० ३००, वी० एस० अग्रवाल, मथुरा म्यूजियम कैटलाग, खंड—५ वाराणसी, १९६३, पृ० १५३, प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम बुलेटिन, संख्या ७, १६५६–६२, पृ० ६ और आगे, आ० स० इं० ए० रि० १९०८–९, पृ० ५ और आगे, आ० स० इं०ए० रि०, १९०९–१० पृ० ११ और आगे।

5. दी इपिक आफ मैन, टाइम लाइफ इण्टरनेशनल, नीदरलैंड, १९६२, पृ० ९४, विजेट एंड रेमण्ड आल्विन उपरिलिखित, पृ० १२७।

6. इं० आ० रि०, १९६१–६२ पृ० ४३, एस० आर० राव, "ऐक्सकवेशन ऐट रंगपुर" एं० इं०, अंक १८ और १९, पृ० ४१, एस० आर० राव लोथल एण्ड इण्ड्स सिविलाइजेशन, नई दिल्ली, १९७३ पृ० ७७।

7. एस० आर० राव०, लोथल एण्ड इण्ड्स सिविलाइजेशन, पृ० ७७।

एच० डी० संकालिया, प्री हिस्ट्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान पूना, १९७४, पृ० ३७२ और आगे।

8. माधोस्वरूपवत्स एक्सकवेशन ऐट हड़प्पा, खंड—१, नई दिल्ली १९७४ पृ० १२।

9. इ० जे० एच० मैके०, फरदर एक्सक्रवेशन ऐट मोहेनजोदड़ो, खण्ड—१, नई दिल्ली, १९३८, पृ० १७०।

10. इ० जे० एच० मैके चन्हुदड़ो एकसक्वेशन्स १९३५-३६, यू० एस० ए० १९४३, पृ० १५।

11, इं० आ० रि०, १९६१–६२, पृ० ४३।

12. ओ० पी० जग्गी, हिस्ट्री आफ साइंस एण्ड टेक्नालाजी इन इण्डिया, खन्ड—१, नई दिल्ली, १९७४, पृ० ६९ और ७०।

13. सर जान मार्शल, मोहेनजोदड़ो एण्ड इंडस सिविलाइजेशन, खण्ड—१, दिल्ली, १९७४, पृ० २६८।

14. हैगारीड, रंगमहल, स्वीडेन, १९५९, पृ० ४३, ६६, ७९ और आगे।

15. अर्नेस्ट मैके, अर्ली इण्डस सिविलाइजेशन्स, लन्दन, १९४८, पृ० २३।

16. माधो स्वरूप वत्स, उपरिलिखित, पृ० १२, दी इपिक आफ मैन, पृ० ८७। एं० इं० अंक १८ और १९, पृ० ४१, डी० एच० गार्डन, दी प्रीहिस्टारिक बैक ग्राउंड आफ इण्डियन कल्चर, बम्बई, १९५८, पृ० ६१, एस० पिगट, प्रीहिस्टारिक इण्डिया, पुनरमुद्रित, लन्दन, १९६१, पृ० १७१ और १७२।

17. बी० बी० लाल, 'एक्सकवेशन ऐट हस्तिनापुर' ए० इ०, अंक, १० और ११ पृ० १२ अ। आ० सं० इं० ए० रि०, १९०४-५; पृ० ६६. आ० स० इं० ए० रि० १९०७-८, पृ० ५०।

18. ए घोष, 'दी सीटी इन अर्ली हिस्टारिकल इन्डिया' ए० इं० अंक, १, पृ० ६८।

19. इं० आ० रि०, १९५७-५८, पृ० ५०, आ० स० इं० ए० रि०, १९११-१२, पृ० १९। नींव के निर्माण में पक्की ईटों का ही प्रयोग मिलता हैं लेकिन भीटा से स्थापत्य के प्रविधि के दृष्टिकोण से एक प्रकार की विचित्रता देखने को मिलती है कि नींव में कच्ची ईटों का प्रयोग किया गया है।

20. आ० स० इं० ए० रि०, १९२७-२८, पृ० ९६। जरूरत पड़ने पर अधपकी ईटें भी प्रयुक्त कर लेते थे—जैसे सारनाथ, सम्भवत: यह किसी खास परिस्थिति के कारण करना पड़ा होगा। सामान्यत: इन ईटों का प्रयोग निर्माण में नहीं किया जाता है। अच्छी ईटों की कमी के कारण इन ईटों का प्रयोग सम्भव हुआ होगा।

21. एस० पिगट, 'दी क्रोनोलोजी आफ प्रीहिस्टारिक नार्थ-वेस्ट इन्डिया', एं० इं०,

अंक १, पृ० १७। आ० स० इं० ए० रि०, १९२५-२६, पृ० ६८, मे० आ० स० इं०, संख्या ३५, पृ० १९।

22. पाकिस्तान-आर्क्योलाजी, अंक २, १९६५, पृ० १०७।
23. मे० आ० स० इं०, संख्या ३५, पृ० ३ उत्खाता महोदय ने मुटाई के स्थान पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया है। सम्भवतः ये ईटें मुटाई की ओर टूटी हुई स्थिति में प्राप्त हुयी रही हों। जिससे मोटाई का अन्दाज भी बनाना सम्भव नहीं रहा।
24. एच० डी० संकालिया, प्रीहिस्ट्री एण्ड प्रोटोहिस्ट्री इन इंडिया एण्ड पाकिस्तान, पूना, १९७४, पृ० १५८, इं० आ० रि०, १९५८-५९ पृ० ५४।
25. इं० आ० रि०, १९५४-५५, पृ० १३।
26. इं० आ० रि०, १९५५-५६, पृ० २५।
27. इं० आ० रि०; १९७१-७२, पृ० ३८।
28. आ० स० इं० न्यू इंपीरिल सीरीज, खण्ड ५१, पृ० १।
29. आ० स० इं० ए० रि०, १९०३-४, पृ० २।
30. ईटों की नाप के लिए, ईटों की नाप की परिशिष्ट देखिये।
31. मे० आ० स० इं० संख्या ५५, पृ० ३३।
32. इं० आ० रि०, १९५५-५६, पृ० २४।
33. आ० स० इं० ए० रि०, १९११-१२, पृ० १३०।
34. अन्यान्य प्रकार के ईटों की मापों के लिए परिशिष्ट देखा जा सकता है।
35. बी० बी० लाल, 'शिशुपाल गढ़ १९४८', एन अर्ली हिस्टारिकल फोर्ट इन ईस्टर्न इन्डिया, ए० इं०, अंक ५, पृ० १०३, उन्नतोदर ईटों की माप १७"×९"×६$\frac{१''}{२}$, १४$\frac{१''}{२}$×९"×७", १५$\frac{१''}{२}$×१०"×७".
36. सर जान मार्शल, उपरिलिखित, पृ० २६९।
37. आ० स० इ० ए० रि०, १९३५-३६, पृ० ६१।
38. सर जान मार्शल, उपरिलिखित, पृ० २६८, अर्नेस्ट मैके, उपरिलिखित पृ० २२ :
39. आर० एन० मेहता एंड एस० एन० चौधरी, एकसवेशन ऐट देवनीमोरी बड़ौदा १९६६, पृ० ११६ और आगे।
40. सर जान मार्शल, उपरिलिखित, पृ० २०, १३४, इ० जे० एच० मैके, उपरिलिखित, पृ० १७०, ५९८।
41. ओ० पी० जग्गी, हिस्ट्री आफ साइंस एण्ड टेक्नालाजी इन इण्डियन, खंड-१ लखनऊ। पृ० ७१।
42. आ० स० इं० ए० रि०, १९१३-१४, पृ० २०५, पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्कीटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड), बम्बई १९६५, पृ० ४५।
43. इ० जे० एच० मैंक, फरदर एक्सकवेशन्स ऐट मोहनजोदड़ो, खंड-१, पृ० ४२८।
44. वही, पृ० १६५।

45. पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर, बम्बई, १९६५, पृ० ४५ -
46. इ० जे० एच० मैके, फरदर एक्सकवेशन्स ऐट मोहनजोदड़ो, खण्ड १, पृ० ४२८।
47. जी० आर० शर्मा, एक्सकवेशन ऐट कौशाम्बी, इलाहाबाद १९६०, पृ० ४३।
48. पर्सी ब्राउन, उपरिलिखित, पृ० ४५।
49. आ० स० इ० ए० रि०, १९११-१२, पृ० ३१।
50. ओ० पी० जग्गी, उपरिलिखित, ७०।
51. पर्सीब्राउन, उपरिलिखित, पृ० ४१, आ० स० इं० ए० रि०, १९०२-३ पृ० १९५ और आगे।
52. पर्सीब्राउन, उपरिलिखित, पृ० ४१।
53. उपरिलिखित, पृ० १३।
54. वही, पृ० १३ ओर १४।
55. इ० आ० रि०, १९५८-५९, पृ० ६, ए० इं०, अंक १६, ७७ और ७८।
56. ए० इं०, अंक पृ० १६, ७१ और ७३।

संत मत में सुरति, निरति और सहज की परिकल्पना

डॉ० शंकर चौबे*

संत-काव्य में 'सुरति' शब्द का प्रयोग जितनी बहुलता और विभिन्नता से हुआ है उतना कदाचित ही किसी अन्य शब्द का प्रयोग हुआ होगा। सुरति को कुछ लोगों ने स्रोत शब्द का बिगड़ा हुआ रूप समझा है। वे कहते हैं कि 'स्रोत' शब्द यहाँ पर चित्त प्रवाह का द्योतक है। सुरति शब्द को जिन अर्थों में ग्रहण किया जाता है, उनकी स्थूल तालिका इस प्रकार है—

१—सुरति स्मृति।
२—सुरति-प्रेम-क्रीड़ा।
३—सुरति-श्रुति।
४—सुरति-चित्त प्रवाह (सुरति का उद्‌भव स्रोत होने के कारण)।

स्मृति और चित्त-प्रवाह के रूप में मन की एक ही स्थिति का स्वरूप निश्चित होता है। सांसारिकता का मोह त्याग कर मन का परमात्मा से मिलने का रूपक सन्तों ने अनेक स्थानों में रखा है। मन का सांसारिकता से मोह छोड़कर परमात्मा में अनुरक्ति दिखलाना ही प्रेम क्रीड़ा है और वही सुरति योग है। सुरति का श्रुति के रूप में प्रयोग सुरति-शब्द योग के प्रसंग में रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् सुरति (स्मृति) का सदैव शब्द में लगा रहना, सुरति-शब्द योग है। मन प्रवाह अपने स्वाभाविक रूप में सांसारिकता की ओर विशेष रूप से अनुरक्ति दिखलाता है। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि हमारी विषय ग्राहिणी सभी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं। इस बहिर्मुखी चित्त-प्रवाह को शब्द के साथ नियोजित करके अन्तर्मुखी बनाना सुरति शब्द योग है। शब्द के प्रति सदैव बने रहने के कारण ही इसे स्मृति-शब्द योग भी कह सकते हैं। सहजोबाई ने योग पद्धति में सुरति योग की सर्वाधिक महत्ता स्वीकार की है। उन्होंने मीन और पिपीलिका मार्ग की अपेक्षा विहंगम मार्ग की प्रधानता दी है, जो अजपाजप है। इस जप में जीभ और तालु के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। यह अभ्यंतर है। इस जप की भूमि के लिये इन्द्रिय-विकारों को रोकना होगा क्योंकि जब तक मन स्थिर नहीं होगा, सुरति निरति में प्रविष्ट नहीं होगी और जब तक सुरति निरति में प्रविष्ट नहीं होती तब तक ध्याता और ध्येय का भेद नहीं मिटेगा ऐसा सहजो का विश्वास है। आवागमन का चक्र नहीं मिट सकता जिसमें सभी प्रकार के दुःख समाविष्ट हैं।

सुरति विवेचन के पश्चात् प्रायः निरति और सहज समाधि ही ऐसे दो पारिभाषिक शब्द हैं जिस पर संत-समीक्षकों का मन सहसा टिक जाता है। वे यह सोचने

* सत्यकाम साहित्यपीठ, बी० ३/१४, शिवाला, वाराणसी

के लिये वाध्य हो जाते हैं कि वास्तव में संतों ने इन शब्दों को किस सन्दर्भ में प्रयुक्त किया है।

संत-समीक्षकों ने स्थूल रूप से निरति सम्बन्धी निम्नलिखित अर्थ निश्चित किये हैं। निरति—तल्लीनता। निरति—निरन्तरता और निरति नितरारतिः निरति। अर्थात् प्रेम की अतिशयता निर्रात है। निरति=नि+रति=जिनमें रति अर्थात् प्रेम की भावना की सम्भावना न रह जाय।

सिद्ध साहित्य के अधिकारी विद्वान डा० धर्मवीर भारती ने निरति को अनहद नाद के भी ऊपर की अवस्था माना है। वे कहते हैं, शब्द अनहद नाद है जो विशुद्धारण्य तथा आज्ञाचक्र में सुन पड़ता है किन्तु निरति उससे भी ऊपर की अवस्था है जिसमें निरालंभ की स्थिति आती है। वही सहज है। स्वमत स्थापन के लिये उन्होंने मच्छिन्द्रनाथ की अधोलिखित पंक्तियों का अवलम्बन ग्रहण किया है—

मच्छिन्द्र—अवधू सबद् अनाहद सुरति सो चित्त
निरत्ति निरालय लागे बंध
दुविधा मोह सहज में रहै।
ऐसा विचार मच्छिन्द्र कहै।

निरति के उद्‌गम की यह मान्यता हठयोग प्रदीपिका के इस अवतरण से भीं संयुक्त की जाती है जिसमें विष्णु के परमपद में अनहद नाद की सम्मानता का उल्लेख है और उसके भी ऊपर वह निराकार परमेश्वर है जहां शब्द भी ध्वनिहीन हो जाता है। सुरति जब, शब्द में एक तान हो जाती है, तभी निरति की अवस्था की उपलब्धि होती है।

नृत्य के अर्थ में सम्भवतः निरति का अर्थ हो सकता है जब सुरति शब्द में बैंकनाल (मेरुदण्ड) के अन्तर्गत सुषुम्ना नाड़ी में नृत्य करती हुई सहस्त्रार की ओर अग्रसर होती है और उसकी इस प्रक्रिया से आनन्द की एक विशेष अवस्था की प्राप्ति होती है। यही विशेष स्थिति निरति है। निरति की अवस्था की उपलब्धि के पश्चात सुरति का शब्द में योग करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस अवस्था में साधक को योग की चरम सिद्धि प्राप्त हो जाती है और यदि वह साधना छोड़ भी दे तो साधना उसे नहीं छोड़ती।

'सहज समाधि' सुरति तथा निरति के सम्मिलिन से प्रादुर्भूत अवस्था विशेष का नाम है। अर्थात् सुरति के शब्द के साथ निरन्तर योग की अवस्था तो निरति है और उससे

प्रादुर्भूत अवस्था सहज-समाधि है। इस समाधि को निर्विकल्प और सविकल्प समाधि से भिन्न सहज-समाधि का नाम इसलिए दिया गया है क्योंकि निर्विकल्प और सविकल्प समाधि में तो श्वासारोध होकर शरीर काष्ठवत हो जाता है और ऐसा योगी किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकता। क्योंकि उसकी समग्र इन्द्रियाँ अशक्त होकर मृतवत हो जाती हैं और उसकी अवस्थिति एक नियत समय तक ही रहती है किन्तु सहज समाधि में इन्द्रियों से अशक्त अथवा शिथिल होने का कोई कारण नहीं है। इस लोकोत्तर आनन्द की स्थिति में मन अहर्निश शब्द-श्रवण में अनुरक्त रहता है और वह चाहकर भी विषयानुरक्त नहीं हो सकता। शब्द के लीनत्व द्वारा उसका समग्र विकल्प नष्ट हो जाता है, उसका अहं मिट जाता है। वह संसार के सभी कार्य निर्लिप्त भाव से करता है। इस प्रकार की सांसारिक विषयों से अनासक्ति पूर्ण अवस्था का जिसमें मन सततरूप से शब्द में लीन रहता है सन्तों द्वारा सहज-समाधि की अवस्था स्वीकृत हुयी है।

निरति अवस्था के फलस्वरूप जिस सहजसमाधि की अवस्था की प्राप्ति होती है। उसका वर्णन करते हुये डा० धर्मवीर भारती का कथन है --

'कबीर भी जप की अन्तिम परिणति निःशब्द मौन ही मानते थे। जपा मरै, अजपा मरैं, अनहद हू मरिजाय। परवर्ती साम्प्रदायिक ग्रंथों में इसी निरक्षर को शब्द का विदेह रूप बताया गया है जिसमें बिना रसना का जाप होता है, इसी को सूक्ष्म सहज-पन्थ कहा गया हैं। सुरति के निरति में समाने पर ही सहज समाधि की अवस्था प्राप्त हो सकती है और अपने अन्तर्गत ही प्रभु का साक्षात्कार हो सकता है। यही अवस्था सहज-समाधि है।'

कबीर का कथन समीचीन ही है कि सुरति, के निरति में समा जाने पर फिर अजपा में ही जाप होने लगता है।

सुरति समानी निरति में अजपा माहैआप।
लेख समाना अलेख में यं आपा माहैआप॥

सन्तमत की सहज-समाधि के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए, सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान श्री परशुराम चतुर्वेदी का कथन है :

"सन्तों की इस साधना में किसी ऐसी समाधि को भी स्थान नहीं, जो किसी अवधि विशेष तक ही कायम रह सके। सन्तमत की आदर्श समाधि वह अपूर्व स्थिति है जो साधकों के जीवन भर एक रस बनी रहे और उसमें किसी क्षणिक परिवर्तन की आशका भो न आने पाये। इसीलिये उसे सहज समाधि का भी नाम दिया गया है। सन्तों का कहना है कि हमारी साधना का पूर्णतः सिद्ध हो जाना तभी सार्थक है जब हमारे जीवन में पूरा काया पलट आ जाय। जब हमारी सारी वृत्तियों का रुझान पूर्ववत

न रहकर सर्वथा नवीन रूप ग्रहण कर ले और हमारे लिये पुनर्जन्म की जैसी स्थिति भी आ जाय। सन्तों ने इसीलिये इस दशा को आजीवन, मृतक भी कहा है और बतलाया है कि इसमें पहुँच कर साधक जहाँ अपने पहले जीवन की दृष्टि से मृतक बन जाता है वहाँ इस नवीन दृष्टि से अमरत्व भी पा लेता है। जीवन मृतक वह जीवन्मुक्त पुरुष है जो सदा किसी ब्राह्मी स्थिति में लीन रहा करता है तथा उसमें रहते हुये भी कभी समाज के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित नहीं करता।

सन्त कबीर निरति तथा सहज समाधि का संश्लिष्ट रूप उपस्थित करते हुये कहते हैं—

जपा मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
सुरति समानी शब्द में, ताशि कोल नहिं खाय॥

अर्थात् जप और अजपा मार्ग के साधक तथा अनहद तक की आध्यात्मिक उपलब्धि वाले महात्मा मरते हैं। अर्थात् बार-बार आवागमन के चक्र में पड़ते हैं। किन्तु जिस साधक की सुरति शब्द में प्रविष्ट हो जाती है निरति की अवस्था प्राप्त कर लेती है फलस्वरूप उसे सहज समाधि प्राप्त हो जाती है तथा इसी कारण उसका आवागमन नहीं होता। वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, उसे काल नहीं खाता।

कबीर ने अन्यत्र भी इन दोनों अवस्थाओं के विषय में स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है—

सुरति समानी निरति में, निरति नहीं निरधार
सुरति निरति परचाभया, तब खुलेस्वयंभूदुआर

(कबीर ग्रन्थावली १४)

सुरति शब्द के साथ निरन्तरता प्राप्त कर लेती है, और निरति निराधार हो जाती है अर्थात् शब्द के साथ तल्लीनता प्राप्त करने के लिये जब सुरति की आवश्यकता नहीं रहती। तभी स्वयंभू दुआर अर्थात् दशम् द्वार (सहस्त्रारचक्र) जो सन्तमत के अनुसार साधना का अन्तिम सोपान है, खुलता है। दशम द्वार अर्थात् सहस्त्रारचक्र में सन्त शिव-पार्वती का आवास मानते हैं। दोहे में इसीलिये उसे स्वयंभू दुआर कहा गया है। निरति के निराधार होने के फलस्वरूप बिना आभास स्वयमेव साधना चला करती है। शब्द ध्वनि का आभास न केवल शरीर के किसी अंग विशेष तक सीमित रहता है; वरन् समग्र शरीर में व्याप्त हो जाता है। जायसी ने उस अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

हाड़ भए सब किंगरी। नसें भई सब तांति
रोम-रोम से ध्वनि उठै, बिथा कहौं केहि भांति

साधक को वह शब्द अस्थि, स्नायु-मडल और रोमों की सीमा का अतिक्रमण कर (जो शरीर तक ही सीमित है) समग्र विश्व में सुनाई पड़ने लगता है। ऐसी अवस्था में मन को अन्यत्र जाने का अवकाश ही नहीं रह जाता। वह अपने चांचल्य का परित्याग कर एकाग्र हो जाता है। उसकी इस प्रकार की अवस्था विशेष का नाम ही सहज समाधि है, जो सुरति के निरति में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् प्राप्त होती है।

सुरति-निरति का शब्द के साथ योग सन्त चरणदास के निम्नलिखित पद में देखा जा सकता है। उनके अनुसार सुरति के निरति में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् शब्द ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है।

जो नाड़ी को खैंचि पवन लै उर में दीजै।
बज्जर ताला लाय द्वार नौ वन्द करीजै ॥
तीनो वन्द लगाय उपस्थित अनहद आराधै।
सुरति निरति का काम राह चल गगन
जब सोवों तब करौं दण्डवत, पूजो और न देवा।
कहों सो नाम, सुनौ सो सुमिरन, स्वावपियौ सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौ, भाव मिटावौ दूजा।
आख न मूदौ नाक न सूघौ, तनिक कष्ट नहीं धारो।
खुले नैनि पहिचानौ हंसि-हंसि सुन्दर रूप निहारों।
कह कबीर यह उनमुनि रहना सो परगाहि करि गाई।
सुख दुःख से कोई मरे परमपद तेहि पद रहा समाई।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सहज समाधि परमानन्द की वह अवस्था है, जिसकी प्राप्ति के लिये जीव अनादिकाल से अनेक जन्मों से यात्रा कर रहा है और उसे वह अभी तक नहीं प्राप्त कर सका।

सुरति-शब्दयोग, योग की वह प्रक्रिया है जिसमें अपनी स्मृति का प्रकर्ष शब्द श्रवण में दिया जाता है अर्थात् मन की बहिर्मुखी वृत्ति को अभ्यन्तर में होने वाले शब्द में नियोजित किया जाता है।

निरति-सन्तों की साधना की वह अवस्था है जिसमें सुरति बिना आभास के निरन्तरता प्राप्त करती है और शब्द के साथ इस प्रकार सहजता प्राप्त कर लेती है कि उसे निरालम्ब की स्थिति कहा जा सकता है।

निरति की इस निरालम्ब स्थिति के फलस्वरूप प्रादुर्भूत अतीन्द्रिय और सहज अवस्था का नाम सहज-समाधि है जो निर्विकल्प तथा सविकल्प समाधि से मूलतः भिन्न है क्योंकि उन समाधियों में अवधि की सीमा है किन्तु यह निरन्तर अगाध है।

सुन्न सिखर चढ़ि रहै दृढ़ जहाँ आसन करै।
मन चरनदास ताड़ी लगे सो रामदरस कलिमलहरे।

उपर्युक्त उद्धरण की तीन पंक्तियों में संत चरनदास ने हठयोग की साधना पद्धति का उल्लेख किया है जिसमें साधक नाड़ी-शोधन, तथा शरीर के नवो रंधों को बन्द कर उड्डियानबन्ध, जालंधर आदि बन्धों को लगाकर प्राणायाम के माध्यम से अनहद नाद सुनता है। सन्त चरनदास के अनुसार कदाचित हठयोग की चरम उपलब्धि अनहद नाद ही है। किन्तु उसके आगे भी वह आध्यात्मिक स्थिति मानते हुए प्रतीत होते हैं और इसके लिये वे सुरति शब्द योग की साधना सबसे अधिक उपर्युक्त मानते हुये वह कहते हैं कि अगाध गगन मार्ग में चलने के लिये सुरति-निरति का ही काम रह जाता है। सुरति निरति में प्रविष्ट होकर शून्य शिखर (सहस्त्रार चक्र) तक साधक के मन को पहुँचा देती है, जहाँ वह सुदृढ़ आसन में वैठता है। सुरति के निरति अवस्था तक पहुँच्न जाने पर शब्द अथवा रामनाम की ताड़ी लग जाती है अर्थात् शब्द-स्वर अविराम हो जाता है और शब्द की यही निरन्तरता कलिमल के अहंकार को नष्ट करने वाली है। शब्द का यही निरन्तर्य (ताड़ी) सन्तों की सहज समाधि है।

सन्त कवि पलटू साहब ने भी निरति तथा सहज समाधि सम्बन्धी अपने अभिमतों को निम्नलिखित कुण्डलियों के माध्यम से व्यक्त किया है।

मन की मौज से मौज है और मौज केहिं काम।
और मौज केहिं काम मौज जो ऐसी आवै।
आठो पहर अनन्द भजन में दिवस बितावै।
ज्ञान समुद्र के बीच उठत है लहर तरंगा।
तिरवेनी के तीर सरसुती जमुना गंगा।
सन्त सभा के मध्य शब्द की झड़ जब लागै।
पुलकि-पुलकि गलतान प्रेम में मन को पागै।
पलट रहै विवेक से छटै नहिं सतनाम।
मन की मौज से मौज है और मौज केहिं काम।
ज्ञान समाधि जाको मिली सो क्या लावै ध्यान !
सो क्या लावै ध्यान ध्यान दुनिया कहवावै।
आप भया पासाह कौन के मुजरे जावै।
भजनी से भाभजत भजत कौन अब आवै जावै।
लिहा निसाना मारि कौन अब तीर चलावै।
मन के संकल्प भजन रूप अपनो दरसावै।
जो इहवाँ सो उहाँ संकल्प को दूरि वहावै।
पलटू लगी सो लगि गई कौन होय हैरान।
ज्ञान समाधि जाको मिली सो क्या लावै ध्यान।

प्रथम कुण्डलियों के अन्तर्गत सन्त पलटूदास ने सुरति के द्वारा निरति और फिर सहज-समाधि के रूप को स्थिर किया है। वे कहते हैं कि सुरति की निरन्तरता के द्वारा प्राप्त अवस्था (सहज-समाधि) के आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रकरण के अन्त में सन्त कबीर का बहुश्रुत पद उद्धृत किया जा रहा है—

साधो सहज समाधि भली
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन-दिन अधिक चले
जह-जह डोलौ सो परिकरमा जो कुछ करो सो सेवा।

संतमत में सुरति-निरति और सहज समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करने में कठिनाई यह है कि अनुभूति के धरातल की वस्तु बौद्धिक स्तर पर सर्वथा स्पष्ट नहीं की जा सकती।

———

१९४२ की अगस्त क्रान्ति में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का योगदान और चन्द्र सिंह गढ़वाली की भूमिका

शशिभूषण मिश्र*

द्वितीय विश्व युद्ध भारत की पूर्वी सीमा तक आकर उसे युद्ध क्षेत्र का मुख्य केन्द्र बनाता जा रहा था। ब्रिटेन भारतवासियों से पूर्ण सहयोग लेना चाहता था, अतः भारतीय नेताओं से समझौता वार्ता हेतु 'क्रिप्स मिशन' भारत आया किन्तु यह वार्ता सफल न हो सकी। यह असफलता गांधी जी एवम् जनता के आक्रोश के रूप में बढ़ती गयी।[1] अप्रैल, 1942 को कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में यह निश्चित किया गया कि कांग्रेस कोई भी ऐसी स्थिति स्वीकार नहीं करेगी, जिससे भारतीयों को दास के रूप में कार्य करना पड़े। वर्धा में 14 जुलाई 1942 को कांग्रेस कार्य समिति ने यह माँग की कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों को शासन सौंप कर चली जाय।

पं० जवाहर लाल नेहरू ने 7 अगस्त 1942 को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस महा समिति के अधिवेशन में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव प्रस्तुत किया। कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने कहा कि हम इस देश में शासन का सम्पूर्ण अभाव नहीं, शासन का परिवर्तन चाहते हैं।[2] महात्मा गांधी ने कहा, मैं अब भी वही हूँ, जो 1920 में था अन्तर केवल इतना है कि बहुत से मामलों में 1920 से अधिक शक्तिशाली हूँ। साथ हो गाँधीजी ने अहिंसा, जनतंत्र और स्वतन्त्रता आदि का सम्बन्ध प्रस्तुत किया।[3] 8 अगस्त को सायंकाल अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया।[4] गांधीजी ने राष्ट्र को अपना ऐतिहासिक सन्देश देते हुए कहा कि मेरे जीवन की यह अन्तिम लड़ाई है, इस निश्चय को किसी भी स्थिति में बदल नहीं सकता। या तो हम हिन्दुस्तान को आजाद करके रहेंगे या शहीद होकर मरेंगे।[5] 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार करने के बाद किसी को यह कल्पना नहीं थी कि सिर्फ 2 घंटे के अन्दर अभूतपूर्व दमन चक्र चलने वाला है।[6] नेताओं की गिरफ्तारी ने आन्दोलन में चिनगारी फेंकने का कार्य किया।[7] जनता में इतनी उग्र भावनायें थीं कि यह विद्रोह शान्तिपूर्ण नहीं रह सकता था।[8]

8 अगस्त की रात्रि में शासन द्वारा प्रकाशित एक विज्ञप्ति में कांग्रेस द्वारा अपनाये जाने वाले कार्यक्रमों का उल्लेख था; जिसके अनुसार रेल की पटरियाँ और टेलीफोन के खम्भे आदि उखाड़ा जाना था।[9] 9 अगस्त को प्रातःकाल गांधीजी समेत कांग्रेस के समस्त नेता गिरफ्तार कर लिये गये। राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी के बाद देश में जो रोष का वातावरण बना और जनता ने जो व्यापक संघर्ष किया वे स्वतः स्फूर्त थे।[10]

*शोध छात्र, इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अगस्त क्रान्ति में वाराणसी ने ऐतिहासिक योगदान दिया।[11] काशी में क्रान्ति की चिनगारियाँ देशव्यापी विद्रोह के पहले से ही सुलग रही थीं। 1 अगस्त, 1942 को ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक राधेश्याम शर्मा की अध्यक्षता में एक बैठक हुयी, जिसमें स्वीकार किया गया कि यदि गांधी जी के नेतृत्व में आन्दोलन होता है तो सशस्त्र विद्रोह भी होना चाहिए। बैठक के बाद एक जुलूस भी निकाला गया। इसके बाद 8 अगस्त तक प्रतिदिन विद्यार्थियों की सभा होती रही।[12]

9 अगस्त, 1942 को दिन में 10 बजे के लगभग पुलिस ने जिला तथा नगर कांग्रेस कमेटी के कार्यालयों पर कब्जा कर लिया। नगर में पूर्ण हड़ताल रही। महात्मा गांधी तथा सभी प्रमुख कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार तत्काल देने के लिए दैनिक "आज" का अतिरिक्त अंक 9 अगस्त को प्रातःकाल प्रकाशित किया गया।[13] सायंकाल आज का साप्ताहिक अंक निकला जिसकी प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गयी।[14] कांग्रेस कार्यालयों के बाद पुलिस अधिकारी काशी विद्यापीठ गये, वहाँ के प्रमुख प्राध्यापकों को गिरफ्तार करने के बाद पुलिस का वहाँ भी कब्जा हो गया।[15] काशी के जो प्रमुख नेता उस दिन गिरफ्तार किये गये उनमें सम्पूर्णानन्द, आचार्य बीरवल, प्रो० राजाराम शास्त्री, विश्वनाथ शर्मा, तारापद भट्टाचार्य और खेदनलाल उल्लेखनीय हैं।[16]

पुलिस ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के निकट स्थित कांग्रेस कार्यालय पर भी अधिकार कर लिया। इस घटना की जानकारी मिलने पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दो-तीन हजार छात्र एकत्र हो गये। डा० के० एन० गैरोला को विश्वविद्यालय कांग्रेस का अधिनायक बनाया गया। छात्रों का विशाल जुलूस उन्हीं के नेतृत्व में दशाश्वमेध पहुँचा। दशाश्वमेध पर सभी वार्डों के कांग्रेसी कार्यकर्ता उपस्थित थे और वे भी जुलूस में सम्मिलित हो गये। जुलूस टाउनहाल में पहुँचकर सभा में परिणत हो गया। इस सभा के वक्ताओं ने गिरफ्तार नेताओं को बधाई दी। अगस्त क्रान्ति के प्रथम दिन ही वाराणसी की जनता ने और उसमें भी विशेषकर छात्र-छात्राओं ने उग्र क्षोभ व्यक्त किया तथा स्वतन्त्र्य संघर्ष को और तेज करने का संकल्प किया।[17] 9 अगस्त की रात को प्रो० यू० एस० आसरानी और गोविन्द मालवीय गिरफ्तार हो गये।

देश के एक छोर से दूसरे छोर तक छात्र समुदाय अत्यन्त उत्तेजित था। छात्र प्रत्येक स्थान पर पिकेटिङ्ग का नेतृत्व कर रहे थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्र भी स्वाभाविक रूप से उत्तेजित थे। प्रतिदिन जुलूस निकल रहे थे तथा कक्षायें चलनी बन्द हो गयी थीं।[18] काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अगस्त क्रान्ति का प्रमुख केन्द्र हो गया था। यहाँ के छात्र-छात्राओं तथा अध्यापकों ने अगस्त क्रांति को नगर तथा जिले में ही नहीं, प्रदेश एवम् देश में भी व्यापक बनाया। विश्वविद्यालय के छात्रों ने प्रान्त में चतुर्दिक जाकर आन्दोलन का संचालन किया।[19] अध्यापकों ने इस अवसर पर भी राष्ट्रीयता की लहर फैलायी और आन्दोलन का नेतृत्व किया। इन अध्यापकों में प्रो० राधेश्याम शर्मा, यू० एस० आसरानी तथा डा० के० एन०

गैरोला का नाम उल्लेखनीय है। प्रो० राधेश्याम शर्मा, बिरला छात्रावास के 'इ' खण्ड के संरक्षक थे, जहाँ पर छात्रों को बुलाकर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने के लिए प्रेरित करते थे। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मुख्य छात्र नेता राजनारायण, प्रभुनारायण सिंह, सियाराम मैत्रेय, ओमप्रकाश गुप्त, डा० रामचन्द्र शुक्ल तथा भगवतदयाल शर्मा आदि थे। अगस्त-क्रान्ति में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों की एक प्रमुख टोली का नेतृत्व पेशावर सैनिक विद्रोह-काण्ड के प्रसिद्ध नायक चन्द्रसिंह गढ़वाली ने किया।[20]

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तोड़ फोड़ की घटनाओं को संचालित करने का एक प्रमुख केन्द्र बन गया था। भारत सरकार के रक्षा विभाग में कार्यरत डा० आत्मा राम से प्रो० राधेश्याम शर्मा ने बम बनाने की तकनीकी जानकारी तथा कुछ सामग्रियाँ प्राप्त किया था। विश्वविद्यालय के धातुकीय अभियान्त्रिकी विभाग के छात्र आनन्द मोहन ने दिल्ली जाकर बम बनाया। इलाहाबाद के दो छात्रों, काशीनाथ जायसवाल तथा महावीर प्रसाद को एक अन्य विद्यार्थी के साथ ग्वालियर भेजा गया ताकि वे बम बनाने की सामग्री तथा कुछ हथियार ला सकें क्योंकि उन दिनों ग्वालियर में हथियारों के लिए लाइसेन्स नहीं लेना पड़ता था।[21]

देश में फैली उत्तेजक स्थिति के कारण पूरे विश्वविद्यालय में विषम स्थिति पैदा हो गयी थी। परिस्थिति की गम्भीरता को देखते हुए विश्वविद्यालय प्रशासन ने छात्रों और अध्यापकों की एक आपात बैठक बुलायी। अशांत वातावरण को देखते हुये विश्व-विद्यालय को एक महीने तक बन्द रखने का निर्णय किया गया। 12 अगस्त को इस आशय की एक विज्ञप्ति भी प्रसारित कर दी गयी। 13 अगस्त को जिला प्रशासन द्वारा विश्वविद्यालय को यह सूचना दी गयी कि विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने शस्त्रागार पर आक्रमण करने की कोशिश की। इस घटना की सूचना मिलने के पश्चात् पुनः विद्यार्थियों तथा शिक्षकों की एक सभा बुलायी गयी। इस सभा में कुलपति डा० राधाकृष्णन् ने हिंसक कार्यों की निन्दा की। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर भी रेक्टर पं० मदनमोहन मालवीय ने भाषण किया, उन्होंने छात्रों से पूछा कि क्या वे गांधीजी के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं? छात्रों ने हाँ में उत्तर दिया, तब मालवीय जी ने विद्यार्थियों से यह निवेदन किया कि वे अपने को हिंसक कार्यों से विरत रखें। सभा में उपस्थित अध्यापक डा० के० एन० गैरोला ने मालवीय जी के भाषण पर इस आधार पर आपत्ति किया कि इससे ब्रिटिश सरकार को बल मिल सकता था।[22]

विश्वविद्यालय में छात्रों के वेश में उस समय गुप्तचर विभाग के कर्मचारी भी घूमा करते थे। एकबार एक गुप्तचर कर्मचारी रंगे हाथ पकड़ा गया, उसके मुँह को काला कर विश्वविद्यालय में घुमाया गया, फिर छात्रों ने पकड़कर उसे छात्रावास के एक कमरे में बन्द कर दिया।

12 अगस्त को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों का एक जुलूस गोदौलिया की ओर जा रहा था, सोनारपुरा पर हरिश्चन्द्र घाट के सामने पुलिस ने जुलूस को रोका।

जुलूस ने जब वापस लौटने से इन्कार कर दिया, तो पुलिस ने जुलूस पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलायीं, जिसके कारण 30-35 छात्र आहत हो गये। जब मालवीयजी अस्पताल में घायल छात्रों को देखने गये तो उन्होंने प्रो० राधेश्याम शर्मा से कहा कि "अगर विद्यार्थी मर गये तो मैं मर जाऊँगा और यदि आन्दोलन बन्द हो गया तो गांधी जी मर जायेंगे।" इस आन्दोलन में तोड़-फोड़ के कार्यों में श्री सूरज प्रसाद उपाध्याय जो बाद में नेपाल सरकार के गृहमन्त्री हुए और उनके भाई भी सक्रिय थे। हरिश्चन्द्र घाट के इस गोली काण्ड में विश्वविद्यालय के तीन विद्यार्थी घटनास्थल पर ही मर गये।[23]

19 अगस्त को प्रातःकाल ५ बजे विश्वविद्यालय प्रशासन को बिना कोई पूर्व सूचना दिये सेना मुख्य द्वार के ताले को तोड़कर अन्दर घुस गयी। जो छात्र यातायात के साधनों के अभाव के कारण अपने पैतृक निवास नहीं जा सके थे, परिसर में ही थे, उन्हें सेना ने बलपूर्वक छात्रवास छोड़ने के लिए बाध्य किया। सेना के जवानों ने उनके सामानों को मुख्यद्वार से बाहर फेंक दिया। इसके बाद सेना की टुकड़ी ने विश्वविद्यालय पुस्तकालय का ताला तोड़कर उसमें अपना अड्डा जमाया, बाद में वहाँ से हटकर रामपुर हाल में जाकर रहने लगी। इस घटना से विश्वविद्यालय प्रशासन स्तब्ध रह गया और 21 अगस्त को विश्वविद्यालय कार्यकारिणी परिषद की आपात बैठक, इस घटना पर विचार करने के लिए बुलायी गयी।[24]

विश्वविद्यालय परिसर में सेना का अधिकार हो जाने के बाद क्रान्ति के संचालक प्रो० राधेश्याम शर्मा तथा डा० के० एन० गैरोला परिसर से निकल कर भूमिगत हो गये। दोनों लोग पैदल गंगापुर राजनारायण के घर पहुँचे। वहाँ पर निहाला सिंह ने दोनों लोगों के साथ एक सहायक लगा दिया, जिसके साथ वे लोग पैदल ही जौनपुर तक गये। वहाँ से साधु वेश धारण कर इलाहाबाद पहुँचे। इलाहाबाद से कानपुर और ग्वालियर होते हुए ये लोग दिल्ली गये, जहाँ पर इनकी मुलाकात श्रीमती अरुणा आसफअली से हुई। इन लोगों के जीवित अथवा मृत पकड़े जाने पर सरकार ने पाँच-पाँच हजार रुपये का पुरस्कार घोषित किया था।[25]

सामाजिक रूढ़ियों के बावजूद यहाँ की छात्राओं ने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर विश्वविद्यालय का सिर ऊँचा किया। इन छात्राओं में दमयन्ती नारंग, सुरजीत कौर, कान्ती और लीला शर्मा के नाम उल्लेखनीय है।[26] दमयन्ती नारंग भूमिगत रूप से 6 महीने तक काम करती रहीं, इन्हें गिरफ्तार कर 1 वर्ष तक काल कोठरी में रखा गया। बाद में 1 वर्ष तक घर पर नजरबन्द रखी गयीं।

16 अगस्त को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों का एक जत्था मिर्जापुर में क्रान्ति-ज्वाला फैलाने के लिये गया। यह जत्था वहाँ के शिवशंकरी मण्डल के कार्यकर्ताओं के सहयोग से कैलहट एवं नारायनपुर स्टेशन तक डाकखानों को बर्बाद कर आगे बढ़ना चाहता था। इस जत्थे में झाँसी में पैदा हुए इंजीनियरिङ्ग कालेज के विद्यार्थी श्री मोतीलाल, इंजीनियरिङ्ग कालेज के ही सरदार काश्मीरी सिंह, सरदार रेशम सिंह,

सरदार मदनजीत सिंह; राजतिलक, सोप डिप्लोमा कोर्स के विद्यार्थी रघुनाथ रेड्डी तथा आई० एस-सी० के छात्र राजबहादुर खरे[27] समेत 24 तरुणों का दल गंगा नदी पार कर रामनगर रियासत से होकर मिर्जापुर की तरफ गया। इस दल का नेतृत्व चन्द्र सिंह गढ़वाली कर रहे थे।[28] ये सभी विद्यार्थी मध्यमवर्गीय तथा निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों के थे।[29]

श्री चन्द्र सिंह गढ़वाली वास्तव में भारत के एक बहादुर सपूत थे। इनका जन्म गढ़वाल के एक दरिद्र किसान परिवार में हुआ था। यद्यपि बचपन में गरीबी के कारण बहुत कम शिक्षा प्राप्त कर सके किन्तु लगन और परिश्रम से इन्होंने अपना ज्ञान बढ़ा लिया था। प्रारम्भ में इन्हें आर्य समाज से प्रेरणा मिली और फिर महात्मा गाँधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह से प्रभावित हुए किन्तु बाद में जेल जीवन के दौरान क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में आकर कट्टर साम्यवादी बन गये। पेशावर सैनिक विद्रोह की महत्वपूर्ण घटना जो 1930 में 22, 23 और 24 अप्रैल को घटी, उससे इनका नाम चमक गया। लम्बे समय के जेल जीवन से भी इनका उत्साह कम न हो सका।[30]

चन्द्रसिंह गढ़वाली, प्रख्यात समाजवादी नेता आचार्य नरेन्द्रदेव की सलाह पर 31 जुलाई, 1942 को काशी आये। काशी विद्यापीठ के सामने एक बगीचे में स्थित एक कोठरी में रहने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने विश्वविद्यालय में आना-जाना प्रारम्भ कर दिया। 10 अगस्त की सुबह विद्यापीठ में ताला लगाने के पश्चात् पुलिस ने इनके घर पहुँचकर तलाशी ली और 24 घंटे के अन्दर बनारस छोड़देने का निर्देश दिया। इसके बाद वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पहुँचे जहाँ के छात्र बढ़-चढ़कर विद्रोह में भाग ले रहे थे। विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की एक सभा के० एन० गैरोला की अध्यक्षता में हो रही थी। इस सभा में डा० गैरोला ने पेशावर कांड के इस नेता को तालियों की गड़-गड़ाहट के बीच भाषण देने के लिये आमन्त्रित किया। सभा ने इन्हें सर्वसम्मति से क्रांतिकारी कार्यों के लिए 'कमान्डर इन चीफ' चुना।[31] चन्द्रसिंह अपनी बीमार बेटी और असहाय पत्नी को उसी अवस्था में छोड़कर क्रान्तिकारी नौजवानों का नेतृत्व करने के लिए तैयार हो गये। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में तीन दिन बिताने के बाद अपनी पत्नी से मिलने गये, जहाँ पर पहले से अलगू राय शास्त्री लखनऊ से विश्वविद्यालय में वितरित करने के लिए कागजों का एक बन्डल लेकर पहुँचे हुये थे। पत्नी के लिए किसी प्रकार व्यवस्था कर पुनः विश्वविद्यालय की तरफ चल दिये।

उन दिनों विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर कड़ा पहरा लगा हुआ था, इसलिए चन्द्रसिंह गढ़वाली विश्वविद्यालय के पीछे से चहारदीवारी लाँघकर अन्दर घुसे। परिसर में पहुँचकर श्री गढ़वाली ने विश्वविद्यालय के छात्रों को क्रांतिकारी कार्यों के लिए प्रशिक्षित करना प्रारम्भ किया। 24 प्रशिक्षित क्रान्तिकारी छात्रों के दल के साथ जब वे गंगा नदी पारकर रामनगर रियासत में पहुँचे तो पूरे दल को दो-दो, तीन-तीन की टोलियों में बाँट कर दीक्षितपुर स्टेशन पहुँचने का निर्देश दिया। दीक्षितपुर स्टेशन से पहले एक मद्रासी

छात्र कृष्णन् टेलीफोन का तार काटने खम्भे पर चढ़ा किन्तु तार काटने के बाद असावधानीवश तार दूर से आकर उसके पेट में लगा, फिर वहीं गिरकर शहीद हो गया। दल के सदस्यों ने शहीद का शव बगल की नदी में प्रवाहित कर दिया और आगे बढ़े।[32]

एक छोटे से स्टेशन के पास पहुँचने पर दल के सदस्य नारा लगाते हुए स्टेशन की तरफ बढ़े, स्टेशन को बन्दकर वहाँ के कर्मचारी बाहर निकल गये; अतः छात्रों ने दरवाजा खोलने का प्रयत्न किया किन्तु दरवाजा न खुल पाने पर एक छात्र खिड़की का शीशा तोड़ कर अन्दर घुस गया, तभी असावधानी वश अन्य छात्रों ने स्टेशन भवन में विस्फोटक पदार्थों से आग लगा दी और वह तरुण अन्दर ही फँस गया। दरवाजा बार-बार खटखटाने पर किसी प्रकार जब उसे बाहर निकाला गया तो उसका शरीर पूरी तरह से झुलस चुका था। वहाँ से उसे बनारस चिकित्सा के लिए भेजा गया किन्तु डाक्टरों द्वारा नाम और पता पूछा गया न बताये जाने पर डाक्टरों ने पुलिस को सूचना दी। फलतः जो दो विद्यार्थी उसके साथ थे घायल तरुण को रिक्शे पर लेकर भागे। अन्त में उस मरणासन्न वीर को गन्ने के खेत में फेंककर अपने साथियों के पास चले गये। इस मरणासन्न युवक की अन्तिम घड़ी किस प्रकार बीती होगी, यह किसे पता?[33]

क्रान्ति का अलख जगाते हुए चन्द्रसिंह गढ़वाली एक गांव के स्कूल में पहुँचे, उस समय पूरा देश जोश में था! उस स्कूल के अध्यापक ने उन्हें भोजन कराने के पश्चात् क्षेत्र के राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित लोगों का नाम बतलाया। फिर दूसरे गाँव में पहुँचे जहाँ आजादी के बारे में 30-40 लोगों के बीच उनका भाषण हुआ।

15 अगस्त को चन्द्र सिंह अकेले दीक्षितपुर पहुँचे, जहाँ गांव के एक देशभक्त ने उनका स्वागत किया, किन्तु इस बात की सूचना पुलिस को प्राप्त हो गयी, फलतः 16 अगस्त को पुलिस पकड़ कर उन्हें चुनार थाने ले गयी और रास्ते में पुलिस ने उनकी बर्बरता पूर्वक पिटाई की। किन्तु थानेदार मुसलमान था और जब उसे जानकारी मिली कि ये वही चन्द्र सिंह गढ़वाली हैं जो पेशावर में मुसलमानों पर गोली चलाने से इन्कार कर विद्रोह किये थे तो उसने भोजन की व्यवस्था की और ससम्मान मिर्जापुर जेल भेज दिया।[34]

चन्द्र सिंह गढ़वाली की क्रान्तिकारी टोली के दो सदस्यों के शहीद होने के बाद जो 22 सदस्य बचे थे वे पकड़कर जेल में बन्द किये जा चुके थे। एक जत्थे के नेता इन्जीनियरिङ्ग कालेज के विद्यार्थी श्रीराम सिंह थे, घरम्मल पुर नामक गाँव में इनको पुलिस ने गिरफ्तार किया।[35] काशी हिन्दू विश्वविद्यालय दल के सभी लोगों पर 36 लोगों की हत्या का फर्जी मुकदमा चलाया गया।[36] साक्ष्यों के अभाव में हत्या का अपराध सिद्ध न हो सका किन्तु इस दल के सदस्यों को तीन-तीन वर्ष की कैद और 150 रु० जुर्माना तथा एक अन्य आन्दोलनकारी रामनाथ सिंह को 6 वर्ष कैद और 250 रु० जुर्माना हुआ।[37]

जन भावनाओं के इतने उग्र होने पर भी 1942 की अगस्त क्रान्ति अंग्रेजों को तत्काल देश से बाहर करने में सफल न हो सकी ओर विद्रोह का दमन कर दिया गया। एक साम्राज्यवादी सैनिक सरकार के समक्ष नेतृत्वविहीन, असंगठित और शस्त्रविहीन जनता की सफलता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके बावजूद भी इस विद्रोह ने भारतीयों को स्वतन्त्र होने के लिए संकल्प और साम्राज्यवाद के विरुद्ध घोर असंतोष को अभिव्यक्त किया। इस विद्रोह से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय स्वतन्त्र होने के लिये सर्वस्व न्योछावर कर सकते हैं। ब्रिटिश शासक भी अब पूरी तरह आश्वस्त हो गये कि भारत पर उनका शासन अब गिने चुने दिनों तक ही रह गया है, परिणामतः आगे आने वाले दिनों में सत्ता-हस्तान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

कांग्रेस का अधिकांश केन्द्रीय नेतृत्व उच्च वर्गीय और उच्च मध्यमवर्गीय था। बनारस में भी गांधीजी के अहिंसक मार्ग में विश्वास करने वाले कांग्रेस जन शांतिमय तरीकों से ही कारागार गये, ये लोग मुख्यतया उच्च और उच्च मध्यमवर्गीय परिवारों से आये थे। किन्तु जिन लोगों ने क्रान्तिकारी गतिविधियों का संचालन किया और जन-विद्रोह का सक्रिय नेतृत्व किया उनमें अधिकांश लोग निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों के ही थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उन छात्रों ने जो तोड़-फोड़ की गतिविधियों में भाग लिया वे निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों से आये थे। चन्द्रसिंह गढ़वाली का जन्म एक गरीब परिवार में हुआ था। इस संघर्ष में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा वाराणसी के विद्यार्थियों और शिक्षकों के साथ-साथ आमजनता ने जो साहसपूर्ण संघर्ष किया उसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ

1. विपनचन्द्र त्रिपाठी, अमलेश और डे, वरुन, फ्रीडम स्ट्रगल, पृष्ठ 217, नई दिल्ली, 1982।
2. स्वतन्त्रता संग्राम "आज" स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन, पृष्ठ 182, वाराणसी सं० 2028।
3. पृष्ठ 183 वही।
4. फिलिप्स, सी० एच० तथा अन्य सम्पादक, दि इवोलुशन आफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान, पृष्ठ 342 (1858-1947) सेलेक्ट डाकुमेन्ट्स, लन्दन, 1962।
5. स्वतन्त्रता संग्राम 'आज' स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन पूर्व उद्धृत, पृ० 184।
6. पृ० 184, वही।
7. मिश्रा, बी० बी०, द इन्डियन पोलिटिकल पार्टीज, आक्सफोर्ड, पृ० 386, नई दिल्ली 1976।
8. पृ० 393, वही।
9. प्रसाद (डा०) राजेन्द्र, बापू के कदमों में, पटना, पृ० 240, 1950।

10. दत्त, रजनी पाम, आज का भारत, पृ० 577, नई दिल्ली, 1977।
11. 'आज' स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन, पृ० 201, पूर्व उद्धृत।
12. साक्षात्कार, 17-3-82, प्रो० राधेश्याम शर्मा।
13. "आज", 9 अगस्त, 1942।
14. 'आज' स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन, पृ० 201, पूर्व उद्धृत।
15 दैनिक 'आज' 10 अगस्त, 1942।
16. क्षेत्रीय अभिलेखागार, वाराणसी, फाईल स० 4, पृ० 105।
17. दैनिक आज, 10 अगस्त, 1942।
18. दर, एस० एल० तथा सोमस्कन्दन, एस०: हिस्ट्री आफ बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी बी० एच० यू० प्रेस, पृ० 714, 1966।
19. 'आज' स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन, पृ० 204, पूर्व उद्धृत।
20. साक्षात्कार, 17-3-1982, प्रो० राधेश्याम शर्मा।
21. वही।
22. दर, एस० एल० तथा अन्य पूर्व उद्धृत पृ० 715 तथा 716।
23. साक्षात्कार, प्रो० राधेश्याम शर्मा, 17-3-82।
24. दर, एस० एल० तथा अन्य पूर्व उद्धृत पृ० 717 तथा 718।
25. साक्षात्कार, प्रो० राधेश्याम शर्मा, 17-3-82।
26. साक्षात्कार, श्रीमती लीला शर्मा 17-3-82।
27. सिंह, विश्राम; जिला मिर्जापुर के स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास, मिर्जापुर पृ० 113 तथा 114,।
28. सांकृत्यायन, राहुल; वीर चन्द्र सिंह गढ़वाली, दिल्ली, पृ० 387, 1957।
29. साक्षात्कार, प्रो० राधेश्याम शर्मा, 17-3-82।
30. भक्तदर्शन; गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ, देहरादून, पृ० 384 तथा 385, 1980।
31. सांकृत्यापन, राहुल, पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 283 तथा 284।
32. वही पृ० 287, 288,।
33. वही पृ० 288,।
34. वही पृ० 290,।
35. सिंह, विश्राम, पूर्व उद्धृत पृ० 116।
36. सांकृत्यायन, राहुल; पूर्व उद्धृत पृ० 293,।
37. सिंह, विश्राम, पूर्व उद्धृत पृ० 116,।

———

भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकः पं० मदनमोहनमालवीयः

धर्मदत्त चतुर्वेदी*

यदा देशस्य प्राणभूतायाः भारतीयसंस्कृतेः ह्रासो भवति, तस्याश्चाङ्गानिधर्मसदाचारसंस्कारव्यवहारादीनि तमसाच्छन्नानि जायन्ते, सर्वत्र अधर्मस्य, असदाचारस्य, अशान्तेश्च बन्धनेन देशो बध्यते। भौतिकवादस्योत्तरोत्तरं वृद्धिर्भवति, सर्वतो दुर्वासनायुक्तकल्पितसुखस्य गन्धो वहति, अध्यात्मानुप्राणितस्य ध्वनेः स्थानेऽसत्यानुप्राणितोध्वनिः प्रतिष्ठापितो भवति, सर्वोऽपि मानवव्यापारः अनैतिकोपायैः—भौतिकसुखस्य प्राप्तौ संलग्नो भवति तदा तस्मिन् देशे भारतीय संस्कृतेः प्रतिष्ठापनार्थं, नैतिक मूल्यानां वर्धनाय, असत्यानुप्राणितभयङ्करभौतिकवादस्योन्मूलनाय, वेदादिशास्त्रेषु निहितधार्मिकसिद्धान्तानां प्रसाराय, अध्यात्मशक्त्या तद्देशस्य शक्तिमत्वं विधानाय कस्यचिद् पूर्वजन्मनि समर्जितप्रभूततपश्शक्तिशरीरिणो वसुधैवकुटुम्बकमित्याभाणकोपासकस्य, परहिते स्वात्महितं भोत्स्यमानस्य समधीत विविधवेदविधस्य गङ्गाजलस्येव स्वच्छहृदयस्य मानवस्याविर्भावो जायते। एवं विधोपर्युक्तविविधापेक्षाभियुक्तः पं० मदनमोहनमालवीयोऽभूत्। महानुभावस्यावतरणकाले पारतन्त्र्यरज्ज्वा बद्धोऽय भारतदेशः स्वाध्यात्मशक्त्या बहिर्मुखः, कुशिक्षया च ग्रस्तः, विलुप्तभारतीय संस्कृतेः प्राप्तेरिच्छुक इवासीत्।

आविर्भूते मालवीय महोदये समस्तमपिभारतम्मन्ये स्वकीयं विलुप्यमानंविवेकं प्राप्नोत्। अस्य महानुभावस्य सर्वा अपि क्रियाः भारतीयसंस्कृतेः पुत्र्य इवासन्। ताश्च क्रियाः भारतीयसंस्कृतेः सर्वानपि पक्षान् परिपुष्टानकार्षुः। महानुभावोऽयं भारतीयसंस्कृतेः सेवार्थं निम्नलिखितं समुन्नतदर्शमवृणोत्—

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां, प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मालवीयेनेयं कामना वस्तुतः देशे व्याप्तं दारिद्र्यं दुखञ्च हतुं कृता।

मालवीयमहोदयानाम अन्या अपि कामनाः भारतीय संस्कृतेः पोषकत्वेनप्रतीयन्ते—

ग्रामे ग्रामे सभा कार्या, ग्रामे ग्रामे कथा शुभा।
पाठशाला मल्लशाला, प्रतिपर्वं महोत्सवः॥
अनाथा विधवा रक्ष्याः, मन्दिराणितथा च गौः।
धर्म्यं सङ्घटनं कृत्वा, देयं दानं च तद्धितम्॥
स्त्रीणां समादरः कार्यो, दुखितेषु दया तथा।
अहिंसका न हन्तव्या, आततायी वधार्हणः॥

*शोधच्छात्रः, संस्कृतविद्यासंकायः, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय

अभयं सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यं धृतिः क्षमा।
सेव्यं सदाऽमृतमिव, स्त्रीभिश्च पुरुषैस्तथा ॥

इत्थं वस्तुतो मालवीयमहोदयो भारतीयसंस्कृतेः सत्यनिष्ठः समुपासक आसीत्। महोदयोऽयंसत्यब्रह्मचर्यादिमाध्यमेनैव सम्मानार्हताममन्यत। वस्तुतः सत्याश्रितं यत्किमपि वस्तु, तदतीव सात्विकं, रोचकम् आजीवनञ्चप्रसन्नताधायकं भवति, असत्याश्रिते वस्तुनि चन्द्र कलङ्क इव मालिन्यं भवति, तन्मालिन्येनान्तःकरणमस्वच्छं भवति। अतः सर्वैः जनैः मालवीयमहोदयस्य सत्यब्रह्मचर्यद्वारासम्मान प्राप्तये यः उपदेशः सः अविस्मरणीयः।

सत्येन ब्रह्मचर्येण, व्यायामेनाथविद्यया।
देशभक्त्यात्मत्यागेन, सम्मानार्हः सदा भव ॥

इत्थं मालवीयाभिमता भारतीयसंस्कृतेः प्रतीका सत्यब्रह्मचर्यपूर्विका सम्मानप्राप्तिः सर्वैः शिक्षार्थिभिः सर्वथाऽपरिहार्या। मालवीयमहोदयस्य विश्वास आसीद् यत् सत्येनैव ब्रह्मचर्यं प्राप्तिः भवितुमर्हति। ब्रह्मचर्यद्वारा मानवः निखिलाश्चापि शक्तीः अधिकर्तुमर्हति। एवं तद्द्वारा मानवः स्वदेशस्य कस्यचिदस्य भावस्य पूर्ति विधातुमर्हति। देवाः ब्रह्मचर्यद्वारा मृत्योरुपरि विजयं प्रापुः।

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"

भीष्मस्य ब्रह्मचर्यरूपशस्त्रबलेनैव भगवतः श्रीकृष्णस्य महाभारतात्मके युद्धे शस्त्राग्रहणप्रतिज्ञा भग्ना जाता। परशुरामेण एकविंशतिवारं क्षत्रियविहीना पृथ्वी कृता। अतो मालवीयस्यभारतीयसंस्कृतेः प्रतीकः ब्रह्मचर्य-सिद्धान्तः भृशमनुकरणीयः।

अन्यच्च गायत्री—मन्त्रोपासनायां मालवीयः दृढीभूतः। गायत्रीमन्त्र-जपेनापूर्वाचमत्कृतिर्लभ्यते। उपासनया मानवस्यान्तःकरणं पवित्रं भवति। अपवित्राणि कृत्यानि प्रभावितानि जायन्ते तथाऽऽत्मविकासो भवति। मालवीय-महोदयेनोक्तं-एतत्कर्माधिकारिणः जनाः प्रातः सायन्तु सन्ध्याकृत्यं गायत्रीजपञ्चावश्यं विदधतु। तेन स्वकीय विषयेऽभाणि—"अहं प्रातः सन्ध्यां विधाय—ॐ नमो नारायणाय" इति मन्त्रस्य जपं करोमि तथा सायं सन्ध्यां कृत्वा "ॐ नमः शिवाय" इति जपं—विदधामि तथा गायत्रीमन्त्रन्तु जपाम्येव तदैव मम सन्ध्या पूर्णा भवति। इत्थं भारतीयसंस्कृतेः अङ्गभूतस्य सन्ध्येत्यनुष्ठानस्यापरिहार्यत्वम्मानवैः स्वीकर्तव्यम्। मालवीयमहोदयेनेदमप्युक्तं अहन्तु यदा धूमयानेन यात्रां करोमि तदा तत्रैव सन्ध्यावेलागमनसमये सन्ध्यामपि विदधामि।

सनातनधर्मं प्रति निष्ठा—सनातनधर्मः सर्वमतानुयायिनामुपकाराय विद्यते" इति मालवीय-मान्यता। धर्म एव समस्तजगतः प्रतिष्ठाऽस्ति। तेनैव मालवीयस्य धर्मपालने दृढनिष्ठाऽऽसीदिति। उक्तञ्चापि मालवीयेन स्वकीये भाषणे—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा, लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेणपापमयनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ॥

मालवीयस्य धारणेयं यद् धार्मिकभावनानामुत्थानं विना देशस्योत्थानं न सम्भाव्यते। मालवीयस्य भावनाः धर्मस्योद्धाराय आसन् न तु "धार्मिक" इत्युपाधिप्राप्त्यै।

मालवीयस्य सर्वाणि कृत्यानि संस्कृतेः प्रचारवर्धकान्यासन्। 1976 ईशवीयतमे वर्षे मालवीयः प्रयागे कुम्भावसरे सनातनधर्मस्य एकं ग्रन्थं विरच्य उपस्थापितवान्। देशे व्याप्ताज्ञानान्धकारं निराकर्तुं ज्ञानप्रचाराय हिन्दूविश्वविद्यालयस्य प्रतिष्ठापनायाः प्रस्तावः समुपस्थापितः। 1928 ईशवीयतमे वर्षे जनवरीमासे अखिल भारतवर्षीय सनातनधर्ममहासभाया आयोजनं मालवीयस्य सभापतित्वे समभूत्। अनेकशः पारतन्त्र्य-निवारणप्रसन्नकारागारम् अगुः। एवं मालवीयस्य एतानि सर्वाणि कार्याणि भारतीयसंस्कृतेः अङ्गभूतस्य सनातनधर्मस्य प्रतीकत्वमभजन्त।

चारित्र्य-भावना तेषामतीवोच्चतमाऽविद्यत। शोभनं चरित्रं विना मानवो जगति किञ्चिदपि सत्कर्तुं नार्हति। चरित्रमेव मानवजीवनस्याधारः तद्विना मानवः मानवीयशक्तिभिर्विरहितो भवति। शास्त्रेषु निविष्टचरित्रपक्षं मालवीयः स्वलेखेषु प्रयुक्तवान्।

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत्सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पण्डितः॥

अन्यदपि मालवीयस्य चरित्र-सम्बन्धि शोभनाभाणकमासीत्—

"परनारी पैनी छुरी, ताहि न दीजै दीठ"

तैरुक्तं छात्राणां कृते—ब्रह्मचर्यं सम्पाल्य शरीरं सुपुष्टं विधाय छात्रैः चरित्ररक्षा करणीया।" इत्थं मालवीयः भारतीय संस्कृतेः सर्वथोपासकः इत्यत्र नास्ति सन्देहलेशावकाशः।

संस्कृतभाषां प्रति निष्ठा—यस्यां भाषायां समग्राऽपि देशस्य प्राणभूता संस्कृतिः, सभ्यता, मानव-कर्तव्यानि च स्युः, तर्हि तस्याः भाषायाः महत्वं भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकभूतजनानांकृतेऽपरिहार्यं भवति। भारतस्य समग्रा प्राचीना संस्कृतिः संस्कृतभाषायामेव विद्यमानऽस्ति। यदि संस्कृतस्य प्रचारः प्रसारः न भवति तर्हि तत्र स्थिता संस्कृतिरपि प्रचारिता न भवति। संस्कृतभाषा तु देवभाषा, यस्या प्रयोगं देवा अपि चक्रुः—

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः"

इति वचसा संस्कृतं दैवी वागिति। मालवीय-महोदयः भारतीयसंस्कृतेः संस्कृतभाषायाश्च सर्वथोपासकः। "श्री मालवीयजीवन चरित" पुस्तकस्य द्वितीय भागे षट्चत्वारिंशत् तमे पृष्ठे संस्कृतभाषायाः विषये मालवीय विचाराः निम्नलिखिताः सन्ति—"अस्माकं पैतृक-सम्पत्तीषु-बहुमूल्यं रत्नं संस्कृतभाषा वर्तते। अस्यां भाषायां अस्माकं पवित्रं साहित्यं, धार्मिकं तत्वज्ञानं तथा सर्वविध प्राचीन संस्कृतेः सुन्दराणि अङ्ग-प्रत्यङ्गानि पूर्णतया सुरक्षितानि सन्ति। अन्यदपि मालवीयवचनम्—सर्वोऽपि मानवः स्वकीयां वैयक्तिकीं, शारीरिकीं, मानसिकीं, आध्यात्मिकीं चरित्रसम्बन्धिनीञ्चोन्नतिं केन प्रकारेण कर्तुमर्हति, भूयश्च कथं स्वात्मानं एकस्मिन् शक्तिनिष्ठ समाजेसङ्गन्तुमर्हति, अस्य पूर्णं विवेचनम् अस्माभिः संस्कृतभाषायामुपलप्स्यते। इत्थं मालवीयः भारतीयसंस्कृते संस्कृतस्य च अद्वितीयः समुपासकः सिद्धः।

अन्यच्च तेषां भारतदेशं प्रति या भावना साऽधतनैर्मानवैरनुकरणीया—

मातृभूमिः पितृभूमिः, कर्मभूमिः सुजन्मनाम् ।
भक्तिमर्हति देशोऽयं, सेव्यः प्राणधनैरपि ॥

मालवीयेनास्य स्वसिद्धान्तस्यचारितार्थ्यं 'हिन्दूविश्वविद्यालयस्य स्थापनायाः रूपेणा-नुष्ठितम् ।' मालवीयस्योदार्यस्य त्यागस्य च प्रतीकभूतोऽयं विश्वविद्यालयः । तेनैव कारणेन सम्पूर्ण भारते विश्वविद्यालयोऽयं केन्द्रियरूपेण विद्यते । अत्र प्राच्यपाश्चात्यशिक्षयोरध्ययन-मध्यापनञ्च भवतः । मालवीयस्य कथनमस्ति—हिन्दूविश्वविद्यालयस्य संस्थापना विद्यार्थिनां कृते शारीरिक-बलेन सहज्ञानबलस्य प्राप्त्यै व्यधीयत इति विद्यार्थिनः नः विस्मरेयुः ।

मालवीयः प्राचीन संस्कृतेः अङ्गभूत-व्रतानां समाचरणं व्यदधात् । तैरस्मिन् विषये समभाणि यानि पापानि प्रचीनानि भूत्वा शुष्काणि जातानि जायमानानि वा सन्ति, तेषां सर्वेषां निवारणार्थैकादश्याः व्रतमाचरणीयम् । इत्थं मालवीयमहोदये भारतीयसंस्कृतेः सर्वे ऽपि पक्षाः सूत्रे मणिगणा इव अनुस्यूताः आसन् ।

भारतीयजनानां जीवनं कीदृशं भवेदस्मिन् विषये मालवीयस्यायं श्लोकः अपरिहार्यं :—

नान्यस्माद्विभियाज्जातु, न वा कञ्चन भीषयेत् ।
आर्यवृत्ति समालम्ब्य, जीवेत्सज्जन जीवनम् ॥

इत्थं सम्यक् प्रतिभाति यत् पं० मदनमोहनमालवीयः भारतीय संस्कृतेः प्रतीकः एव न यावदसौ भारतीय-संस्कृते पुत्र इवासीदिति ।

24–12–83 को 123 वीं मालवीय जयन्ती के अवसर पर सम्पन्न निबन्ध लेखन प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कृत संस्कृत निबन्ध ।

———

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

नन्दिता दास गुप्ता*

"हिन्दू विश्वविद्यालय में शरीर शिक्षा और धर्म शिक्षा दोनों अनिवार्य हैं। इन दोनों का मेल गंगा-यमुना की तरह होना जरूरी है"

ये शब्द इस महान् विश्वविद्यालय के संस्थापक प्रातःस्मरणीय महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी के हैं जो छात्रों को हमेशा सुगठित शरीर एवं उत्तम चरित्र की शिक्षा दिया करते थे। वे चाहते थे कि उनके छात्र विद्याध्ययन के साथ ही अच्छे स्वास्थ्य के स्वामी बनकर विभिन्न खेलों, प्रतियोगिताओं में सबसे आगे रहें। उनके समय में निर्मित विशालकाय खेल के मैंदान एवं स्थल उनकी इसी दूर दृष्टि के परिचायक हैं। हमारे हिन्दू धर्म एवं भारतीय संस्कृति की यह विशिष्टता रही है कि जीवन से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर ढ़ूढ़ने के लिए अनगिनत महापुरुषों एवं मनीषिओं ने अपना पूरा जीवन उत्सर्ग कर दिया। जीवन के आत्मिक एवं सांसारिक रहस्यों को सुलझाने में शरीर की महत्ता का उन्होंने प्रतिपादन किया। उन्होंने उद्घोषणा की 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' अर्थात् सारे धार्मिक संपूर्णता की प्राप्ति शरीर रूपी साधन के द्वारा ही सम्भव है। मानव इस शरीर के द्वारा भौतिक और आध्यात्मिक सभी उपलब्धिओं का स्वामी बन सकता है। योग, हठयोग, व्यायाम, खेलकूद आदि विभिन्न क्रियाओं का इस वैज्ञानिक युग में भी कितना अधिक महत्त्व है इसे बताने की आवश्यकता नहीं है। यदि वर्तमान समय की शैक्षणिक संस्थाओं में शारीरिक शिक्षा एवं शारीरिक प्रशिक्षण अनिवार्य विषय के रूप में रख दिया जाय तो अनुचित न होगा।

आज खेलकूद और ऐथलेटिक प्रतिस्पर्धाओं का स्थान काफी ऊँचा है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति की रूझान इस ओर बढी है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो दुनिया में एकमात्र ग्रीक देश में ही रथ दौड़, ऐथलेटिक, जिमनाजियम आदि को उतना ही महत्त्व दिया जाता था जितना कविता, ड्रामा, कला, साहित्य आदि विशिष्ट मानसिक अभिरूचियों को। तत्कालीन ग्रीक निवासियों एवं ग्रीक के ऊँचे अधिकारियों के इस अभिरूचि का ही परिणाम ओलंपियाद रहा जो आज ओलंपिक आन्दोलन के रूप में अन्तर्राष्ट्रिय स्तर पर महत्त्व प्राप्त कर चुका है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में भी खेलों के प्रति चहुमुखी प्रगति हुई है। आज अच्छे स्वास्थ्य एवं इसकी सुरक्षा के प्रति सोचने विचारने का कार्य राष्ट्रीय पैमाने पर हो रहा है। इसी का परिणाम है कि खेलों एवं सम्बन्धित एशोसियेसनों को हर तरह से सहयोग मिल रहा है। बच्चों, बूढ़ो, स्त्रियों एवं पुरुषों, प्रायः सबकी दैनिक क्रियाओं, में खेल कूद, व्यायाम, योगासन आदि का किञ्चित समावेश हुआ है।

* प्रवक्ता, शारीरिक शिक्षा विभाग, महिला महाविद्यालय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

पूर्ण स्वस्थ होने का जहाँ तक प्रश्न है उसमें मन की पूर्णता भी सम्मिलित है। तात्पर्य है, शरीर के साथ ही साथ अनुशासन एवं चरित्र का धनी होना। आसनों, यौगिक क्रियाओं, खेलों आदि से अंग-प्रत्यंग पर प्रभाव पड़ता है। इससे व्यक्ति अधिक गतिशील हो जाता है उसमें स्फूर्ति एवं शक्ति की अभिवृद्धि तथा नैतिक गुणों का विकास होता है। यहाँ तक पाया गया है कि अच्छे स्वास्थ्य एवं अनुशासन में जीने वालों में दृढ़ इच्छा शक्ति और संकल्प की भावना तीव्र होती है। उनमें निर्णय लेने की शक्ति भी अत्यधिक होती है। शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ लोगों को अल्प प्रयास द्वारा सूक्ष्म शक्तिओं का उपयोग करते हुए भी देखा गया है। ऐसे लोगों के लिए विभिन्न कार्यों में बिना किसी कमजोरी अथवा घबराहट महसूस किए भाग लेना तो सामान्य बात है। शरीर की सम्पूर्ण उर्जा का सदुपयोग करने की क्षमता ऐसे लोग शीघ्र प्राप्त कर सकते हैं। सूक्ष्म एवं स्थूल हर प्रकार की साधना में असीम ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को शारिरिक क्रियाओं के प्रति सचेष्ट रहते हुए मन-मस्तिष्क को क्रियाशील बनाना चाहिए और अपने में खेल भावना (स्पोर्ट स्पिरिट) पैंदा करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति का व्यक्तित्व सामान्य आदमी से थोड़ा हट कर निखरता है। उसमें सहन शक्ति का प्रशंसनीय उत्कर्ष देखा जा सकता है। खेल के, मदान में नियमों का उल्लंघन न करना, अनुशासित एवं नियंत्रण में रहना, प्रतिद्वन्दी की विजय उदारता से स्वीकारना एवं जज अथवा इम्पायर के प्रति मृदु होने जैसे गुणों का विकास प्रत्येक खिलाड़ी में होना चाहिए। मानसिक एवं शारीरिक सतर्कता बराबर बर्तने पर इन अमूल्य गुणों का विकास होता है। वर्तमान युग में सारी दुनियाँ तनावों एवं युद्धों की विभीषिका से संत्रस्त है। ऐसे समय में खेल भावना की आवश्यकता अत्यधिक बढ़ जाती है; क्योंकि इससे मानवजीवन तमाम कठिनाइयों एवं मानसिक उद्वेगों से राहत प्राप्त कर सकता है। अनुशासन,नियम-संयम के साथ ही आदेशों का पालन करते हुए टीम भावना से कार्य करना सफलता का द्योतक है। यदि प्रत्येक व्यक्ति में इन गुणों का विकास हो जाय तो राष्ट्र का अमित कल्याण सम्भव है। किसी भी राष्ट्र के उत्थान के लिए हर व्यक्ति को साथ लेकर चलना, उनका सहयोग लेना आवश्यक है। इसके लिए हमारे नेताओं की यही प्रमुख जिम्मेदारी है कि वे सबके सहयोग एवं विश्वास को जीतें। किसी भी अभियान को सफल बनाने के लिए सबको समन्वित करके चलना चाहिए जैसे एक ही व्यक्ति अपने दिमाग एवं शरीर से लगा हो। अनुशासनपूर्वक, लगन से किसी आदेश के अनुपालन का मतलब व्यक्तिगत आजादी की समाप्ति कदापि नहीं है। यह तो उदारता पूर्वक अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह करना है जो जीने के लिए आवश्यक है। इसकी विपरीत स्थिति ऐसी ही होगी जैसे किसी सामूहिक संगीत गोष्ठी का कोई सदस्य सबके साथ लय न मिलाकर अपना अलग राग अलापने लगे। आध्यात्मिक जगत के साधक की भाँति, जो अपने गुरू के बताये मार्ग पर साधना की एक-एक सीढ़ी तय करता है, प्रत्येक व्यक्ति एवं खिलाड़ी के लिए उक्त प्रशिक्षण अनिवार्य एवं लाभदायक है। यह राष्ट्रीय चरित्र के विकास में भी सहायक है।

मानव जीवन का परम लक्ष्य आत्मिक और शारीरिक सम्पूर्णता प्राप्त करना रहा है। आध्यात्मिक 'सम्पूर्णता' की प्राप्ति भी भौतिक आधारों को एक किनारे छोड़ने से नहीं हो

सकती। इसीलिए शरीर का आध्यात्मिक उन्नयन में अत्यधिक महत्व है। दुनियाँ के बहुत से दार्शनिकों का इस पर मतैक्य है कि शरीर एवं आत्मा भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों के एकाकार होने के सर्वोच्च उदाहरण हैं। भौतिक तत्वों से आत्मिक तत्वों का अद्भुत समावेश है। दूसरे शब्दों में जीवन का निर्माण ही भौतिक जगत से हुआ है। प्रत्येक प्राणी का शरीर इस ब्रह्मांड में एक कण के समान माना जाय तो प्रत्येक कण में लौकिक-अलौकिक जगत का दर्शन हो सकता है। जीवन ब्रह्मांड की तरह सर्वव्यापक है। ब्रह्मांड की सारी ज्योतियों, एवं सौन्दर्य का दर्शन इस शरीर एवं आत्मा रूपी तिनके में मिल सकता है बशर्तें उस आत्मिक शारीरिक जागृति का स्वामी बना जाय। सत्य के द्वारा, ज्ञान प्राप्ति के द्वारा, जीवन की सर्वव्यापकता को, सम्पूर्णता को, एक नये जीवन को, इस शरीर रूपी साधन के द्वारा सार्थक बनाया जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि इस शरीर रूपी साधन के द्वारा कौन सा उपाय किया जाय कि जीवन की संपूर्णता को प्राप्त किया जा सके? दार्शनिकों एवं साधकों ने बहुत से उपाय एवं मार्ग बताये हैं। हठयोग, राजयोग, आसन, प्राणायाम आदि मार्गों का अनुशीलन भी एक उपाय है लेकिन उसके लिए तन एवं मन को पूर्णरूपेण तैयार करना पड़ेगा। शरीर के अन्दर की उर्जा एवं बाह्य जगत की उर्जा को पहचानना होगा। एक-एक सीढ़ी तय करके उस सर्वोच्च जगह में पहुँचना होगा। शरीर की सारी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न उर्जा को बाह्य जगत की उर्जा से मिला देना होगा। अर्थात् अन्तर्जगत् एवं बाह्य जगत् दोनों के संयुक्त प्रयास के द्वारा ही इस लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। इसके लिए भौतिक एवं आध्यात्मिक सभी शक्तियों की सहायता आवश्यक है।

हमारे ऋषियों के जीवन में यही बातें दीखती हैं। आश्रमों में रहकर अलौकिक एवं लौकिक शक्तियों की पहचान, एक नयी सृष्टि की रचना करना, शिक्षा एवं उपदेश देना, यही उनकी दिनचर्या थी। तात्कालिक समाज की संरचना एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में उन ऋषियों का अप्रतिम योगदान रहा होगा। उन ऋषियों का शिष्यों के लिए ही पहला आदेश उत्तम शरीर एवं उत्तम मस्तिष्क का निर्माण था। उनके आश्रमों में नियम एवं संयम से शिष्यों को इसके लिए प्रशिक्षण दिया जाता था। व्यायाम, खेलकूद, योग आदि क्रियाओं में आज हमारी जो कुछ उपलब्धि है उसका श्रेय उन्हीं महापुरुषों को है।

वर्तमान समय में हमारी बहुत बड़ी आवश्यकता इसी प्रशिक्षण की है। यदि घर से ही बच्चों में इसके प्रति रुचि उत्पन्न की जाय तो आगे चलकर स्कूल, कालेज और विश्व-विद्यालयों तक पहुँचकर उन्हें उनमें अपेक्षित शारीरिक एवं मानसिक विकास सम्भव हो सकता है। शारीरिक शक्तियों के विकास के बिना मानसिक शक्तियों का विकास अवरुद्ध हो जाता है। बचपन से ही प्रशिक्षण देने पर नानाविध शक्तियों के विकास का अवसर मिलता है। इससे अनुशासन एवं चरित्र निर्माण की प्रक्रिया को भी सम्बल प्राप्त होता है।

प्रकृति प्रदत्त मानव शरीर में बहुत सी गुप्त और चमत्कारिक शक्तियाँ छुपी पड़ी हैं। आवश्यकता है इन शक्तियों को जागृत करने की। मनुष्य की प्रत्येक गतिविधि कुछ शक्तियों

का ही परिणाम है, जिनमें थोड़ी सी कमी होने पर वह कुछ नहीं कर सकता। एक नाविक तैराक, धावक, पर्वतारोही, सभी को शक्ति की आवश्यकता है। इसमें थोड़ी सी कमी होने पर वह अपने अभियान में असफल हो जाता है। नियमित रूप से उक्त क्रियाओं के संपादन द्वारा ही एक प्रशिक्षणार्थी तैयार होता है। मानव सभ्यता का विकास इन्हीं गुप्त एवं प्रकट शक्तियों की विजय गाथा पर आधारित है। 'उपनिषदों' में तो पुरुष का तात्पर्य ही शरीर एवं मस्तिष्क के स्वामी से है। मस्तिष्क नियन्त्रण करने की शक्ति हासिल करना पुरुष की पहिचान कही गई है।

यद्यपि मानव की शारीरिक तथा मानसिक सीमाएँ होती हैं, लेकिन देखा गया है कि वहुत सी क्रियायें एवं साधन ऐसे हैं जो इनका भी अतिक्रमण कर देते हैं। अन्तर्जगत की सूक्ष्म शक्तियों का सहारा लेकर कितने ही महापुरुषों ने उस दिव्य ज्योति का दर्शन किया है, उस 'सम्पूर्णता' को प्राप्त किया है जो युगों से मानव जीवन का परम् लक्ष्य रहा है। ब्रह्मांड की विराट शक्तियों के साथ मानव शरीर की सूक्ष्म शक्तियों का सम्मिलन सम्भव है। यह पूर्णतया दार्शनिक विचार है जो अनेक महापुरुषों के जीवन में प्रत्यक्ष उद्घाटित हुआ है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जाय कि शरीर रूपी साधन के द्वारा हर असम्भव को संभव बनाया जा सकता है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वर्तमान भौतिक जीवन के दमघोटू, संत्रास भरे वातावरण से मुक्त होकर, सौन्दर्य एवं आनन्दस्वरूप कल्पनातीत नए जीवन में, मानव विचरण कर सकता है बशर्तें वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त संपूर्ण क्षमताओं एवं शक्तियों को पहचानकर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति में निरंतर क्रियाशील रहे।

अन्त में इस महान् विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी महाराज के उद्बोधन को जीवन में उतारने का मेरा आह्वान है—

"सब प्राणियों के उपकार के लिए, शारीरिक शिक्षा और धर्म के महत्त्व को समझो। गाँव-गाँव में पाठशालाएँ, खेल-कूद के मैदान और अखाड़े खोलो।"

———

भक्ति साहित्य के सांस्कृतिक आयाम

डॉ० राम मोहन पाण्डेय

मानवीय चेतना में जो कुछ भी उदात्त, महान और मनोज्ञ है उसकी ही व्यञ्जना संस्कृति के द्वारा होती है। मानवीय व्यक्तित्व के विधायक दो तत्त्व हैं—मृणमय और चिन्मय। मृणमय तत्त्व भौतिक साधनों द्वारा जीवन के लौकिक स्वरूप और उसकी बाह्य स्थिति का व्यंजक है। इसके अन्तर्गत लौकिक जीवन के ऐहिक तत्त्व, संस्कार, सामाजिक उत्सवादि, मनोरंजन के साधन, उद्योग धन्धे, वस्त्रालंकरण, भोजन एवं ऐश्वर्यादि समाहित हैं। चिन्मय तत्त्व आभ्यान्तरिक पक्षों का उद्घोषक है। मानवीय अन्तस्थल में जो भी महान भाव एवं विचार है उनका स्फटिक धवल रूप चिन्मय तत्व है। संस्कृति मानव जीवन के इसी चिन्मय तत्त्व की व्याख्या प्रस्तुत करती है। प्रस्तुत निबंध का प्रतिपाद्य भक्ति साहित्य का सांस्कृतिक आयाम है इसलिए चिन्तन का विशेष ध्यातव्य विन्दु भक्ति काव्य में सांस्कृतिक आयाम का उद्घाटन है। इसी से यहां संस्कृति की विशद व्याख्या प्रस्तुत न कर संकेत रूप में ही उसके स्वरूप का निर्देश करके मूल विषय पर आना ज्यादा समीचीन होगा।

सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करने वाले कवि के लिए व्यापक जीवनानुभव, विशाल दृष्टि और गहरी संवेदनशीलता आवश्यक है। जो कवि अपने युग के घात-प्रतिघात, उसके संघर्षों एवं सामाजिक, सांस्कृतिक उथल-पुथल को अपनी दृष्टि से देखकर जीवन का व्यापक एवं गहरा अनुभव प्राप्त करता है वही अपने काव्य में सांस्कृतिक मूल्यों को प्रशस्त रूप से प्रतिविम्बित कर सकता है। भक्ति काल की काव्य चेतना अपनी सामाजिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विरासत से अनुप्राणित है। निर्गुणियाँ संतों एवं प्रेममार्गी सूफी कवियों से लेकर सगुण भक्त कवियों तक सभी ने अपने काव्य में सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा द्वारा जीवन को एक नई दिशा दी है।

चूँकि भक्ति काल में भारतीय संस्कृति के उदात्त मूल्यों का रुपायन हुआ है अतः भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के आलोक में ही भक्ति काव्य के सांस्कृतिक आयाम का विश्लेषण करना समीचीन होगा। यहाँ एक बात ध्यान में रखनी है कि संस्कृति एवं सभ्यता सम्बद्ध होते हुए भी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। संस्कृति आभ्यन्तर अथवा चिन्मय तत्व है और सभ्यता मृगमय अथवा भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाह्य जगत की वस्तुओं का उपयोग। संस्कृति चिन्तन एवं परम्परागत संस्कारों द्वारा जीवन को सरस, सुन्दर एवं कल्याणमय बनाने की उत्तम प्रक्रिया है। अब आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों के परिदृश्य में भक्ति का संकेतात्मक अनुशीलन प्रस्तुत किया जाय।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित संगोष्ठी में पठित निबंध (दिसम्बर 1980)

भारतीय संस्कृति की मूल दृष्टि पदार्थिक न होकर तात्त्विक है। कहने का आशय है कि आधुनिक आरोहण की भाव प्रवणता ही इस संस्कृति का मूल आध्यत्मिक विन्दु है। निर्गुण संतों से लेकर सूफी कवियों एवं सगुण भक्ति के कृष्णाश्रयी एवं रामाश्रयी शाखा के भक्त कवियों ने जीवन के प्रति इस तात्त्विक दृष्टि को रुपायित करने का प्रयास किया है। कबीर ने इस दृष्टि को निर्गुण ब्रह्म के प्रति एकात्म भाव से प्रेम मूला भक्ति के द्वारा प्राप्त करने एवं अपने को समस्त सांसारिक जड़ता से मुक्त कर उसके साथ तादात्म्य करने की घोषणा की है। सूफी कवि प्रेम के माध्यम से एकनिष्ठ भाव द्वारा पार्थिव से अपार्थिव में लीन हो जाने की बात करता है। यह भी एक प्रकार का जड़ता से चेतन की ओर उठने का आध्यात्मिक प्रयास है। सगुण भक्त कवियों ने अपने को निःशेष भाव से प्रभु के चरणों में समर्पित कर भक्ति द्वारा ईश्वर सान्निध्य का प्रयास किया है। इस प्रकार चाहे कबीर हों या जायसी, सूर हों या तुलसी सभी का एक ही मूल प्रतिपाद्य है, व्यक्ति के आत्मा का आरोहण अर्थात् मनुष्य की पदार्थ से चेतन की ओर हिरण्यमयी यात्रा।

भारतीय संस्कृति का दूसरा वैशिष्ट्य है, लक्ष्य युक्त जीवन। समूचा भक्ति काव्य एक सुनिश्चित लक्ष्य को लेकर प्रस्तुत होता है। इस लक्ष्य का भी एक स्वरूप है। इस स्वरूप के भीतर जो चेतना कार्य करती है वह वस्तुतः मनुष्य को संस्कारित कर ऊपर उठाने की है। सगुण भक्त कवि मोक्ष की कामना नहीं करता 'सगुनोपासक मोक्ष न लेहीं' इस लिए वह मुक्ति का निरादर कर भक्ति के प्रति आसक्त है—

'मुकुति निरादर भगति लुभाने'

जवकि निर्गुनिया प्रभु में एकमेक होकर पुनः न लौटने की बात करता है—

'फुटा कुम्भ जल जलहि समाना— — — —

सगुण भक्ति में चार आश्रमों की प्रतिष्ठा द्वारा यह व्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य किस प्रकार क्रमशः निस्पृहता की ओर बढ़ता चला जायेगा। यह निस्पृहता व्यक्ति को समस्त जड़ता से हटाकर ऊपर की ओर ले जाने की एक साधनात्मक प्रक्रिया है। यही व्यवस्था मानव को जीवन की चरम उपलब्धि ईश्वरानुरक्ति की ओर प्रेरित करती है—

होय न विषय विराग भवन बसत भा चौथ पन।
हृदय वहुत दुख लाग जनम गउय हरि भगति बिनु॥

और अन्ततः सांसारिक राग को ईश्वरानुराग में परिवर्तित कर पाने में समर्थ होती है।

वर बस राज सुतहिं तब दीना॥
हरि हित आपु गवन बन कीन्हा।

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म की मान्यता भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। गीता में कर्मवाद का उद्घोष कर्मण्येवाधिकारस्ते मा 'फलेषु कदाचन' कहकर किया गया है। तथा ज्ञान और भक्ति की समान भूमिका पर उसे भी प्रतिष्ठा दी गई है। भक्त कवियों ने भी हमारी सांस्कृतिक परम्परा के इस तत्व को स्वीकार किया है। शुभाशुभ कर्म ही जीवन को मर्यादित रखने में सक्षम माने गये हैं। इसीलिए—

कर्म प्रधान विस्व करि राखा।
जो जस करै, सो तस फल चाखा।।

एवं—काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सम भ्राता।।

जैसी उक्तियाँ हमारे जीवन को अनुशासित करती हैं।

समस्त जड़ चेतन प्रकृति को एकात्म भाव से देखने की दृष्टि हमारे संस्कृति की विशिष्टता है। हमारे भक्त कवियों ने जगत को प्रभुमय देखने की दृष्टि दी है—

सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि युग पानी।।
उमा जे राम चरण रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं विरोध।।

आवश्यकता पड़ने पर भक्तों की पुकार पर प्रस्तर खम्भ से भी भगवान को प्रकट होना पड़ता है—पैज परैं प्रहलादहुँ के, प्रगटे प्रभु पाहन ते न हियेते।।

लोक मंगल की साधना भारतीय संस्कृति का प्राण है। वेदों से लेकर सम्पूर्ण भारतीय बाङ्मय—"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कह हित होई।।" के उदात्त भाव से अनुप्राणित है।

सांस्कृतिक मूल्यों के किंचित विश्लेषण के पश्चात् भक्ति काल की मूल चेतना को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के विकास की सांस्कृतिक पीठिका पर एक विहंगम दृष्टि आवश्यक है।

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना रही है। बहुत से विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि मध्यकालीन कुण्ठा और जड़ता के वातावरण को तोड़कर भक्ति आन्दोलन ने पूरे राष्ट्र के भीतर नवीन क्रियाशील सर्जनात्मकता को जन्म दिया और न केवल साहित्य बल्कि विभिन्न ललित कलाओं के क्षेत्र में ऐसी अद्भुत समृद्धि उत्पन्न की कि राजनीतिक दृष्टि से पराभूत होते हुए भी भारत सांस्कृतिक दृष्टि से विदेशियों के लिए अगम्य ही बना रहा।

भक्ति आन्दोलन यों तो किसी न किसी रूप से बहुत पहले आरम्भ हो चुका था, किन्तु अनेक आन्तरिक और बाह्य कारणों से ईसवी पूर्व पांच सौ वर्षों से लेकर ईसवी सन् की पांचवी छठीं शताब्दी तक एक हजार वर्षों का समय भक्ति आन्दोलन के क्षेत्र में निष्क्रियता का काल कहा जा सकता है। ऐसा नहीं था कि उस समय भक्ति संबंधी आधार ग्रन्थ न लिखे गए हों अथवा इस संबंध में चलने वाली गोष्ठियाँ आदि स्थगित हो गयी हों, किन्तु इतना सत्य है कि जिस शक्ति के साथ व्यास ने महाभारत में भक्ति का उद्घोष किया था वह स्वर काफी क्षीण हो चुका था और जैन, बौद्ध तथा दूसरे धार्मिक आन्दोलनों के कारण भक्ति के विकास के लिए जिस उर्वर वातावरण की आवश्यकता थी, उसका अभाव हो गया था। इसी कालावधि

की निष्क्रियता को देखकर अनेक यूरोपीय विद्वानों को यह कहने का आधार मिला कि भक्ति का उदय ईसाई धर्म के सम्पर्क का परिणाम है, क्योंकि इसी कालावधि में जब भक्ति आन्दोलन ह्रास पर था, भारत से ईसाइयों का सम्पर्क बढ़ा। किन्तु यदि हम निष्पक्ष तरीके से इस पूरे सांस्कृतिक इतिहास का पर्यवेक्षण करते हैं, तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि भक्ति का स्रोत नाना प्रकार की सामाजिक बाधाओं के कारण कुछ धीमा पड़ गया था, किन्तु कभी भी प्रतिहत नहीं हुआ। इस्लाम या ईसाई धर्म के सम्पर्क से यत् किंचित् प्रभाव इस आन्दोलन के विकास पर भले ही पड़ा हो, इसका स्वरूप निरन्तर भारतीय रहा और इस आन्दोलन ने भारतीय प्रतिभा को नाना क्षेत्रों में अपनी नवोन्मेषशालिनी क्षमता द्वारा क्रियान्वित करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया।

भक्ति का वास्तविक विकास तो निस्सन्देह युद्ध क्षेत्र में भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों और उनके कर्ममय व्यक्तित्व की प्रेरणा से हुआ, जिसका प्रमाण महाभारत के शान्ति पर्व और श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय से स्पष्ट हो जाता है। भागवत, ऐकान्तिक, पांचरात्र, सात्वत आदि मार्गों से संबंधित उस आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि मनुष्य जीवन से उदासीन होकर कर्म-विरति तथा वैराग्य वृत्ति द्वारा चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता वल्कि उसका प्रमुख उद्देश्य अपने को दिव्य सत्ता का यन्त्र मानकर जीवन के संघर्षों में जूझते हुए संसार को पहले की अपेक्षा अधिक सुन्दर और कृतार्थ बनाने में है। इसीलिए महर्षि व्यास ने महाभारत में भारत की प्रचलित ज्ञानयोग-प्रणाली के समकक्ष भक्ति-योग की प्रतिष्ठा की। कर्म-विरति के स्थान पर कर्मयोग की प्रेरणा महाभारत की मुख्य प्रेरणा है जिसने मनुष्य जाति की पीढ़ियों को कर्म-विमुख होने से बचाया।

आज के मनोवैज्ञानिक भी इसी सत्य को स्वीकार करते हैं कि जैसी मनुष्य की विचार धारायें, कल्पनायें और अनुभूतियाँ होती हैं उसी प्रकार के आन्तरिक व्यक्तित्व का निर्माण भी होता है। भगवान के जिन छः गुणों की हमारे प्राचीन साहित्य में चर्चा की जाती है, वे हैं—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। भगवान की शरण में जाने का अर्थ है जीव द्वारा इन ऐश्वर्यादि गुणों का निरन्तर चिन्तन और इनके माध्यम से अपना और संसार का निरन्तर रूपान्तरण करना। क्योंकि जीव नाना कारणों से इन छः गुणों से ठीक उल्टे छः दुर्गुणों के पाश में आबद्ध रहता है। वह दीन, हीन, पराधीन, दुःखी, जन्म-मरण दोष से ग्रस्त, अहंकार, विपरीत ज्ञान से भ्रमित और आसक्तिग्रस्त रहता है। इन त्रुटियों और सीमाओं से छुटकारा निवृत्ति मार्ग द्वारा सन्यास लेने से नहीं होता बल्कि जैसा भगवान श्रीकृष्ण ने अपने जीवन चरित्र के माध्यम से दिखलाया, भगवदर्पण द्वारा निष्काम कर्मयोग के माध्यम से संकुचित जीवन रूपान्तरित कर मुक्त और समृद्ध जीवन में बदलने से होता है। यही भक्ति मार्ग का मनोवैज्ञानिक सत्य है। यानी भक्त विश्व के इस महाभारत में अपने जीवन रथ की बल्गा भगवान के हाथों में अर्पित करके षड्गुणों की प्राप्ति के लिए निरन्तर निरासक्त भाव से संघर्ष करता रहता है।

हिन्दी साहित्य में मध्यकालीन भारतीय इतिहास के कुण्ठाग्रस्त काल के बाद भक्ति का प्रवाह जिस उद्दाम वेग से प्रवाहित हुआ उसने सामंतवादी क्षयिष्णु परम्पराओं को बिल-

कुल ध्वस्त कर दिया और समाज को एक स्वस्थ और लोकमंगल की व्यापक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। मध्यकाल का भारतीय समाज विदेशी आक्रमणों से जर्जर हो रहा था, सामाजिक मर्यादायें टूट चुकी थीं, मूल्यों का ह्रास हो चुका था, समाज को सम्बल प्रदान करने वाले ऐसे आधार प्रायः नष्ट हो चुके थे जो किसी भी जाति के लिए अनिवार्य तत्त्व होते हैं। आन्तरिक दृष्टि से देश खण्ड-खण्ड, विभक्त हो चुका था, हतदर्प जाति का सभी प्रकार से पतन हो रहा था। ऐसी स्थिति में नाना धार्मिक पाखण्डों एवं मतवादों के चक्कर में पड़ी जनता को एक ऐसे मार्ग की आवश्यकता थी जिस पर वह सुगमतापूर्वक चलती हुई अपने स्वत्व की रक्षा कर सके और सहज रूप में मानव मूल्यों का विकास हो सके। मध्यकालीन भारतीय भक्ति आन्दोलन के विशिष्ट प्रेरक आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में अपने कृष्णाश्रय स्तोत्र में लिखा :

म्लेच्छा क्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

गङ्गादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदेवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

अपरिज्ञाननष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु।
तिरोहितार्थवेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

नानावादविनष्टेषु सर्वकर्मव्रतादिषु।
पाषण्डैक प्रयत्नेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

देश म्लेच्छों से आक्रान्त है, सर्वत्र पाप के निलय बन गये हैं। सत्पुरुष पीड़ा से व्यग्र हैं, गङ्गादि तीर्थ नष्ट हो गये हैं, अज्ञान के कारण वेद, मन्त्र, व्रत, योग आदि नष्ट हो गये हैं, नाना प्रकार के वाद-विवाद ने चारों तरफ पाखण्ड फैल रखा है, ऐसे समय में कृष्ण ही हमारी एकमात्र गति हैं।

इससे स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वल्लभाचार्य धार्मिक पतन और मानव मूल्यों की ह्रासशील दशा से दुःखी थे। राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में भी अवस्था अच्छी नहीं थी। सारा समाज अपने को विपन्न और अरक्षित समझ रहा था। ऐसे ही समय में भक्ति-आन्दोलन का नवोन्मेष हुआ और देखते ही देखते सम्पूर्ण भारत एक दिव्य शक्ति से प्रेरित होकर अपनी सांस्कृतिक विरासत को बचाने और उसे विकसित करने के लिए सन्नद्ध हो गया। संगीत, चित्रकला, स्थापत्य, नृत्य, गीत आदि में अद्भुत सिसृक्षा से सारा राष्ट्र आप्यायित हो उठा। इस कला में जिस साहित्य की रचना हुई वह अपनी वस्तुरूपात्मक विशिष्टताओं के कारण यदि हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ साहित्य माना गया तो इसमें आश्चर्य क्या।

भक्तिकाल का सम्पूर्ण साहित्य सांस्कृतिक मूल्यों का सम्यक् रूप से व्यंजक है। काव्य और धर्म दोनों की अन्तिम स्थिति जड़ता से चैत्य की ओर ले जाने वाली ही है। भक्तिकाल का काव्य धर्म से जुड़कर जीवन के पदार्थिक बोध से ऊपर चेतन को स्वीकारता है।

परिणामतः आत्मिक आरोहण की उपलब्धि होती है। पदार्थ और जड़ की गति समतलीय होती है। यह पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण से आकृष्ट है। जब गुरूत्वाकर्षण से विपरीत ऊपर जाने की चेतना स्फुरित होती है तब पदार्थ से चेतन की ओर की हिरण्यमयी यात्रा प्रारम्भ होती है। भक्ति काल का सम्पूर्ण काव्य अपने सांस्कृतिक मूल्यों से मनुष्य को हिरण्यमय यात्रा के लिए प्रेरित करता है। भक्ति काल में कवि की वाणी में संस्कृति के जिन स्वरूपों की अभिव्यक्ति हुई है वे जीवन के ऐसे शाश्वत मूल्य हैं जो मनुष्य को स्व की सीमा से उठाकर पर के असीमित क्षेत्र में प्रविष्ट कराने में समर्थ हैं।

नये ज्ञान विज्ञान की रोशनी आज के मनुष्य को जिस अतीत ज्ञान सम्पदा से तोड़ रही है उसका विधायक मूल्य क्या है, अनास्था के इस अंधे युग में मानवीय मूल्यों के संरक्षण का आधार रचने की सही दिशा दिखाने में पुरानी वाणी आज भी कितनी संगत और नई है यह विचारणीय विषय है।

—:*:—

समस्याओं के बीच दिल्ली सल्तनत की स्थापना

डॉ० रश्मि अग्रवाल*

मुईजुद्दीन की आकस्मिक मृत्यु ने भारत में उसके अधिकारियों के लिए संकटमय स्थिति उत्पन्न कर दी। दिल्ली का शासन अभी भली-भाँति स्थापित भी न हो पाया था। सुल्तान की मृत्यु के कारण उसके अधिकारियों में पारस्परिक एवं वैयक्तिक स्पर्धा बलवती हो उठी। गजनी के साथ सम्पर्क भी कठिन हो गया। हिन्दुओं ने पुनः सिर उठाया। १२०६ ई० तक चन्देलों ने फिर कालिंजर पर अधिकार कर लिया और दक्षिण की ओर मुस्लिम सत्ता के प्रसार का प्रतिरोध किया।[1] गंगा की घाटी में बहुत से हिन्दू शासक मुसलमानों का प्रतिरोध कर रहे थे।[2] हरिश्चन्द्र गहड़वाल ने फर्रुखाबाद और बदायूँ के जिलों में पुनः अपनी सत्ता स्थापित कर ली।[3] परिहारों ने भी ग्वालियर पर पुनः अधिकार कर लिया। पूर्वी दिशा में भी बख्तियार की पराजय ने मुस्लिम सत्ता की नींव हिला दी। तुर्कों ने समस्त उत्तरी भारत रौंद डाला था, किन्तु मुईजुद्दीन की मृत्यु के समय उनका अधिकार केवल सिंध, पंजाब तथा दोआब तक ही सीमित रह गया था।

सुल्तान मुईजुद्दीन मुहम्मद-बिन-साम का कोई उत्तराधिकारी न था। मिनहाज-उस-रिसाज ने लिखा है कि एक बार जब उसके बहुत प्रिय सभासद ने उसका कोई पुत्र उत्तराधिकारी न होने पर चिन्ता प्रकट की तो सुल्तान ने निरपेक्ष भाव से उत्तर दिया था कि, "दूसरे शासकों के तो एक या दो ही पुत्र होंगे लेकिन मेरे तो तुर्की दासों के रूप में इतने सारे पुत्र हैं जो मेरी मृत्यु के बाद मेरे अधिकृत प्रदेशों के शासनाधिकारी होंगे और उस समस्त प्रदेश में खुतबे में मेरा नाम मेरे बाद भी बनाये रखेंगे।" अपने स्वामी के देहान्त के पश्चात् कुतुबुद्दीन ऐबक का प्रमुखता प्राप्त करना स्वाभाविक था। तुर्की अमीरों तथा सेना-नायकों ने उसको सुल्तान चुना और गोर के शासक ने भी उसके अधिकारारूढ़ होने में अपनी सहमति प्रकट की। इस प्रकार वह हिन्दुस्तान का शासक बना और उसने एक शासक वंश की नींव डाली जो उसके नाम से विख्यात है। प्रारम्भ में "ऐबक"[4] एक दास था।

मुईजुद्दीन का भतीजा गयासुद्दीन महमूद गोर का स्वामी बना था। किन्तु वह अयोग्य था। ख्वारिज्म का शाह गजनी और गोर की ओर बढ़ रहा था। अतः दिल्ली में स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करना अनिवार्य था। मुईजुद्दीन के भारत स्थित अधिकारियों में तीन अग्रगण्य थे। ताजुद्दीन यल्दूज करमान तथा नासिरुद्दीन कुबाचा जो उच्छ का प्रशासक था तीसरा कुतुबुद्दीन ऐबक जो सुल्तान के दासों में सबसे योग्य एवं स्वामिभक्त था।

कुतुबुद्दीन के जन्म और माता-पिता के बारे में जानकारी नहीं मिलती। वह बचपन में ही अपने माता-पिता से अलग हो गया और एक हाथ से दूसरे हाथ निकलते हुए मुहम्मद

*इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

गोरी का गुलाम वन गया।[5] मुईजुद्दीन ने उसकी बुद्धिमानी और उदार प्रकृति से प्रसन्न होकर एक बड़े पद पर उसकी नियुक्ति की।[6] तत्पश्चात् वह अमीरे-आखुर (शाही अश्वशाला का अधिकारी) वन गया।

११९२ में ऐवक ने तराइन के मैदान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। तत्पश्चात् उसे कुह-राम और समाना का प्रशासन सौंपा गया और अब भारतवर्ष में उसकी राजनीतिक जीवन-चर्या उचित रूप से आरम्भ हुई।[7] सामान्यतया उसका जीवन तीन चरणों में बाँटा जा सकता है।[8]

११९२–१२०६ तक मुईज़ुद्दीन के प्रतिनिधि के रूप में उत्तर भारत के कुछ भागों का शासक, १२०६–१२०८ तक मुईज़ुद्दीन के भारतीय साम्राज्य दिल्ली और लाहौर का अनौपचारिक सत्ताधिकारी स्वामी का सेनापति, १२०८ से १२१० तक एक स्वतन्त्र भारतीय राज्य का सर्वसत्ताधिकारी था। यह कहना कठिन है कि इन परिस्थितियों में कौन सी स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम सैनिक गतिविधियों में व्यतीत हुई, दूसरी राजनीतिक कार्यों में और तीसरी दिल्ली साम्राज्य का मानचित्र निर्मित करने में।

मुहम्मद की मृत्योपरान्त लाहौर के निवासियों ने ऐवक को राजशक्ति धारण करने के लिये आमंत्रित किया। ऐवक दिल्ली से लाहौर पहुँचा और राजसी सत्ता ग्रहण की, किन्तु उसका राज्याभिषेक गोरी की मृत्यु के ३ महीने वाद २४ जून १२०६ ई० को सम्पन्न हुआ।[9]

वास्तव में सिंहासन पर वैठने के पहले ही उसने चतुर वैवाहिक नीति द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। उसने अपनी पुत्री का विवाह इल्तुतमिश, वहिन का नासिरुद्दीन तथा स्वयं अपना ताजुद्दीन एल्दौज की पुत्री के साथ कर लिया था। सिंहासनारोहण के समय उसने मलिक तथा सिपहसालार की उपाधियाँ धारण की, सुल्तान की नहीं।[10]

ऐसा ज्ञात होता है कि उसने न तो अपने नाम से सिक्के जारी किये और न तो खुतवा पढ़वाया। इसका कारण सम्भवतः यह था कि कानूनी दृष्टि से वह उस समय तक भी गुलाम ही था।[11] नियमानुसार दासता से मुक्ति उसे १२०८ ई० से पहले नहीं प्राप्त हुई। किन्तु उसके स्वामी के उत्तराधिकारी गयासुद्दीन महमूद गोरी ने उसके पास चिह्न तथा ध्वज भेज दिया था तथा सुल्तान की उपाधि प्रदान की थी। अतः कानूनी दोष कुछ भी रहा हो किन्तु वास्तविक रूप से कुतुबुद्दीन सम्पूर्ण भारत का सुल्तान हो गया था।[12]

प्रो० के० ए० निजामी का कथन है कि, गोरी ने अपनी मृत्यु के समय तक अपने गुलाम सरदारों के अधिकारों और उनके उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय नहीं किया था जिसके कारण यल्दूज और कुवाचा की स्थिति समान थी और उनमें से प्रत्येक अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपने-अपने अधिकारों की व्याख्या करने में स्वतन्त्र थे। यही नहीं बल्कि उनका तो यहाँ तक कहना है कि गोरी ने भारत के विभिन्न तुर्की सरदारों को भी ऐवक की अधीनता में नहीं लिया था और वहाउद्दीन तुगरिल खाँ तथा मुहम्मद वखितयार खल्जी जैसे

शक्तिशाली सरदारों की मृत्यु पहले ही न हो गई होती तो वे भी ऐवक के प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होते।[13]

जैसे ही एल्दौज को शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ उसने पंजाव विजय के इरादे से गजनी से कूच किया। किन्तु ऐवक ने उसे परास्त किया। एल्दौज कोहिस्तान की ओर भाग गया।[14] सफलता से प्रफुल्लित होकर ऐवक गजनी पहुँचा और उसपर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् वह अपनी विजय का समारोह मनाने के लिये रंगरलियों में व्यस्त हो गया।[15] ऐवक को मार भगाने के लिये यही सुअवसर जानकर गजनी के नागरिकों ने एल्दौज को आमन्त्रित किया। अकस्मात गजनी के निकट पहुँचने से ऐवक घवरा गया और तुरन्त सगेसुर्ब के मार्ग से भारत आया।[16] प्रभावशाली सुरक्षा की दृष्टि से ऐवक ने लाहौर में रहना निश्चित किया और उसे अपनी राजधानी वनाया[17]

साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों के मामले भी वड़ी अस्त-व्यस्त स्थिति में थे। अली मर्दान द्वारा मुहम्मद बख्तियार खल्जी की हत्या ने मुहम्मद शेरा की निष्ठा को चुनौती दी[18]। शीरान ने अली मर्दान को तरनकुई नामक उसका इक्ता में वन्दी वना लिया और दिल्ली भाग आया।[19]

इस विषय में ऐवक के सामने एक वैधानिक कठिनाई थी। खल्जी, मुईजुद्दीन के दास नहीं थे और इसलिए ऐवक का उसका उत्तराधिकारी होने के नाते विहार पर कोई वैधानिक अधिकार नहीं था। अलीमर्दान ने ऐवक को इस वात के लिए तैयार किया कि वह अवध के राज्यपाल कैमाज रूयी को लखनौती भेजे जो खल्जी अमीरों के लिए उचित इक्ताऐं निश्चित करे।[20] कैमाज ने देवकोट की इक्ता मलिक हुसामुद्दीन एवज खल्जी को प्रदान की जो मुहम्मद बख्तियार के समय में ककूरी का अधिकारी था। इससे मुहम्मद शीरान तथा अन्य खल्जी वजीर रूष्ट हो गये और उन्होंने देवकोट पर आक्रमण कर दिया। कैमाज वापस आया और उन्हें वुरी तरह से पराजित किया। वाद में मुहम्मद शीरान एक आन्तरिक झगड़े में मारा गया।[21] अलीमर्दान ने ऐवक की सहायता से समस्त प्रदेश पर अपना अधिपत्य स्थापित कर लिया।[22]

इस प्रकार दिल्ली से कालिंजर व गुजरात तथा लखनौती से लाहौर तक का प्रदेश तुर्कों के अधिकार में आ गया था। १२०६ के पश्चात् ऐवक ने नई विजयों के वजाय विजित प्रदेशों की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया। यद्यपि कुतुवुद्दीन ने निरंकुशता से शासन किया परन्तु दिल्ली राज्य के सुदूरस्थ प्रदेश पूर्णतः अधीन न हो पाये और न देश के कोटिशः हिन्दुओं ने ही हिन्दुस्तान में मुसलमान शासन की स्थापना के प्रति स्वीकृति का भाव प्रदर्शित किया।[23]

उसने अनेक कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया किन्तु जब एक दुर्घटना से उसका जीवन समाप्त हुआ उस समय भी यह कार्य अधूरा था। चौगान खेलते समय वह अपने

घोड़े से गिर पड़ा और काठी की उठी हुई नोक उसकी पसलियों में घुस गयी। वह तत्काल ६०७ हि०, १२१० में मर गया।[24]

ऐबक एक अत्युत्तम सेनानी था। उत्तरी भारतवर्ष की विजय में उसकी निरन्तर सतर्कता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि मुईज़ुद्दीन का दृढ़ संकल्प। जिन अनिश्चित परिस्थितियों से होकर गोरी साम्राज्य गुजर रहा था उसमें यह उपलब्धि कुछ कम नहीं है।[25]

ऐबक अपनी दिली और बौद्धिक विशेषताओं के लिये प्रसिद्ध था। डा० हबीबउल्ला ठीक कहते हैं कि, "उसमें तुर्कों की निर्भीकता और फारसियों की परिष्कृत अभिरूचि तथा शालीनता पायी जाती थी।[26] उसकी उदारता ने उसे "लख बख्श" लाखों का दान करने वाला की उपाधि से सुशोभित किया।[27] फरिश्ता का कथन है कि, जब जनसाधारण किसी व्यक्ति के असीमित दान की प्रशंसा करते थे तो वह उसे अपने समय का "ऐबक" कहते थे।[28]

—०—

सन्दर्भ :

1. परमार्दिदेव के उत्तराधिकारी त्रैलोक्य बर्मन के अभिलेख उसके द्वारा अपने राज्य से तुर्कों के निष्कासन का उल्लेख करते हैं, एपिग्राफिया इण्डिका, १, पृ० ३२७, १६ पृ० २७३।
2. एपिग्राफिया इण्डिका, खण्ड ४, पृ० ३१०–१२।
3. हिस्ट्री ऑफ दि राठौर, (आशुतोष सिलवर वाल्यूम्स ३), पृ० २६५।
4. मेजर रेवर्टी का कहना है कि "इवक" का अर्थ होता है "निर्बल उँगलियों वाला" एक लम्बी टिप्पणी में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वह उसका प्यार का नाम था। फरिश्ता ने स्पष्ट लिखा है कि उसको ऐबक इसलिए कहा जाता था, क्योंकि उसकी छोटी उँगली कटी हुई थी। "तबकात-ए-नासिरी" के उद्धरण से रेवर्टी महोदय की व्याख्या का समर्थन नहीं होता। इसके अतिरिक्त तुर्की भाषा में "इवक" का अर्थ उँगली भी नहीं जान पड़ता। मुझे लगता है कि ऐबक इस दास का असली नाम था। उसी समय ऐबक नाम के बहुत से दास थे।

   एपिग्राफिका इण्डो-मोस्लेमिका, १९११–१२, पृ० २०, मेजर रेवर्टी—"तबकात-ए-नासिरी" १, पृ० ५१३–१४, टामस—"दि क्रॉनिकल्स ऑफ पठान

किंग्स ऑफ देलही", पृ० ३२, रैंकिंग—"मुन्तखब-उत-त्वारीख", १, पृ० ६६ (कलकत्ता सन् १८९८)।

टिप्पणी : २—यहाँ अनुवादक का कहना है कि तुर्की भाषा में 'ऐ' का अर्थ है 'चन्द्रमा' और 'वक' का अर्थ है 'स्वामी'। अनुवादक का मत है कि चन्द्रमा से सम्बन्ध होने के कारण उसका यह नाम पड़ा न कि टूटी हुई उँगली के कारण।

5. के० ए० निजामी "काम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" भाग ५, पृ० २०५।

6. "लुबाबुल अल्बाब" भाग १, पृ० २२९।

7. औफी "लुबाबुल अल्बाब" पृ० २३०–३१ भाग १।
निजामी "दिल्ली सल्तनत", भाग १ पृ० २६।

8. फरिश्ता भाग १, पृ० ६१–६२। एसामी, पृ० ९९।
"ताजुलमआसिर", पृ० ५२९ (अजीज अहमद द्वारा संकलित)।
निजामी, "दिल्ली सल्तनत", भाग १, पृ० २७।

9. फखरुद्दीन मुबारकशाह, भाग १, पृ० ३०, ३२।
मिनहाज अफीफ (कलकत्ता १८९०) पृ० १४०।

10. ईश्वरी प्रसाद : "हिस्ट्री ऑफ दि करौना टर्क्स"।
के० ए० निजामी : ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग ५ पृ० २०६।

11. ईश्वरी प्रसाद : पू० उ०, पृ० १४३।

12. के० ए० निजामी : भाग १, "दिल्ली सल्तनत" पृ० २९।

13. निजामी : पू० उ०, पृ० ३०।

14. मिनहाज (रेवर्टी) पृ० १३२।
फरिश्ता भाग १, पृ० ७०-७१ (लखनऊ, १९०५)

15. मिनहाज (रेवर्टी), पृ० १३५।

16. मिनहाज, पृ० १३६ (एसामी के अनुसार १०१) यह एक अत्यन्त सकरा दर्रा था, जिससे एक समय में एक घोड़ा और उसका सवार ही गुजर सकता था, इस दर्रे का बार-बार उल्लेख हुआ है। हबीबी उसका नाम लबे सूराख (अर्थात चट्टान या पहाड़ के बीच में जाने वाला मार्ग) लिखता है।

17. ताजुलमआसिर, पृ० ५३२ (अजीज अहमद द्वारा संकलित)

18. जब मुहम्मद बख्तियार खल्जी ने तिब्बत के लिए कूच किया था तो उसने मुहम्मद शेरा और उसके भाई अहमद शेरा को एक सेना देकर लखनौती और जाजनगर की ओर भेजा था। जब मुहम्मद बख्तियार ने नादिया नगर लूटा तो मुहम्मद शेरा सेना से तीन दिन तक अनुपस्थित रहा, किन्तु १८ हाथी लूटकर वापस आ गया (मिनहाज, पृ० १५७) निजामी "दिल्ली सल्तनत" भाग १, पृ० १७७।

19. निजामी, पू॰ उ॰, पृ॰ १७८। मिनहाज, पृ॰ १५७-५८।
20. मिनहाज, पृ॰ १५८। लुबाबुल अल्वाव, भाग १, पृ॰ २३६
21. मिनहाज, पृ॰ १५८-५९।
22. वही।
23. निजामी "ए कम्प्रिहैन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" भाग ५, पृ॰ २०९। "ताजउलमआसिर" इलिएट, भाग २, पृ॰ २३१।
24. निजामी, "दिल्ली सल्तनत", भाग १, पृ॰ २१०-११। मिनहाज, पृ॰ १६०।
25. के॰ ए॰ निजामी : "दिल्ली सल्तनत", भाग १, पृ॰ १७९।
26. "फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया", पृ॰ ८६।
27. मिनहाज, १३७, यह लाख ताँबे के सिक्के अर्थात् पीतल थे।
28. फरिश्ता भाग १, पृ॰ ६३।

श्री चैतन्य-मत

(श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन और भक्ति-सिद्धान्त का गवेषणात्मक अध्ययन)

लेखक–डॉ० अवध बिहारी लाल कपूर

प्रकाशक–परमार्थ-प्रकाशन, 5/161 राधारमणमार्ग, वृन्दावन

पृष्ठ संख्या–620, मूल्य : साठ रुपए

हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं था, जिसमें श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन और भक्ति-सिद्धान्त का प्रामाणिक रूप से सम्यक् और सुव्यवस्थित विवेचन किया गया हो। इस ग्रन्थ के माध्यम से डा० कपूर ने इस अभाव की पूर्ति की है।

यह उनकी अंग्रेजी पुस्तक The Philosophy and Religion of Sri Chaitanya का हिन्दी रूपान्तर मात्र नहीं है अपितु इसमें बहुत से ऐसे विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है, जो प्रथम कृति में अछूते रह गये थे, या जिनका उसमें स्पर्श मात्र किया गया था।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लेखक ने प्रभावशाली ढंग से सिद्ध किया है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने किसी स्वतन्त्र मत का प्रचार नहीं किया। उन्होंने श्रीमद् भागवत को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानकर उसके विशुद्ध सिद्धान्त का ही अपने ढंग से सिद्धान्त के रूप में प्रचार किया। अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म-सूत्र के भाष्य की रचना की, पर महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत को स्वयं व्यास देव द्वारा रचित ब्रह्म-सूत्र का अपना भाष्य माना। उनके परिकरों ने उनके आदेश और निर्देश के अनुसार जिस विपुल साहित्य की रचना की, वह श्रीमद्भागवत पर ही आधारित है। श्री जीव गोस्वामी ने श्रीमद्भागवत का मंथन कर 'भागवत सन्दर्भ' में भागवत के ही सार-तत्व की व्याख्या की है।

आलोच्य ग्रन्थ में डा० कपूर ने 'चैतन्य-चरितामृत' और 'चैतन्य-भागवत' में उल्लिखित श्री रूप, श्री सनातन, श्री सार्वभौम भट्टाचार्य, श्री प्रकाशानन्द सरस्वती आदि के प्रति महाप्रभु के उपदेश और श्री रामानन्द राय से हुए साध्य-साधन सम्बन्धी उनके दस दिन के लम्बे वार्तालाप को उनके सिद्धान्त की आधारशिला मान उसका विवेचन किया है। भागवत-सन्दर्भ, भक्तिरसामृत सिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि, बृहद्भागवतामृत आदि उनके परिकरों द्वारा रचित ग्रंथों और श्रीमद्भागवत की उनकी टीकाओं पर भी ग्रन्थ-कार की दृष्टि रही है अस्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री चैतन्य महाप्रभु के दर्शन और भक्ति सिद्धान्त के गवेषणात्मक अध्ययन के साथ श्रीमद्भागवत् के दर्शन और भक्ति-सिद्धान्त का गवेषणात्मक अध्ययन भी सन्निहित है।

ग्रन्थ में विद्वान लेखक ने बड़ी निपुणता से यह दिखाने का प्रयास किया है कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने दर्शन शास्त्र को सम्यक् दृष्टि प्रदान की, परस्पर विरोधी साम्प्र-

दायिक सिद्धान्तों का अतिक्रमण कर ब्रह्म-वस्तु के सुन्दर, सम्यक् रूप का प्रतिपादन किया, अचिंत्य अभेद के सिद्धान्त के माध्यम से परब्रह्म के मूर्त-अमूर्त, सविशेष, निर्विशेषादि अनन्त रूपों का और अचिंत्य भेदा भेदके सिद्धान्त के माध्यम से ब्रह्म और जीव-जगत् के बीच भेद, अभेद और भेदाभेद आदि के विभिन्न सिद्धान्तों का अभूतपूर्व समन्वय किया।"

ग्रन्थ की एक मौलिक विशेषता यह है कि इसमें एक पृथक् अध्याय में प्रभावशाली ढंग से सिद्ध किया गया है कि भक्ति अंधविश्वास नहीं, एक विज्ञान है और मनुष्य इसकी प्रयोगशाला है। इसके प्रयोग साधारण विज्ञान के प्रयोगों से कठिन हैं, क्योंकि इसमें परिवर्तन अपने में ही करने होते हैं, जबकि साधारण विज्ञान में परिवर्तन बाहर की वस्तुओं में करने होते हैं। आधुनिक विज्ञान के मान-दण्ड की कसौटी पर जैसा भक्ति-विज्ञान खरा उतरता है, वैसा दूसरा कोई विज्ञान खरा नहीं उतरता, क्योंकि इसके नियम, जो अगणित भक्तों द्वारा किये गये प्रयोगों पर आश्रित हैं, शाश्वत और सुनिश्चित हैं, अन्य विज्ञानों के नियमों की तरह समय-समय पर बदलने वाले नहीं।

परवर्ती अध्यायों में ग्रन्थकार ने श्री चैतन्य महाप्रभु और उनके परिकरों द्वारा निर्धारित भक्ति के स्वरूप, कर्म-ज्ञान-योग से भक्ति के सम्बन्ध, भक्ति के नियम, अन्तराय और स्तर, भक्ति का रसत्व, भक्ति रस की सामग्री और भक्तिरस के प्रकारादि का वर्णन कर इसके वैज्ञानिक स्वरूप का निर्देशन किया है।

डा० प्रभुदयाल मीतल, साहित्य-वाचस्पति के शब्दों में लेखक ने "जिस गम्भीरता से विषय का प्रतिपादन किया है, वह आजकल के लेखकों के लिए सर्वथा अनुकरणीय है। चैतन्य-मत के विशाल वाङ्मय का भली-भाँति अध्ययन, आलोड़न कर सारतत्व को जिस प्रकार सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है, उसकी प्रशंसा के लिए शब्द नहीं मिलते। यह ग्रंथ धार्मिक क्षेत्र में सदैव उच्च स्थान का अधिकारी रहेगा।" भारतीय दर्शन और भक्ति-साहित्य में शोध करने वाले विद्यार्थियों के लिये भी यह विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होगा।

श्रीवत्स गोस्वामी
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

——

T. S. ELIOT'S INFLUENCE ON MODERN HINDI POETRY

PRABHAT K. PANDEYA*

The influence of T. S. Eliot has not only been confined to the English language but it has affected the literature of other languages, too. Modern Hindi literature, both in criticism and poetry, has been influenced by Eliot's poetics and his poetry. The *raison d'etre* of this paper is that most of the poets to be discussed knew the English language, many of them had studied English literature in the university, and, besides, some have accepted Eliot's influence on their poetry. Prabhakar Machave has acknowledged, among others, Eliot's influence. This paper aims at tracing Eliot's influence on some of the modern Hindi poets. By modern Hindi poets we mean those who were called the "Experimentalists" and later whose poetry was christened as the "New Poetry."

The modernist movement in Hindi poetry begins with the publication of *Tarsaptak* (1943),a collection of poems by seven poets, namely, Gajanan Madhava Muktibodh, Nemichandra, Bharat Bhushan Agrawal, Prabhakar Machave, Girija Kumar Mathur, Ram Vilas Sharma, and Ajneya, under the editorship of the last. Besides individual differences in vision, taste, and content, all these poets believed "poetry to be the subject of experiment'' hence the label "Experimentalism,'' in spite of their protest. They all claimed to be "explorers". There is a similarity between Eliot and these poets. Eliot was writing against the background of the Decadents and the Georgians and these poets were writing against the background of the Neo-Romanticism of the 1920s and 30s which has although produced some very great poets like Prasad and Nirala, but it had its days and now was unable to cope with the

**Reader in English, Faculty of Arts, B. H. U.*

changing socio-cultural and political milieu. The movement had exhausted its possibilities and, in hands of imitators, had degenerated into cliches and sterile conventions. What was needed was a new idiom, a new poetic techique, and a new *Weltanschauung* : nature orientation was replaced by modern urban sensibility and instead of vague emotional "outbursts" firm, precise and highly differentiated sensuousness was established in intellectual solidity.[1] Under these circumstances these young poets looked for a new poetic method and, to a great extent, they found it in T. S. Eliot.

Before coming to a survey of the New Poetry let us have a glance at the critical views of these poets where we can see a clear impact of some of Eliot's critical concepts. The most significant point in this connection is Eliot's conception of impersonality in art. The concept has influenced poets and poet-critics like Shambhu Nath Singh, Prabhakar Machave, L. K. Varma, and Ajneya. L..K. Varma in *Nai Kavita Ke Pratiman* has called Eliot the priest of new direction in poetry. Machave writes, "I am in favoure of direct emotional exchange between the poem and the reader; I think it undesirable and unappreciable to bring poet, the man between the two."[2] Ajneya was so much influenced by Eliot's "Tradition and the Individual Talent" that he rewrote the essay in Hindi under the title "Parampara aur Vyaktigat Pratibha." In preface to *Chinta* (1942) Ajneya writes : "Poetry is, fundamentally, an attempt to separate one from one's experience—an effort to depersonalize one's own feelings and emotions. Without this poetry is a mere self-expression and, even though true, is not worth name poetry.. ...". He had also called it the dissolution of the ego. That is why in *Atmanepad* (1960) he calls those poems of his immature in which he could not achieve impersonality.

Now we come to a survey of some of the New Poets in whose work there is some influence of Eliot's poetry or there are some parallels between the two, Eliot's early poetry is

characterised by its urban setting. He dragged the muse from the twilight, hazy countryside and established her into the brown fog of London, in the hubbub of the metropolis with its "Trams and dusty trees" and the "Unreal City/Under the brown fog of a winter noon." The sordid city has also been the subject of modern Hindi poetry. Muktibodh, like Eliot, has called the city unreal and has compared the civilization thus :

> The city is unreal
> Beyond a thing of human hope or disappointment
> ....
> I see big cracks of pox on the face of civilization
> White or pink concealed under powder
> I see the naked, most brutal body
> Atrophied sickly skeleton I see
> Weired, diseased, mysterious photo
> Of bones in X-ray plate
> Who lives beneath the fragrant ultra mod robes of civilization.[3]

And this is Ajneya's description of the city : "Let new suffocation of this soiled blanket of chemical mist get more dense/Communal-life of man is thriving in this membrane." The dehumanisation of the metropolis is presented thus by L. K. Varma :

> This is metropolis
> 'Here the clock-tower has buried time and is standing upon it.'
> Faith thrown into rubbish and instead are rock statues in splendid temples
> ....
> And this is metropolis
> Where each is civilized
> I alone am not
> Me alone !
> Because I am father

I am brother
I am apprehensive.
I am companion.
I alone am uncivilised.

The polluted atmosphere of the city in Eliot becomes symbolic of the inner corruption of man, likewise we have the descriptions of the polluted city in modern Hindi poetry. This is how Ajneya describes an industrial town:

Hanging down,
Heavy solid rag.
Amidst acrid brown fog
Glimmering-coying
Are innumerable patches of light
There are twenty seven hundred patches in this rag—
Twenty seven hundred pigeonries—
In each patch is a house, and a housewife—
Twenty seven hundred clans !
How will one recognise ?

The mechanization of modern man is an important subject of Eliot's poetry. How aptly he describes the machine-like life of the typist : "Turn upward from the desk, when the human engine waits / Like a taxi throbbing waiting." Madan Vatsayan, an engineer by profession, has written a fine poem. "Asurpuri men Das se Cha" ("In the City of Demon from Ten to Six"), in dialogue form between the machines and men. Machave in "Wah Ek" compare, a newspaper-seller with machine :

He is a machine
In whom news come from all parts of the globe
....
After twenty four hours, again stale. This clatter-platter
Rotary of the daily has mysterious thirst .....
He.........!

Although Eliot was not a poet of the Imagist movement but, under the influence of Ezra Pound, he has created some wonderful images in his poetry such as "the fragments of the afternoon," "The burnt-out ends of smoky days," "a broken violin," "butt-ends of my days" etc. Modern Hindi poets have been preoccupied with creating new images in their poetry. They felt the necessity of creating images to present modern life and they were conscious of it. Many of the poets have felt this necessity acutely. They felt that the images of the earlier poetry were too simple to convey modern sensibility : "Most of the images of our poetry are merely literal, like that of children, traditional. Instead of these literal, associational and traditional images we have to create sensuous images that are full wisdom and emotion and such elite images which are dependent upon anxiety. Our figures of speech should be more scientific, modern and pertaining to subject[4]." The exhaution and sterility of the stock images and figures of speech has been presented by Ajneya in these lines. If the poet does not compare his beloved with coventional things it does not mean that he is dry or he does not love her, it is simply because "These comparables have become soiled./Gods of these symbols have abandoned them." Instead of describing her in the conventional terms Ajneya calls his beloved the "slim, fluttering ear of corn." A similar image, although in a different context, can be seen in Eliot : "The readers of the *Boston Evening Transcript*/Sway in the wind like a field of ripe corn." Muktibodh excells all in creating images. Here are some lines from his "Chand Ka Mukh Terha Hai."

Just in the middle of the town
Beyond the factory compound
Vomit of tall smoke-mouthed chimney
Pointed, minaret
Just amid the minarets
Is the twisted face of the moon ! !

That horrifying gloomy moon of '53
Curfew is in the heaven.

Describing the progression of the moon's journey through the night and its falling rays on places, at times on filthy, repulsive spots, the poet calls the moon bald-headed: "Spies of brunett rays of the bald-headed moon." The line easily brings to mind "Rhapsody on a Windy Night" with its moon as "A washed-out smallpox cracks her face." Here are some more lines from Muktibodh's same poem with some arresting images :

Moonlight
Like beautiful pages of American magazine
Like exposed/parts of naked woman
Moonlight was lying in different poses
White
Like underwear, amid modern symbols
Was spread moonlight
The gothic light of the twisted-faced moon
Was spread upon/sud of black filthy gutter
All the night, like lust of the poets of sex torme-
nts.[11]

Nature has been presented in a new way by the modern Hindi poets. Keeping in mind Eliot's famous evening "Like a patient etherised upon a table" let us examine these line of S. D. Saxena :

Descrition's yellow evening flowered paperweight
Slid, fell;
By morning
The blue pin-cushion of heaven was empty—
Each pin of stars was exhausted

The inner emptiness and corruption of the modern man is a favourite theme of Eliot's early poetry finding expression in poems like "Gerontion," "The Love Song of J. Alfred Prufrock," "The Hollow Men," and "Animula" etc. The same subject is treated by many modern Hindi

poets. The hollowness, meaninglessness, and corruption of modern life has been symbolized by an empty glass in these lines:

By and by confidence is lost
Determination falls asleep.
Death
Near empty bottles
Like empty glass
By and by a revolutionary expedition
Is changing into a funeral
Stench is spreading—
On nation's map
In love's eyes
Boundaries are fading
And we rat-like are seeing.[5]

We are not only in rat's alley but we have become rat-like. At least one poem of Eliot, "the Hollow Men" has an echoe in L. K. Varma's "Ek Mritatma ki Vaseeyat" ("The will of a Dead Soul"). Here are some line from this poem:

Stuff
Into this skin's dry skeleton of dead soul
That grass, junk all
Tar, napthalene balls
Into my heartless, arteriless, nerveless body
Believe it, white ant woulda't touch me
Nor would come near me ant, rat—
Nor wold huntsman's dog nibble me
No one violent would look at me,
For I act alive though dead

The image of dog also occurs in *The Waste Land* where it is a literary archetype. The impotence of man in our time is the theme of "Gerontion" where even passion is adulterated. This is the pathetic condition of man as des-

cribed in "Manidhar : Vishadanshheen" (Serpent : Devoid of Fangs") : "That I am one poisonless impotent insect/Would creep into these very gutters/Even though being eaten by ants but won't speak."

Another great problem with these poets was that of words and their potentiality. They realized, like Eliot, that :

> Words strain,
> Crack and sometimes break, under the burden,
> Under the tension slip, slide, perish,
> Decay with imprecision, will not stay in place,
> Will not stay still.

In *Tarsaptak* Ajneya refers to the problem of language that the poet has to face : "... the poet is facing a great problem in modern life—he wants to rip open the gradually contracting slough of the meaningfulness of the language and stuff into it new, wider, more profound meaning..." Eliot's preoccupation with words can be seen in many of his poems. It is the question whether words can convey Truth : is it "Knowledge of words, and ignorance of the Word" or merely "The word within a word, unable to speak a word" or it is the "Speech without word and/Word of no meaning" or "the still unspeaking and unspoken word." The meaninglessness of words is put thus by Eliot :

> I gotta use words when I talk to
> But if you don't understand or if you don't
> That's nothing to me and nothing to you

At another place Eliot has described the dilemma o. modern man :

> Where is the Life we have lost in living ?
> Where is the wisdom we have lost in knowledge ?
> Where is the knowledge we have lost in information ?
> The cycles of Heaven in twenty centuries
> Bring us farther from GOD and nearer to Dust

In Ajneya's "Shabda aur Satya (Word and Truth") this problem of words is presented like this :

Not that I could not attain truth
Not that I get words some time suddenly :
Now and then both confront
This is the very question
The wall both maintain between them
When I, without their seeing,
Break into it
Or explode it
By dynamite
....
My only intention is
That these two
Who always live strained
When, how, in what luminous-quiver
Fuse them
The two, my brother, friend and eternal companion.

Ajneya in *Tarsaptak* has also talked of typographical expriments in poetry but here he is under the influence of Ezra Pound and E. E. Cumming, for Eliot never resorts to such gimmickery.

Throughout Eliot's poetry we find a conflict between the ego and God : "The awful daring moment's surrender," "...each in his prison/Thinking of the key..." Pride figures prominently in *Murder in the Cathedral*. This pining to dissolve into God, the Eternity or whatever it may be called, is common to both Eliot and Ajneya. In these lines of Eliot this is obvious : "And spirit of the river, spirit of the sea,/Suffer me not to be separated/And let my cry come unto Thee." A similar idea has been presented by Ajneya in the same metaphors : "But for this ego I hesitated by the ocean of the dark : I am humble/I could not be disso-lved into that infinite." The same restlessness finds expre-

ssion thus in another poem of Ajneya : "Ego ! Dweller of the inmost cavern of mind ! Bound by self-love ! Don't I find a way ?" He always realizes the desire to kill this demon of the ego : "How long this niggardliness of self-accumulation !/....../Give with both hands, burn your self/ Making your self the sacrificial-wood."

In Eliot's early poetry we find penetrating erotic imagery to convey the gross materialism of the modern man. Quick, mechanical intercourse between the typist and the young man carbuncular is too familiar to be quoted. Besides *The Waste Land*, we can find erotic suggestions in "Sweeny Erect" with the "sickle motion from her thighs" and she wants full-length to shave "Broadbottomed, pink from nape to base." The act of copulation has become so savourless for the typist that she "lets her body be used like a public urinal." In "Savan-Megha" ("The Clouds of August") by Ajneya we come across these lines which clearly suggest sexual tumescence : "Overcast is the sky, dark clouds have erupted/Bent-like upon the quivering breasts of the earth/....../Ah, hot is my breath.../Veins are overflowing with blood—" But the typical attitude towards sex in our time is to be seen in these lines of Machave from his "Daroo sanskriti" ("The white-livered Culture") : "Buddy do whatever you have to, but timorously !....../Love surreptitiously, cautiously, peeping at your elbows/Copulate with a woman too, timidly (lest population increase)." The last line brings to mind the utterly hopeless picture of the unfortunate Lil : "I can't help it, she said, pulling a long face,/It's them pills I took, to bring it off, she said."

Eliot has sometimes used surrealitic images in some of his poems to suggest the topsyturviness of our time. Besides the "bats with baby faces," we also come across "I have seen my head/grown slightly bald/brought in upon platter," and "He laughed like an irresponsible foetus."

Such distorted images of reality may also be seen in some of the modern Hindi poets. Here are some such instances from Muktibodh : "The guts of dreams all were dissected, ripped," "Whispering of amorphous light," or from the gloomy dark cauldron of night/Spread suddenly in streets/The syrup of Truth's sweetmeat ! !" None of the modern Hindi poets can rival Muktibodh in creation of startling images such as the "coffin of experiences," the snakes of restlessness," the "ignorance-whale," the "loaded revolver of the heart," or the "piston-like heart throb." The last image reminds one of Eliot's human engine waiting "Like a taxi throbing." Muktiboth has also used the symbolic imagery of the rock, sand, scorching sun, and rubbish heaps etc. very much in the manner of *The waste Land* in his poem "Mujhe Pukarati Pukar" ("The Call Calling Me"). The parallels between the two poems have been worked out by S. N. Singh in his book *Prayogvad aur Nai Kavita* (pp. 64–68).

A new poetic technique which Eliot innovated is the use of old myths to body forth a modern idea or situation. The method was first used by James Joyce in fiction. Some Hindi poets, too, have resorted to this method, notably Dharmveer Bharati in in "Andha Yuga ("The Blind Age"), "Nachiketa," and "Toota Pahiya" ("The Broken Wheel") and Naresh Mehata in "Sanshaya ki ek Raat" ("A Night of Doubt"). In "Toota Pahiya" Bharati compares himself with a broken chariot-wheel and refers to the battle of the *Mahabharat* in which Abhimanyu defended himself with a broken chariot--wheel :

I
Am a broken chariot-wheel
But don't discard me
Who knows when
A daredevil Abhimanyu challenging the multitudinous armies
Is surrounded in this complicated strategy

Then I
A broken chariot-wheel
In his hands can fight the best weapons operated with mantras.

Eliot's poetry is characterised by conversational tone and colloquialism. His "Love Song" opens with a colloquial line. In *The Wastc Land* we find many instances such as this, " 'Well now that's done : and I'm glad it's over,' " or "HURRY UP PLEASE ITS TIME" etc.

The modern Hindi poets realized that the poetic diction sould come closer to spoken language. The use of colloquial language is pervasive in modern Hindi poetry. Many poets have written their poems in conversational tone. Only once Eliont has resorted to typographical experiment in poetry and here it is : "0000 that Shakespea-arian Rag—" This strain is also to be found in these lines of L. K. Varma : "Mom....Jeeea cup/Papaaa's empty pocket." Eliot's use of foreign languages and phrases has also influenced some Hindi poets. Prabhakar Machave has written a poem with a Russian title. He has used Sanskrit couplets in "Mata ki Mrityu Par" ("On Mother's Death"). But I must say that none of these poets could achieve the effect that Eliot did by this method.

Eliot has frequently used fr ee-verse in his poetry. Many of the modern Hindi poets have written in free-verse. *Nakea-vad,* a school of modern Hindi poetry, proclaimed to free poetry from the tyranny of verse mechanism. The Nakenvadis were much influenced by Ezra Pound and E. E. Cummings but they could not give anything of permanent value to Hindi poetry. For them experiment was not a means, but the end. Consequently they could never free themselves from gimmickery. The modern Hindi poets felt that conventional metric patterns were inadequate for modern poetry. Although free-verse was first introduced into Hindi poetry by Nirala, but may of the modern poets felt its necessity and composed poems in it. G. K. Mathur has written

about free-verse in *Trasaptak* and says that he likes it. We can see dramatic quality in Eliot's poetry which culminates in his plays. Muktibodh also wants dramatic quality in poetry : "......even dramatic element is required in poetry. I wish that I may experiment in this direction."

The above survey shows that modern Hindi poetry has many things in common with Eliot's. The poets discussed are more influenced by the early poetry of Eliot which mirrors the chaos and rootlessness of our time. They could not attain the profundity of Eliot's poetry because thay could not find a set of norms, the norms which Eliot found in religion, These poets were certainly influenced by Eliot's poetic techniques and, like Eliot, wrote about the city. But they lag behind Eliot in poetic vision, for they had not undergone the traumas Eliot experienced, the fragmen- tation of the society, the shattering experiences of the First World war, the mechanization and gross materialism of the society etc. Our society, even now, is much more closely knit than that of West, hence, we are not alienated in the sense the Western man is. These poets still have to attain the height of the Neo-Romantics like Prasad and Nirala, their predecessors, or the stature of an Eliot. Nevertheless, one thing is certain that Eliot's influence has proved good in so for that it opened new avenues in our poetry, it spurred our poets to look at the changing society from a new angle of vision. Their vitriolic attack on the decaying society, like Eliot's, have made us conscious of it. It is a tribute to the genius of Eliot that he had influenced the literature of an alien language and nation, but then genius is not circum- scribed by linguistic or geographical boundaries.

REFERENCE :

1. Ajneya (ed.), *Tarsaptak* (Delhi, Bhartiya Jnanpith, 1972) P. 190.
2. *I bid.*, P. 123.
3. *Chand Ka Mukh Terha Hai.*
4. *Tarsaptak*, P. 126.
5. Sarveshwar Dayal Saxena, "Dhire Dhire."

STRAMBOTTO : THE ITALIAN VERSE FORM

ALKA NIGAM*

Strambotto[1], a one stanza poem, usually of eight lines with varying rhyming schemes, is of Italian origin. It was introduced in English Language by Sir Thomas Wyatt. After Wyatt, this Italian verse form appealed to F. T. Prince and he took it up in his poem of the same name, *Strambotti*. F. T. Prince remarks : "*Strambotti* have not been written in English since Sir Thomas Wyatt introduced them from Italy. He translated several from Serafino dell'Aquila, and also used the form for some epigrams referring to his own career. *Strambotti* became fashionable in Italy in the 15th century, after a Venetian nobleman, Leonardo Ciustinian, had used them to combine themes from folk-song with a more delicate formal discipline. Giustinian's collection of twenty-seven *strambotti* was printed towards the end of the 15th century (see Leonardo Giustinian, by Manlio Dazzi, Bari, 1934); but these poems were widely known and sung earlier. Collections of folk-songs made in Italy in the 19th century, such as Tigri's *Canti Popolari Toscani,* show that peasants were still singing *rispetti* and other poems of the kind Giustinian knew."[2]

The reader not familiar with the Italian strambotto will find it difficult to understand F. T. Prince's remark that *strambotti* "have not been written in English since Sir Thomas Wyatt introduced them." For Thomas Wyatt's and Prince's *Strambotti* give the impression of having been written in the familiar ottava-rima stanzas, which have been in frequent use throughout English poetry from Wyatt to W. B. Yeats. But although one of the forms of Strambotto is identical with the English Ottava rima, the two are different; and

**Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi*

Prince is right in remarking that *Strambotti* have not been written in English after Wyatt.

While ottava rima is the name of a stanza-form strambotto is the name of a poetical form that consists of only one stanza of eight lines. As different from the one-stanza strambotto, many ottava rima stanzas may go to make a complete poem, such as Byron's *The Vision of Judgement.* Prince's *Strambotti*, is not one poem of twenty-one independent poems. In other words, each strambotto is a poem of one-ottava-rima stanza. *The Token*, published in the first collection of Prince's poems, may thus be said to be a *strambotto.*

Traditionally, the eight-line Italian poem called *strambotto* had variant rhyming schemes[3] : abababab, ababccdd, abababcc, or aabbccdd. *Strambotto* as a one-stanza poem has something epigrammatic about it. Though longer than an epigram, a *strambotto* presents a startling, far-fetched, or intellectualized image. That is, every *strambotto* by Prince is a brief eight-line love-lyric, presenting a startling image in the manner of the Metaphysical poets.

The first poet to write *Strambotto* in English was Sir Thomas Wyatt. In fact he was the first English man of the Renaissance to introduce the Italian genres and verse forms. wyatt like Chaucer had been sent to many countries on diplomatic missions and had visited Italy among other countries. George Puttenham, the Elizabethan critic writes, "having travelled into Italy and there tasted the sweet and stately measures and style of the Italian poesie as novices newly crept out of the schools of Dante, Ariosto and Petrarch, they (Wyatt and Surrey) greatly polished our rude and homely manner of vulgar poesie from that it had been before..."[4] Thomas Wyatt borrowed, imitated and translated from Italian and French poets. Serafino dell'Aquila was his first model and he translated six of his *Strambotti* which Serafino had published in 1504. The best one is[5] ;

Alas madame for stelyng of a kysse,
Have I so much your mynd then offended ?
Have I then done so grevously amysse,
That by no meanes it may be amended ?
Then revenge you : and the next way is this;
An other kysse shall have my lyffe endid.
For to my mowth the first my hert did suck,
The next shall clene oute of my brest it pluck.

"These gallant or ingenious poems in *Ottava rima* appeared to offer little scope for originality; and yet in the course of time, he saw that the form lent itself to the kind of epigram of which Marot was making himself a master."[6] Wyatt wrote original *Strambotti* in prison. One[7] is :

Sighes ar my foode : drynke are my teares
Clynkinge of fetters suche mysycke wolde crave :
Stynke and close ayer away my lyf wears :
Innocencie is all the hope I have.
Rayne, wynde or weather I judge by myne ears.
Mallice assaulted that rightiousnes should have,
Sure I am Brian, this wounde shall heale agayne,
But yet, alas, the scarre shall styll remayne.

He has bound the lines with the rhyme scheme ababcc. The form adopted by him is identical with that of the ottava rima.

Prince's *Strambotti,*[8] which is in a sequence of twenty one independent poems, deals with the theme of love. The rhyme scheme is the same as adopted by wyatt. We may point to the conceits employed in them to suggest the nature of wit with which the individual feelings of love have been expressed. The narrator of Strambotto I, finds it difficult to recall the time when his beloved was not in his thoughts. She is like a thread of gold which the lover wants to unwind and then gather into a golden ball. She

is the gateway to happiness for the lover, who has kept all other thoughts aside and thinks only of the time when he would see her lovely face. Strambotti II and III express the lovers feeling of being thoroughly engrossed in the sweet thoughts of his beloved :

I am not lodged in such or such a street,
But live in banishment with dust and stones.
I wear these clothes you see for cold and heat,
and yet I burn and shiver in my bones.
Apparently I live, and work to eat,
But inwardly I die of wounds and groans.
And you know well that you can bring me balm,
My pearl, to whom I pray with open palm.

The god of lovers chose you of his race,
And for his house, and stayed when he was in;
So I sit down before your noble face,
And scan it, mouth and eyes and cheek and chin.
No treasure could be found a better case,
That bears in writing what is rare within
So I read it on your forehead set,
And live and breathe, that I may have it yet.

Strambotto IV presents a very fanciful image. Sometimes the lover is seized with a very strong urge to reach his beloved. In such moments, he wishes to have an underground passege that may lead him to her bed-room. Thus, while we will have fun with her, the neighbours will wonder where he has been. In strambotto V, the lover fancies having a castle surrounded by hills and plains. He would have a wall of glass to fence off his castle and then make it safe by fixing a granite chain to prevent people from interfering. The lover and his beloved will be there to make love at leisure and engage in games and banquets. No thought of grief, sorrow, death, or age should dare to disturb the happy lovers.

The other poems in the sequence work out other conceits of love. The lover daydreams that if he could conjure up forms like a magician, he would choose, for himself and his beloved, forms that swim or fly. The two would be two fish, freely swimming in the crystal clear sea, or they would be two eagles soaring high in the golden sky. They would go on loving each other till the chaos comes, till the sea dries, till the air fails or the earth drops in the sun.

If I could conjure shapes for you and me,
I'd choose two living things that swim or fly.
Two fishes tumbling in a glassy sea,
And in those shapes we should continue free,
And still in love, until the sea ran dry,
The air failed, and the earth dropped in the sun,
And time was ended, and we two were one.

Or, the lover may think it quite possible that his desires, like seeds, do not at times find fertile land and fall on rocks and prickly bush. Or, the lover may compare his love with the tree. Just as the seed sown in a fertile land grows into a plant, and then becomes a big tree, so also his love for his beloved will grow. On the top of the tree of their love will sit an eagle with a crown; there will be a a tent t ickly decorated with rubies. The tent will be for his beloved.

Or, the lover may think himself to be a wandering knight. His beloved's beautiful face painted on his shield will protect him from danger and disgrace. Or, he may wish to mould the figure of his beloved in wax or carve it on a piece of wood to keep him company during her absence. He may even wear the photograph of his beloved in a chain like a cross. This will be a source of courage. and serve as a talisman against fear, loss, disease, and danger. His dwelling place, in the absence of his beloved, will be like a prison and he will feel like a prisoner counting his days and nights of confinement.

He fancies the palace of love to be made of rare stones, impenetrable, and formidable. Many people come to own this palace of love, but his beloved kept it closed against them. It was the narrator's fortune that the marble doors of this palace of love, were opened for him. Now he must keep the keys of this palace with him to remain the sole monarch of it. Sometimes the narrator may think of returning to the place where their love was born. The idea may induce tenderness at the thought of love, but sadness at the thought that the house is going to meet the same fate as their bodies.

In stramotto XX, the[1] lover[1] recalls how their love blossomed. He and his beloved became friends, and slowly they were caught in the whirlpool of passions; they become lovers. He was afraid that some curse might fall on their love or their love might wither away. The struggle with such fears went on; they faced the challenge, and now the reward is the sweetness of their love. In strambotto XXI, the narrator imagines that he and his beloved will be happy to recall the story of their love in dreamy reveries. Their love is the best thing their life has yielded. They will unite like the two halves of a ring.

And surely we will call it up again
One day, and laugh to see it shine and sing
Know it is not a dream, but true and plain,
And we shall never find a better thing.
Then we shall bless what we have bought with pain,
And close it like the two halves of a ring.
—But now I only tell my letter, go;
And say I wish that I could travel so.

1 Alex Preminger ed., *Princeton Encyclopedia of Poetry and Poetics* (Princeton, New Jersey : Princeton University Press, 1974) p. 811.

F. T. Prince's note in *The Doors of Stone* (London : Rupert Hart-Davis, 1963) p. 128.

3. Alex Preminger ed., *Princeton Encyclopedia of Poetry and Poetics*, p. 811.

4. Quoted in *A Critical History of English Literature* by David Daiches (New Delhi : Allied Publishers Private Limited, 1979), Vol.I, p. 149.

5. Thomas Wyatt, *The poems of Sir Thomas Wiat*, ed., A. K. Foxwell (London : Universiry of London Press, 1913), P. 46.

6. A. Lytton Sells, *The Italian influence in English Poetry* (London : George Allen & Unwin Ltd., 1955), P. 71.

7. Thomas Wyatt, *The Poems of Sir Thomas Wiat* ed., A.K. Foxwell P. 62.

8. F. T. Prince, *The Doors of Stone*, P. 102-107

THE INVENTION & DISCOVERY OF ZERO

DR. PRAN NATH*

In the scheme of digits 'zero' occupies the first place but the historical fact that it was the last to be invented and also the last to be discovered might appear an anachronism hard to believe. And what is more is that the 'discovery of zero' took place several centuries after zero had been invented.

All the great civilizations of ancient times had evolved their own systems of writing down numbers by grouping them and by using the same symbols[1] over and over again instead of using a different symbol for each number. The Egyptians had made use of pictures, the Greeks of the letters of their alphabets, the Romans of few simple lines to write down the numbers without difficulty no doubt. But when it came to performing arithmetical operations on them, even the simplest of the process presented problems. Imagine for example the simple process of multiplication of IIIC by V or by XV, which in presentday notation is 97 multiplied by 5 or by 15. In the earlier notation the process appears so difficult. This difficulty led to the use of counting boards with beads, *abacus* as they are sometimes called. These are still in use in some parts of the world for elementary teaching. But it never occurred to any of these great civilizations that in these beads lay the rudiments of the most efficient method of number representation the world was to develop in the next two thousand years.

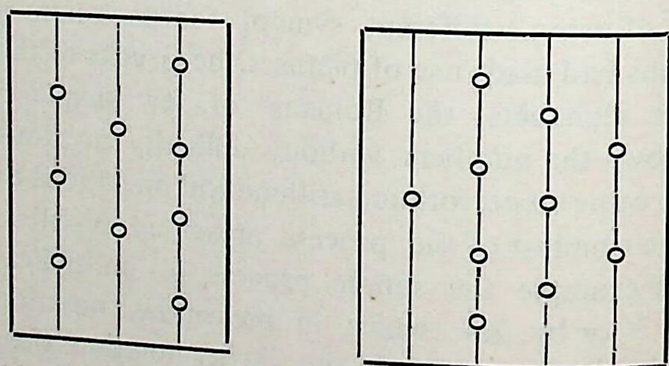
The counting boards or abacus, known by various names in various civilizations, took different forms as well

*D. Sc. (*Paris*), *D. I. C., F. S. S. (Lond) etc.*
Retd. Professor of Applied Mathematics, Instt. of Technology. B. H. U.

in them. Basically it was a frame divided into parallel columns provided with beads or markers, each column had a value of a power of ten, the number of times that particular power occurred in a total represented by the beads or markers. The value of the unit varied with the column – in the first column on the right, its value was 10^0, in the second 10^1, in the third 10^2 and so on. This has been beautifully expressed by the great Hindi poet Bihari[2] in the following couplet :--

कहत सबै बेदी[1] दिये, आँक दस गुनो होत ।
तिय लिलार बेदी[2] दिये, अगनित बढ़त उदोत[3] ।।

Numbers which Romans represented in writing as CCCXXIV (324) and MCDXXXII (1432) were represented on the abacus as



This ancient method of representing numbers and our present method of writing them bear striking resemblance. But it took the mathematicians a thousand years to develop the modern positional notations. We now use nine different symbols to represent the maximum possible total number of beads in any column of the abacus and a tenth symbol to indicate when the column is empty. Thus in effect what is that the ancient notation of abacus or counting boards has been made permanent. In this notation the tenth symbol must of necessity be for a column with no beads namely the empty column—else distinction between th

numbers 324, 3024, 3204 and 3240 would be impossible. But for thousand of years this tenth symbol eluded invention and remained clouded in mystery.

The credit of this marvellous invention goes to India where an unidentified Hindu mathematician invented this, so far elusive, symbol. He put down on his counting board a symcol of his own invention—a dot he called 'shunya' (शून्य) to indicate the column in which there were no beads. And this great invention was made sometime in an earlier century of the Christian era. Thus the long much needed tenth symbol 'zero' was born. And we see how the first digit of the present digit system was the very last to be invented. However, this symbol 'shunya' was not the *number* 'zero' we know and whose discovery took place much later. For the present it was merely a mechanical device to indicate an empty space—the word 'shunya' implies empty space or void.

It is noteworthy that the Hindu philosophy and religion had amply prepared the Hindu for the invention of a symbol for 'nothing', the 'void' or 'शून्य' by him as it already formed a part of his philosphy.

In course of time this invention reached the the Arab scholars who called it 'sifr' (सिफर) and thence made its way to Europe where it came to be known as 'cipher'. The entire notation for all the digits, though of Indian origin, became known amongst European scholars as 'Arabic numerals'—which in fact is a misnomer as has now been universally accepted.

However, inspite of its immense superiority this system of notation was not immediately accepted by the European scholars. The conservative universities in Europe continued the use of Roman numerals. The use of new numerals was forbidden in business papers till 1300 A. D. as it was argued that these could be forged more easily as compared

to the Roman numerals. Not till 1800 A. D. were they fully accepted by the entire European world.

The transition period for zero (शून्य) from it being a mere symbol for denoting an empty column to its induction as a number was extended over centuries. And the transition was not smooth either—it was after considerable fumbling that mathematicians succeeded in mastering it as a *number* which could be added, subtracted, multiplied and divided like other numbers. The difference between zero as a symbol and as a number could well be brought out by the following comparative table :

Zero as a symbol	*Zero as a number*
$1+10=11$	$1+0=1$
$10+1=11$	$0+1=1$
$10-1=9$	$1-0=1$
$1-10=-9$	$0-1=-1$
$1\times10=10$	$1\times0=0$
$10\times1=10$	$0\times1=0$
$10\times10=100$	$0\times0=0$
$10\div1=10$	$0\div1=0$
$1\div10=1/10$	$1\div0=$ impossible, (∞ being not a number but a symbol only)
$10\div10=1$	$0\div0=$ indeterminate

What baffled the mathematicians and thereby withheld the recognition of zero as a number for so long was the handling of the process of division by zero. (In theory of numbers one number is said to 'divide' another number only when the answer obtained is a whole number). The expression 0/1, namely the process $0\div1$ is meaningful. Further 'zero' is unique in this respect that it can be divided by any other number—the answer being always zero-as multiplication by zero of any number, whatsoever, always yields zero. But zero cannot divide any other number except itself and fractions like 1/0, 5/0 are meaningless—ano mtter what number is multiplied by 0, it cannot produce

1 or 5. (A division means the quotient when multiplied by the divisor will produce the number being divided). On the other hand $0 \div 0$ could be 0 as $0 \times 0 = 0$, it could as well be 1 or 5 or any other number for that matter, as $0 \times 1 = 0$, $0 \times 5 = 0$ etc, hence $0 \div 0$ is termed 'indeterminate',

An analogy from the present setup in India will illustrate the point—when we say 'the President of India it is meaningful, but 'the King of India' is meaningless and 'the Indian M. P' is indeterminate as it could be any one of the 542 M.P.'s.

Let us have a look at the following arrangement of integers (whole numbers) :

$$-5, -4, -3, -2, -1, 0, 1, 2, 3, 4, 5$$

Here the positive and negative integers are equally spaced apart—regularity of spacing is their essential quality. This equispacing is achived with 0 in between -1 and $+1$, else the distance between them would be 2, twice that between the others. Thus 0 is the number between them that preserves their intrinsic quality of equidistance. This 0 is also unique among integers being niether positive nor negative.

There persisted, for quite sometime, considerable hesitation in accepting negative integers. For example the Hindu mathematician Bhaskara, who flourished in the 12th century A. D. gave the roots of the equation $x^2 - 45x = 250$ as $x = 50$ and $x = -5$ but added that the later value be not taken as it was inadequate and the negative roots were not approved by the people. Now we use all integers, positive as well as negative, in our mathematical computations, but when we say 'the numbers' we think of 1, 2, 3, 4, ... namely those that follow zero. We even call these numbers that come after zero 'natural numbers' and zero is not thought of as one of them because we donot begin counting from nothing. All the same zero is logically at home with the

natural numbers, inspite of being not positive like them. The reason for this is that zero answers the same great question that all counting numbers answer namely, How many ? How many books are on the table ? or How many birds are in the cage ? The answer could be one, two or three etc. or none i. e. zero. Thus zero is a number just like one, two or three. With this recognition the discovery of zero was accomplished. This, by way of abstraction, is recognition of the fact that collections may have something in common, even when the elements of the collection may have nothing in common whatsoever. Our ancestors could distinguish between one bird and two, one day and two, but as pointed out by the eminent British philosopher Bertrand Russell "It must have required many ages to discover that a brace of pheasants and a couple of days were both instances of the number *two*"—that number two is a common property of all sets containing a pair of anything. There is a set of 'zero' too, containing no one '*the empty set.*' Thus zero is the number of the empty set just as the numbers one, two, three are of the sets of one, two and three respectively. This also answers the question, 'What is a number' ?

Lastly the number 'zero' is unique in certain respects. "Zero is the only number which can be divided by every other number, and the only number which can divide no other number."Then again while all other numbers represent an infinite number of sets, zero represents only one, the empty set, whether it is empty of books, birds, fishes or fawns does not matter, it is the same 'empty set', there being one and only one such set.

---

[1] Of these the only symbols now used are I=1, V=5, X=10, L=50, C=100, D=500, M=1000. Thus MDCLXVI stands for 1666—the letters composing a number are ranged in order of value and the number the particular composition stands for is found by addition. If, however, a letter or set of letters is placed before a letter of higher value, it is to be subtracted from it

before addition is done, e. g. IIIC is 97, MCM is 1900, MCMXI is 1911. Numbers written like this are found on clock and watch dials and dates written or engraved in this manner are often found on buildings and monuments built with European influence.

[2] Mahakavi Bihari Lal, the great poet of श्रृंगार रस in Hindi was born near about 1600 A. D, or so.

(1) Here बैंदी means विन्दु or शून्य i. e. zero which had been invented by then. (2) बैंदी here means बिंदी (3) उदोत means सुंदरता।

CREDIT MANAGEMENT IN CORPORATE ENTERPRISES IN INDIA–A CASE STUDY OF COTTON TEXTILE INDUSTRY

Dr. R. M. SRIVASTAVA*

General Observations :

A business enterprise has to struggle with the Problem of credit management only when merchandise is sold on credit terms. Although concessions like price discount are granted to induce customers to make immediate cash payments, practice of extending credit to customers is very popular. Goods are sold on credit terms to stimulate sales which in turn increase the profits. But it must be remembered that flow of funds from cash back to cash does not cycle as rapidly in credit as in the case of cash sale. The funds tied in inventory are converted into receivables rather than in cash and it will take some time for collection of receivables. Had these funds not been tied in receivables, the company would have invested the same elsewhere and earned income there on. Thus, the cost of carrying receivables is the lost opportunity earnings. The other two major groups of costs which a company has to bear in carrying receivables are expenses associated with investigating credit-worthiness and collecting the funds owed and the risk cost resulting from delinquencies and bad debts.

In case a Company decides to sell on cash, it will save cost of carrying receivables. However, the Company in

* *Reader in Management Studies, B.H.U.*

that case may lose some of its previous customers who turn to other companies extending credit facilities. Consequently, value of sales of the Company and so also its earnings may show declines. The Company should not expect to survive long by pursuing the policy of cash sales while similar othar companies follow liberal credit policy. It would not be unwise to augement profit possibtlities by assuming some credit risks and incurring certain costs. The financial manager should find ways and means of reducing volume of receivables without impending the company's sales potential. Rational decisions about the credit policy of the company lies in matching increased profits resulting from credit sales with incremental costs associated with receivables.

The present study endeavours to winnow the various aspects of receivables management in Cotton Textile Industry in India. Since this premier industry of the company has of late been suffering from grievous decline in profitability and fairly large number of units have fallen sick, a study of this sort will provide an insight into causes of the existing malady. The study is based on 35 sample companies selected on the basis of cluster-cum random sampling and covers a period of eight years from 1974-1981.

Analysis of Empirical Data

Level of Receivables

Table 1 portrays size of receivables in relation to current assets. It is evident from the table that on an average the industry has invested 23 percent of current assets in receivables over the period 1974–1981.

Table—1

Frequency Distribution of Companies According to level of receivables.

Receivables as % of C. A	1974	1975	1976	1977	1978	1979	1980	1981	Average
0–10	3	3	1	2	1	3	3	2	2
10–20	13	12	13	13	20	10	12	11	13
20–30	12	12	12	14	10	14	11	7	14
30–40	4	4	5	4	2	7	6	12	4
40–50	2	3	3	2	–	–	3	2	1
50–60	1	1	1	–	2	1	–	1	1
Mean :	22.7	22.3	24.4	22.3	21–3	23.6	23.1	25.5	23.1
Median	20-30	20-30	20-30	20-30	20-30	20-30	20-30	20-30	20-30

Regarding size of receivables in individual cotton textile units, it may be seen from table 1 that over three-fourth of the Companies have receivables representing 10–30 percent of the current assets. There have been only few companies falling in the range of 0–10 on the one hand and 40–60 on the other. In the absence of any objective standard it is very difficult to observe if the investment in receivables is excessive or otherwise.

As for growth in level of receivables vis–a–vis current assets over the period under review, table–2 discloses that receivables have grown at a faster pace than the total current assets. However, this should not lead us to reach any precise conclusion in respect of excessive investment in receivables :

Table—2

	1975	1976	1977	1978	1979	1980	1981
Receivables	113	146	145	153	201	204	252
Current Assets.	113	131	139	157	189	192	202

Credit Policies and Practices

Generally speaking, a compay's credit policy may be broadly defined as being somewhere in the range of 'tight' (or restrictive) to 'loose' (or liberal). In order to assess the credit policy being pursued by the management of different companies in Cotton Textile Industry, We have computed the percentage of receivables to sales.

It is evident from table 3 that the average receivables to average sales has ranged between 9.8 percent to 11.9 percent during the period under study.

Table 3

Receivables as% of sales	1974	1975	1976	1977	1978	1979	1980	1981	Averge
Less than 5%	5	5	4	6	4	3	6	4	2
5%—10%	14	13	9	13	16	12	9	13	15
10%—15%	6	6	10	6	9	11	11	11	11
15%—20%	4	6	5	9	3	6	8	7	6
20%—25%	4	2	5	1	2	3	1	–	1
Above 25%	2	3	2	–	1	–	–	–	–
Average	10·1	10·4	11·9	10·3	10·3	10·1	10·8	9·8	10·4

If average is taken as demarcation line, nearly 50 percent companies seem to have pursued tight or strict credit policy and another 50 percent companies are bit lenient in this respect.

It is interesting to find from table 4 that although the credit policy of maximum number of companies lies on neither extreme, receivables have grown at a faster pace than the sales. Thus, the table shows that growth rate in receivables was higher than that of sales growth rate in 1975,

Table 4

Comparative Analysis of Receivables and Sales

Year	*Receivables*			*Sales*		
	Total (Lakh Rs.)	Index	Growth Rate	Total (Lakh Rs.)	Index	Growth Rate
1974	3255	100	—	32130	100	—
1975	3675	113	13%	35350	110	10%
1976	4760	146	29·5%	39935	124	12·9%
1977	4725	145	0·7%	45885	143	14·9%
1978	4970	153	5·2%	49385	154	7·6%
1979	6545	201	31·7%	60585	189	22·3%
1980	6650	204	1·6%	67515	214	11·4%
1981	8190	252	23·2%	78925	246	16·9%

1976, 1977 and 1978, where as the situation was reverse in the remaining three years. Thus, there has been lack of uniform credit policy throughout the period; in some years it was a bit lenient,' while in other years it was more strict. This flexibility can also be attributed to economic conditions including demand recession confronting the Cotton Textile Industry in different years. This indiates that in the times of recession the Industry liberalised the credit policy to clear up the inventory accumulation. The increase in investment in receivables appears to have been motivated by sales retention orientation rather than by sales expansion which is a growth-oriented phenomenon.

Efficiency of Collection of Receivables

Efficiency in collection of receivables determines the level of investment in receivables-higher the efficiency in collection, lower the investment in receivables and vice-versa. We have examined this aspect with the help of averge collection period.

Table 5 exhibits frequency distribution of Cotton Textile units according to collection period. It will be seen

from this table that the average collection period over the period has ranged between 36 days and 47 days. More than half of the companies have collection period shorter than the average.

Table 5

Frequency Distribution of Companies According to Average Collcetion Period.

Collection days	1974	1975	1976	1977	1978	1979	1980	1981	Average
0–20	5	7	4	6	5	4	7	7	5
20–40	12	13	12	15	17	11	11	14	14
40–60	7	7	9	8	8	15	14	8	9
60–80	6	4	7	5	4	4	3	6	6
80–100	3	4	2	1	1	1	–	–	1
Mean	42	41	47	39	38	42	36	38	40

Over a period of time, collection of receivables has been relatively more expeditious in 1976, 1977, 1978 and 1979. Relatively longer collection period in 1974, 1975, 8976 and 1977 could be attributed to recessionary trend in the economy,

In sum, most of the cotton textile companies have been efficacious in collecting receivables. Number of Companies with longer collection period is few throughout the period under study.

———

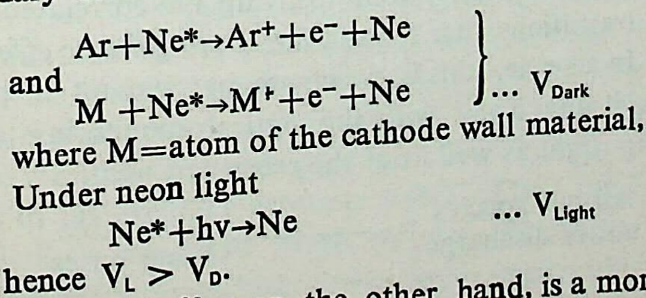
OPTO-GALVANIC SPECTROSCOPY-AN EXTENSION OF THE JOSHI EFFECT

H. J. ARNIKAR*

Historical

Spectroscopists have used the discharge tube of various designs to obtain the emission spectrum of gases and vapours from the earliest times. They were, however, not interested in the small potential/current changes accompanying spectral transitions in the gas under discharge. Other physicists were interested in measuring just these potential and/or current changes occurring in the discharge when exposed to external radiation. They did not study the spectral transitions induced by external radiation. To this latter group belonged Dember[1], Salzwedel[2], Pike[3], Fucks, Seitz and Schumacher[4], Schade[5], Glotov[6] and Zonckermann.[7] Better known of this group are Penning[8] and Joshi[9], the effects discovered by them being known after them.

The Penning effect refers to an increase in the threshold potential of argon-neon mixtures when irradiated by neon light. This has been elegantly explained as due to the destruction by neon light of the neon metastables initiating secondary ionization[8,10].



$$\left.\begin{array}{l} Ar + Ne^* \rightarrow Ar^+ + e^- + Ne \\ \text{and} \quad M + Ne^* \rightarrow M^+ + e^- + Ne \end{array}\right\} \ldots V_{Dark}$$

where M=atom of the cathode wall material,

Under neon light

$$Ne^* + h\nu \rightarrow Ne \qquad \ldots V_{Light}$$

hence $V_L > V_D$.

The Joshi effect, on the other hand, is a more widely occurrent phenomenon where the current in a gas under discharge under constant applied potential is suppressed under certain conditions on irradiation by external light of all

**Emeritus Professor of Chemistry, University of Poona.*

frequencies from X rays to red light, the difference Δi ($= i_{Light} - i_{Dark}$) being the Joshi effect. The relative Joshi effect $\frac{\Delta i}{i_D}$ has been found to be close on—100% in some cases. The current suppression is almost instantaneous, reversible and apparently independent of the nature of the gas.[9,11-14] The Joshi effect was discovered in the Banaras Hindu University in 1939.

The opto-galvanic effect

More recently, voltage changes occurring when an atomic species in a discharge is irradiated with photons whose frequency matches an electronic transition, have been studied by Kenty[15], Meissner and Miller[16], Drouet and Novak[17], and Kopeika, Rosenbaum and Kastner[18]. The years 1976–78 witnessed a major development of the subject due to the use of sophisticated techniques in the hands of a group of physicists : Green, Keller, Luther, Schenck, Travis, King, Smyth and Crim[19-22]. These scientists, mostly from the US National Bureau of Standards, showed that the millisecond pulse irradiation of the discharge in a hollow cathode lamp with a continuous wave (cw) tunable laser produces easily observable potential or current changes at wavelengths corresponding to electronic transitions for the species under discharge. The ΔV (or Δi) changes, recordable oscilloscopically, accompanying and correlated to the spectral transitions, are termed the *Opto-galvanic effect* (O. G. E.). In a sense, this is spectroscopy without a spectroscope, as it does away with the optical monitoring of the irradiating light as well as of the reemitted light.

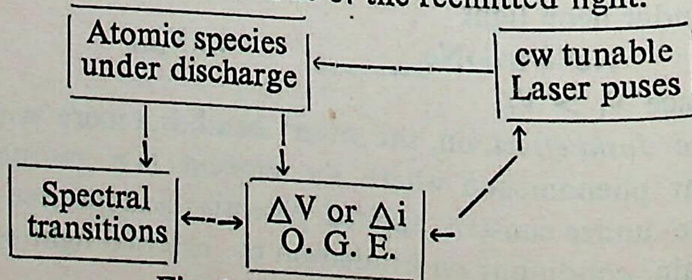


Fig. 1 Opto-galvanic spectroscopy

The correlations between the Δ V (or Δ i) O. G. E., the spectral transitions and the photon energy shown by ←→ in Fig. 1 constitute opto-galvanic spectroscopy.

It was Professor Herb Broida of the University of California at Santa Barbara who first pointed out "the close similarity" of the present work with the Joshi effect[23].

Experimental set up

The experimental procedure consists in exciting a hollow cathode lamp (*e. g.* Na lamp with Ne at a pressure of about 665 Pa (*i. e.* 5 mmHg)) in its normal glow region (190–250 V dc and 2–25 mA) through a current limiting resistor (~ 22 k Ω) and coupled to an oscilloscope *via* a capacity of about 1 μ F. The source of irradiation is a stabilized (100–150 mW) continuous wave tunable dye (*i. e.* Rhodamine 6 G) pumped by a 5 W argon laser. A beam splitter directs about 20% of the beam along the axis of the discharge tube, such that the effective power of the beam in the region is about 20-65 mW and 1-2 mm in diameter. The beam is modulated to yield around 2 kHz pulses by a mechanical chopper. The precision scanning of the wavelength is most important. This is generally effected in steps of 0.016 nm over the range 572–654 nm (1.90–2.17 eV) where most of the electronic dipole transitions occur. Under the high effective electron temperature in the glow discharge, a large number of the excited electronic states of the species (Ne) get sufficiently populated which, on the absorption of the laser photons of matching frequency, result in spectral transitions accompanied by O. G. effects. A lock-in amplifier measures the resulting voltage signals, with a signal/noise ratio of the order of 1000. Signals of the order of a few mV to 10 V have been reported. A $+\Delta$V signal implies $-\Delta$i and *vice-versa*.

Typical results

In their experiment using a Na+Ne lamp, Smyth and Schenck[21] detected the two D_1 and D_2 transitions due to sodium and 75 others due to neon of which 57 were identified as due to 2p→3s, 4d....absorptions, all showing a $-\Delta V$ (or $+\Delta i$). The rest 18 were due to ls→2p allowed electric dipole transitions of Ne of which 15 showed a $+\Delta V$ (or $-\Delta i$) at low discharge currents, all changing over to $-\Delta V$ at higher currents. The $-\Delta i$ region would appear to correspond to the Joshi effect. Fig. 2 shown a part of the optogalvanic spectrum from a Na-Ne cathode lamp[20].

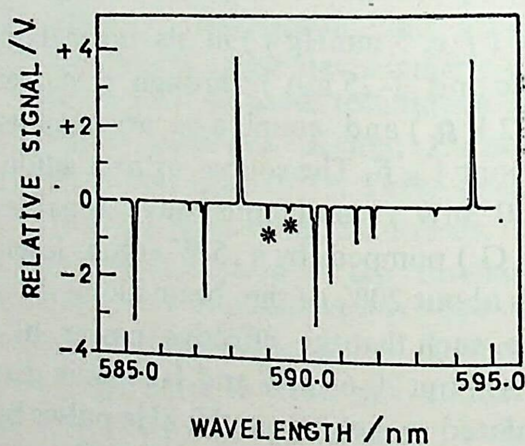


Fig. 2 Optogalvanic spectrum from a sodiumneon discharge, probed by cw tunable dye laser in steps of 0·02 nm. The starred lines are the D_1 and D_2 from sodium: others are due to neon. (King, Schenck, Smyth and Travis[20]).

Mass spectrometric evidence of OGE

The O. G. spectroscopy is based on the assumption that the photon-induced spectral transitions in the discharge either enhance or decrease the ionization rate in the discharge which appears as the O.G.E. ($\mp\Delta V$). Smyth, Keller and Crim[22] verified this model by a direct mass spectrometric analysis of the gas sample to monitor the changes in

Ne^+ ion concentration in the discharge as a function of the laser wavelength scanned, in this case, in steps of 0.003 nm. A 0·1 mm pinhole drilled in a plate fixed to the hollow cathode allowed the drawing out of the positive ion samples from time to time and these entered a calibrated time of flight mass spectrometer. Substantial changes were detected in the Ne^+ion concentration which correlated qualitatively with the photon-induced Δ V changes, i. e. a $\pm \Delta$ V with $\mp \Delta$ concentration of Ne^+ions. Transitions where the Ne^{+*}($^3P_2$ and $^3P_0$) are used up lead to $+\Delta V$, as in the Penning effect.

Applications of the O. G. E.

Apart from its use in studying spectral transitions in monoatomic gases (He, Ne. Ar, Kr ..) and vapours of metals (Li, Na, K, Cs, Al, Fe, Ca, Ba, U...), the O. G. E. is finding an increasing number of applications : *e. g.* in the calibration of wavelengths of lasers and a new analytical tool in flame spectoscopy and photometry with a sensitivity higher than in atomic absorption spectroscopy, and in the detection of molecular species. Recently, the technique has also been extended to the study of plasmas, and to multiple photon ionization processes, and in general as an efficient probe in radiative and collision processes in ionized media.

It is hoped that scientists in the country having a cw laser facility will take interest in this relatively new subject and contribute to its development.

Acknowledgement

The author is grateful to Professor S. S. Joshi for inspiration and encouragement and to Dr. Kermit C. Smyth of the Institute for Applied Technology, NBS, Washington D. C., for readily providing the literature on the O. G. E.

References

1. H. Dember, *Zeits. f. physik.*, 1925, 33, 529.
2. E. Salzewedel, *Ann. d. physik.*, 1927, 82, 305
3 E. W. Pike, *Phys. Rev.*, 1936, *49*, 513, 515.
4. W. Fucks, *Zeits. f. physik.*, 1936, *103*, 709.
W. Fucks, and W. Seitz, *Zeits, f. tech. physik.*, 1936, 37, 813.
W. Fucks, and G. Schumacher, *Zetts. f. physik.*, 1939, *112*, 605.
5. R. Schade, *Zetis. f. physik. Bull.*, 1937, *38*, (68), 17.
6. I. I. Glotov, *Phys. Zeits. Sowjetunion*, 1937, *12*, 235, 265 and 1938, *3*, 84.
7. R. Zonckermann, *Comptes Rendus*, 1936, 206, 331.
8. F. M. Penning, *Physica*, 1928, *8*, 137 and 1932, *12*, 65.
Phil. Mag, 1931 *11*, 961.
9. S. S. Joshi and G. S. Deshmukh, *Nature*, 1941, *147*, 806.
S. S. Joshi and P. G. Deo, *ibid*, 1943, *151*, 561,
10. M. J. Druvesteyn and F. M. Penning, *Rev. Mod. Phys*. 1940, *12*, 87 and 1941, *13*, 72.
11. P. G. Deo, *Phil. Mag.*, 1948, 39, 978.
12. H. J. Arnikar, *J. Phys. Chem.*, 1952, *56*, 457 and *J. Chem. Phys.*, 1952, *20*, 917.
13. H. J. Arnikar and M. G. Nene, *Internat. J. Electronics*, 1965 *18*, 405.
14. (for bibliography on Joshi effect), *Nagpur Univ. J.* 1971, *2*, 97.
15. C. Kenty, *Phys Rev.*, 1950, *80*, 95.
16. K. W. Meissner and W. F. Miller, *ibid*, 1953, *92*, 896.
17. M. G. Drouet and J. P. Novak, *Phys. Letters*, 1971, *34* (A), 199.
18. N. S. Kopeika, J. Rosenbaum and R. Kastner, *Appl. Optis*, 1976, 15, 1610.
19. R. B. Green, R. A. Keller, G. G. Luther, P. K. Schenck and J. C. Travis, *Appl. Phys. Letters*, 1976, *29*, 727; I. E. E. E. *J. Quant. Elec.*, 1976, *13*, 63; *J. Amer. Chem. Soc.* 1976, *98*, 8517.
20. D. S. King, P. K. Schenck, K. C. Smyth and J. C. Travis, *Appl Optics*. 1977, *16*, 2617 and *Lasers in Chemistry* (Ed. M. A. West, Elsevier, N. Y., 1977, P. 431).
21. K. C. Smyth and P. K. Schenck, *Chem. Phys. Letters*, 1978, *55*, 466.
22. K. C. Smyth, R. A. Keller and F. F. Crim, *ibid*, 1978, *55*, 473.
23. K. C. Smyth (private communication).

NON-ALIGNMENT AND JAWAHARLAL NEHRU

*Dr. R. H. SHARAN

Non-alignment (also termed as 'neutralism; positive neutralism, dynamic neutralism, etc.) as opposed to alignment and alliances and different from 'neutrality'[1] is a post-war, post-colonial and cold war policy phenomenon in international politics. Non-alignment while being more or less a residue of historical circumstances is, to an extent, the 'logical extension' of nationalism' and of the conflict between nationalism and military blocs '[2] as well as of the conflict between nationalism and imperialism of the pre-Independence era. Non-alignment thus in the cold war context became both the instrument for the defence of nationalism and in dependece and also of offence against the forces of imperialism and political domination. Nationalism contributed dynamism to the policy of non-alignment whereas the desire for independence or independence in out-look and action contributed to it a great degree of permanence. Non-alignment, thus, became a policy shield for many of the newly independent countries of Asia and Africa against the cold war and against the neo-colonialism based upon indeology or economic aid.

Non-alignment in simple terms means keeping oneself aloof, as for as possible, from the power struggle and ideolegical conflict of the Big Powers with a view to safeguarding the territorial integrity and political independence on the one hand, and promoting socio-economic and cultural norms, values and institutions on the other. This echoes, to some extent; the spirit of the 19th and 20th centuries policy declaration of the United States of America on non-involvement and 'non-entanglement' in European affairs, There seems

* *Deptt. of Political Science, Banaras Hindu University.*

to be some sort of similarity between the two although there is a great deal of time lag in between them. However, the significant point of identity between these two is the motive of maintaining their independence by keeping themselves aloof from the power conflict and also to keep the area of peace', to use the phrase of the-non-aligned countries, for economic development and nation building. Further, both stressed the freedom of action and expression and opposed outside interference in internal affairs. In short, both stood for a sort of 'Monroe Doctrine'[3]. On the basis of this analogy, which should not be stressed too far, there seems to be no reason why should the policy of non-alignment as followed by the newly independent countries of Asia and Africa which are militarily weak and industrially backward but have the potentialities to be strong and developed be not a practical approach to the foreign relations ? Further, the practicability of the policy of non-alignment, with some reservations, could also be demonstrated on the basis of the examples of the 'neutral countries of Europe in the thirties of the 20th Century,[4] who considered 'neutralism' in peace time as an alternative policy both for the maintenance of the balance of power in the larger context of power relations as well as for the sake of safeguarding their own security. True it is that these countries by declaring themselves neutral were not left unattacked by Germany and their independence was taken away. But this was more due to power configuration of the time than because of any fault in the policy. The only mistake, if it could be called a mistake, was that they did not keep themselves militarily prepared. However, looking into their size, their power potentialities, their economic and industrial capability their geographical position, and the nature of the aggressive policy followed by Germany, no degree of military preparedness on their part could have saved them. But the mere fact that these militarily weak countries of Europe considered 'neutra-

alism' in peace time as a policy for protecting their national interests was a good incentive to the statesmen of these countries of Asia and Africa who have just gained their independence and jelously wanted to preserve it to accept non-alignment as a policy. The precaution which these countries must take is that the cold war requires much skill and diplomatic accumen, to make the policy of non-alignment a success than what was needed to make the neutrality operative in the thirties.

In this context, the protogonists of non-alignment could hardly accept 'power' and its corollaries-alliances and alingments–as the right type of policy for militarily vulnerable and militiarly weak and industrally backward countries. Non-alignment has been viewed as a moral and non-violent approach to international affairs in which power has to play a very insignificant role. Its theoretical justification could be, therefore, sought in the 19th and early 20th centuries political thoughts of liberalism and Fabianism, and, to a lot of extent, in the growing concept of nationalism in Afro-Asia. Non-alignment as a post–war phenomenon tries to seek its base in the growing concecpt of 'radical detest of power' and 'power struggle' on the one hand, and in reliance, bordering upon faith, on the soundness of moral precepts, pronouncements, public affirmation of pious principles, universal peace keeping systems, and international law and morality. For those who accept non-alignment as an alternative policy power is accepted only to the extent to which it becomes necessary to make these means effective. And it is here contradiction starts as power then becomes a relative term. However, non-alignment in the post-war period has added one more concept to the Utopian School of thought in international politics.

Independent India under the stewardship of late Jawaharlal Nehru adopted the policy of 'neutrality' in

external field. Nehru became the architect and the prime exponent of the policy of non-alignment as later on it was called. To a large extent, the policy of non-alignment during his life time remained a personality-oriented concept as well as policy rather than sociologically, historically and geo-politically dictated.[5] Nonetheless, the soundness of the policy was never questioned seriously in the beginning and there was a near unanimity among the political parties and groups on the policy in the country. Nehru's judgement on foreign affairs was considered just and in the best interest of the country as this has been his special field of interest right from the beginning. But outside the country the policy of 'neutrality' was a subject of severe criticism and was looked upon suspiciously. In the Red camp it was dubbed as a policy followed by the 'stooge of imperialism' and in the 'Free world' it was described as 'immoral' and a policy of 'sitting on the fence'. In the initial stages (1947-50) the policy and the support of the majority within the country, leaving aside the issue of Tibet, was considered responsive to the domestic needs. With the start of the Korean War, June 1950, and the subsequent peace making role of India as a non-aligned country, the popularity of Nehru and the policy of non-alignment both increased in international field. It was being now appreciated in both the blocs in their own ways and in their own interrest, But with the signing of the Sino-Indian Trade Agreement in April, 1954 and the Panch Sheel Declaration[6] crystallising and elucidating the tenets of the policy of non-alignment, the policy and its maker came under sharp criticism in parliament as well as outside it in the country. The immediate incursion of the Chinese military into Barahoti and Sipti just after the declaration and Trade Agreement became the convenient stick to beat the maker and executor of the policy. On the other hand, outside the country the policy of non-alignment was henceforth

was being construed as an indepedent approach to foreign affairs. This was to an extent, due to Nehru's role in bringing about the contestents in the Indo-China conflict around a table for negotiation and the role of an impartial but unofficial good offices at the Geneva Conference 1954. The slow process of detente between the USA and the USSR of which had strated with the emergence collective leadership in Russia after the death of Stalin was also responsible for its general acceptance by the two super-power and by the UN. Strangely, the policy of non-alignment when gained recognition outside gradually, inside the country it gradually met with a spate of criticism. The mentor of it was criticised by the leaders of the PSP, SP, the Swatantra and the Jan Sangh vehemently. The effectiveness of such a policy was doubted by them. Some leading newspapers also gave expression to these doubts and questioned the Utopian approach of Nehru to foreign affairs. The criticism cresendo culminated in October, 1962 when India suffered humiliation at the Chinese hands and lost a substantial chunk of territory on the northen frontier. This led not only to the serious challenge to the efficacy of the policy but also to the soundness of the judgement of Nehru. Nehru himself felt disillusioned and confessed of the policy being unrealistic to some extent. His opponents taunted him for his belief in moral pronouncements and for the diplomacy by declaration. Co-existence itself was exposed to the anvil of contradiction. The open condemnation of it by China—a country with which India tried to build her relations on this principle, was a shock to many, including Nehru. However, for Nehru non-alignment as a policy was right‘ there were some shortcomings in diplomacy. He reiterated his faith in the policy of non-alignment even after the debacle and was not prepared to change his attitude, although during the Chinese thrust into Assam Nehru had made direct appeal to the President of America for an air umbrella[7]–a significant departure from his earlier moralising attitude. Nehru persistently denied that there

was any change in the policy. But the fact was that a shift in emphasis had taken place because of the force of changed international condition In place of a bipolar world now in 1960s there was emerging a third centre of power, i.e. Communist China with which both the super-powers had their differences. India, as such, had to follow henceforth, as a non-aligned country, a policy of maintaining equinearness with both the super-powers and a distance from Communist China. Nehru at the time of his death was a shaken man and partly disillusioned of the world politics, but carried a strong belief in the justness of the policy of non-alignment. The fact that India obtained military aids from both the blocs during the hours of her danger without any pressure to change the policy was considered as a sufficient proof of its rightness. But if the superpowers did not press India to change her policy of non-alignment it was more because of the imperatives and dynamics of world politics rather than of the soundness of the policy of non-alignment as it was claimed. Many critics inside as well as outside India blamed Nehru for India's defeat and humiliation and considered Non-alignment as interpreted by Nehru responsible for it. Let us analyse Nehru's personality in relation to the policy of non-alignment and try to find out his role.

In India non-alignment as a policy largely centred round the charismatic personality of one man-late Jawaharlal Nehru, whose imprint on the policy and diplomacy is clearly visible. Nehru was born and brought up in an aristocratic environment of India and of Britain but dedicated his life to the cause of the freedom and betterment of the people of India. His sincerity of purpose and motives, therefore, were above board. Nevertheless, Nehru like all other great men, was the product of his time, of clash of ideologies and of economic and social set up, He represented in himself a cross current of thoughts and actions which were found pre-

valent during his time, His was the personality of conflict and harmony, He was impulsive and emotional on the one hand, and hightly rational and scientific on the other. He was prone towards socialism, but considered revolution as a means to achieve it as inhuman and unjust. He was a liberal democrat but many a times behaved as a born aristocrat. These forces contributed a lot in the making of the personality of Jawaharlal Nehru and had shaped his thoughts as well as action. Both in the domestic as well as in the external field Nehru carried the traits of his personality which left on them the imprint of contradiotion. In the field of foreign policy Nehru tried to combine the realistic approach with the utopian-moralistic view but failed to do so, Partly as it was due to his inner contradiction and partly due to the force of circumstances,

Late Jawaharlal Nehru's view of the world was conditioned by a number of factors. Some of them were the legacies of the past, some of them were the results of his personal experiences, some of them were related to the impact of the second world war and some of them were related to the influence of various ideologies. But the most significant factor which contributed to the making up of his mind on foreign policy, to my mind, was the impact of two confusing trends—'the Harowian-Cantenburian conservatism' and realism of the formative period of life and 'the radical dissentient thought of England of the late 19th century' followed by the deep-rooted impact of Gandhi's ethicopolitical approach to politics. Thus, in international affairs he carried with him the realistic and scientific outlook on the one hand, and the utopian-moralistic approach on the other but like Laski he also failed to establish a synthesis between the two in thought and action. Consequently, the policy of non-alignment under the stewardship of Nehru became a complex mixture of realism and utopianism and suffered from some inner confusion and outer disary. In terms of 'cost' and

'return' therefore, it proved short of expectation. But credit must be given to Nehru to make the policy of non-alignment acceptable to many of the newly independent countries of Asia and Africa and also for giving a new and positive connotation to the policy.

Let us analyse some of the aspects of the foreign policy of India in the context of this inner confusion and contradiction of the personality of Nehru and see how far the policy suffered because of this fact or fiction.

Nehru in 1946-47 had formulated the foreign policy of India under a set of domestic and external circumstances. In the domestic field while geo-political, economic and historical pulls were taken into consideration, the most important factor which weighed heavily was the acute desire to remain independent in external field and a strong antiforegin feeling. This desire further got encouragement from the development of cold war and its possible concequences for India—However, it was also felt that an independent India could also not remain totally aloof from the main currents of international politics. Before Nehru the problem was to find out a policy which could seemingly syntehesise between the wish to remain independent and yet active in world politics. Nehru as an admixture of two confusing trends decided in favour of the policy of 'neutralism' as it was then called, under which he stressed on the political freedom of thought as well as action (judging every matter on its merit) as the positive aspect of it and downgraded power on its negative side without giving any thought that in the age of power-politics independence in thought and action Sans power would mean nothing. But soon after Nehru as a realist tacitly accepted the major principle of balance of power when he said, "When there is substantial difference in the strength of the opposing forces, we in Asia, with our limitations, will not be able to influence the issue. But when the two opposing forces are fairly evenly mated then it is

possible to make our weight felt in the balance."[8] At another place while accepting that the policy of non-alignment is for a weak nation he indirectly recognised the importance of power. He said "we should neither be strong enough to produce some effect or we should not interfere at all.[9] Nehru as an apostle of nonalignment, on the other hand, criticised military alliances and the policy of alignment. He was criticial of SEATO, CENTO and other military groupings. But while it was the result of his utopian outlook to international problem, it was also the outcome of his realism. He recognized the fact that such alliances were to change the status quo in the regions which might prove detrimental to the interests of India vis-a-vis those powers with whom India could enter into any meaningful military alliance. He said "I understand, although, I would not approve, military alliances between great powers. That would have some meaning.[10]" and it was in this context that he tolerated the formation of NATO in April 1, 1949. Nehru recognised the existence of the balance of power system in operation in world politics when he said "as things are to-day, we have reached a certain balance—it may be very unstable balance, but it is still some kind of balance—that itself is restraining factor.[11]" Nehru echoed Professor Margentheau's words "so long as the balance of power operates successfully... ...it creates a precarious stability in the relation between the respective nations, a stability that is always in danger of being disturbed and, therefore is always in need of being restored.[12]" Still Nehru followed the policy of non-alignment stressing on non-contraction of military alliance on the one hand, and on the other, on the diplomacy of pronounce ments. This was a contradiction. But it might be said that Nehru by emphasising on non-alignment probably wanted to maintain the 'unstable balance' of Mr. Margantheau. By keeping India aloof from the cold war contest Nehru tried to maintain equi-distance from either of the blocs and thereby effect a balance. The non-alignment policy in this

context, therefore, seems to be less of a negative approach and more of a policy of 'abstention' from the existing power conflict.

Nehru as an utopain and a moralist often asserted that a non-aligned India was in a better position to judge internatioal issues in right perspective. He also went to the extent of saying though it seemed unrealistic for a weak country like India, that "we are in a far better positon to cast our weight at the right moment in favour of peace."[13] Such expression of Nehru viewed in the context of power configuration appeared as an emotional outburst or as an over-estimation of India's ability to tilt the balance in internationl world. Nehru at another occasion had said" Europe has a legacy of conflicts of power, and of problems which came from the possession of power".[14] and as Nehru wanted to avoid this conflict of power, he down-graded power by following the policy of non alignment and the' diplomacy by pronouncements'. In one of the interviews given to the 'Hindu', Nehru remarked" Why should we inherit the hatred of others ? It is bad enough that we have our burdens."[15] These utterances represented the radical dessentism and utopianism in Nehru. There was an obvious indication to fact that Nehru did appreciate the use of power in interantional relations and considered it bad. His emphasis on the ehtico-polical and non-violent means for the maintenance of international peace was clear when in 1954 Nehru accepted the principle of peaceful co-existeuce and non-alignment as the primary bases of all international dealings. It was this moral fervour and detest of power-struglele which had led Nehru on many occasions to moralise and chastise other big powers for using force. Nehru's criticism of American military involvement in Vietnam was an instance in point. But as a realist when the question of Goa, Daman, and Dieu arose Nehru did not hesistate to use force tn the name of anti-conialism. He also supported on the same princlple Indonesia's armed

struggle against the Dutch for west Irian. But failed to rise to the same level of criticism of Russian intervention in Hungary. This shows contra-diction in approach in Nehru's policy. However, Nehru's policy of caution in the name of non-alignment in the case of Hungary could also be explained in terms ot realism, and the external compulsions and internal pulls. [16]The case of Kashmir was before the Security Council and India needed a permanent member of it to support her cause. The Soviet Union provided the much needed support.

The same basis of ambivalence is to be needed in his policy towards Pakistan and China.

The personal bias combined with the Gandhian pacifist attitude clouded Nehru's vision and led to the debacle in 1962 in the India-China war on the one hand and the formarion of the China-pak axis against India on the other. But again the war of 1962, awakened the realist in him, and, it was his greatness to admit publicly that he and the policy both were unrealistc.

It is because of this kind of dulism in Nehru that the policy of non-alignment, though basically a correct line of foreign Policy, under circumstances, could not be of substantial assistance in safeguarding India's territorial integrity. But this does not warrant any change in the basic elements of the policy of non-alignment and Nehru at the Belgrade non-alignment conference, as a realist and as a visionary, tried to give a new dimension to the policy, partly by providing an institutionl base, and, partly by giving the policy a turn towards a' movement' which stands for peace, security, and a new social and economic order, in the world. It is this new dimension which has largely kept the policy of non-alignment alive and has made it respectable and acceptable,

---

REFERENCE :

1. Non-alignment or neutralism may be construed as 'dissociation from the cold war' and has no legal meaning while 'neutrality' has a strictly legal as well as a general diplomatic connotation. *Neutralism*, Peter Lyon : pp: 16-17.
2. *India and world Politics : Krishna Menon's view of the world*; Michael Brecher, pp. 3-4.
3. The American approach to Foreign Policy D- Parkins PP- 68-69
4. Low Countries and Belgium followed this policy.
5. *Gandhi's Emissary*; Sudhir Ghosh, pp. 328-338.
6. However, Nehru very often insisted that the policy is the result of History, Tradition, and Geography.
7. The Five Principles as encorporated in the Preamble of the Agreement were : (i) Mutual respect for each other's territorial integrity and sovereignty; (ii) Mutual nonaggression; (iii) Mutual non-interference in each other's internal affairs; (iv) Equality and mutual benefit· and (v) Peaceful co-existence.
8. The Hindu : April 1, 1954.
9. India's Foreign Policy : Selected Speeches, Sept., 1946-April 1961, of Jwaharlal Nehru, Publications Division, Governmnet of India : 1961 : p. 33.
10. Ibid.
11. Ibid.
12. *Politics Among Nations* : H. J. Morgentheau, (Indian Edition) P. 174.
13. Indian's Foreign Policy : op. cit. P. 47.
14. Nethru Nasser and Nkrumah on Neutralism : E. W. Lefever, Neutralism and Non-Alignment : Ed. Laurence W. Martin, p. 118.
15. India's Foreign Policy, op. cit. pp. 419-20.
16. Ibid. p. 556.

——

REVEALING HIGHLIGHTS : THE READING & MONT-FORD REFORMS

DR. ARUNA SINHA*

The idea of this paper is to present a few interpretative details on India's first experiment with Responsible Government, particularly highlighting the role which Government of India assumed for itself during Lord Reading's tenure. The scope of this review is, however, restricted only to years 1921-1923, when the first elected assembly under the Mont-Ford Act was in operation and upon the success of which, indeed, depended the success of Reading's administration too. This is in the nature of a documentary study, based on the extracts from debates and private papers of Reading and other important figures—all of whom were contemporaries and lived through the most challenging decade of the century. In the 1920s India witnessed a spectacular battle for 'progressive realisation of self-government', fought on two fronts, i.e. within and without the Councils. It was an irony of the situation that one section of nationalists undertook to gain their goal by working out the Act (which followed in wake of August Declaration of 1917) and by trying to ensure increased responsibility of India Government towards the Indian people; on the other side were the Gandhiites, who launched a completely independent programme of 'non-co-operation and swadeshi', which they thought could lead them to 'swarajya'. The focus of this paper is on the former section on Reading's initiative in particular in trying to make the experiment a reality. By and large, the impression conveyed about the years 1921-1926 is negative from view-point of India's constitutional history[1] and the failure of Mont-Ford Reforms seems to be re-affirmed in

---

*Lecturer, Department of History, F.S.S., B.H.U.

public eye by the fact that in 1927 the British Government was again obliged to appoint a Royal Commission, whereas according to the original provision, no further step was to be taken before at least 1930. But this assessment seems an over-simplification, and misses out facts which may be worthy of consideration (in addition to those which have already been highlighted in studies, conducted on the role of legislature in freedom struggle). Obviously, the treatment of subject is drastically cut short because of the limitation of time and space, and hence the information furnished may appear to be piecemeal.

Reading's* choice as the first Governor General under Mont-Ford Plan, seemed a happy augury. Peel, who was Montagu's successor at the India Office, commented that the outstanding feature of the change was that it provided British India with a progressive constitution in place of an inelastic system of Government. Consequently, there was room within the structure of the Act for legislature to develop and establish for itself a position in conformity with the spirit of the Act.[2] What therefore the Act presupposed was a man of different political instincts, one who would allay Indian distrust and reassure them about Britain's holy intentions. It may be needless here to discuss the theoretical details of the Act which conveyed the impression that British intention of implanting responsible government, by no means, implied any reduction of bureaucratic despotism, that the former should grow within the framework of the latter. Earlier conception of the whole government being an indivisible whole, and amenable to British Parliament defied the paper plans of divided responsibility, and blocked substantial advance towards development of self-governing institutions. Still, the basic premise that British had now pledged itfelf not only to a good government but also to a responsible government stood beyond doubt. Indians were to be taken from the stage of

consultation and association to that of participation. The 'Instrument of Instructions' issued to Viceroy also held out hopes in this direction.[3]

Reading's cource of action was almost charted out, but it was Montagu's consciousness and Reading's spirit about the necessity of producing the right impression of Indian aspirations in England (where decisions had finally to be taken) that proved vital for India. Viceroy very much doubted whether it was sufficiently realised in England as to what change had been occasioned in the position of the Government of India by the reforms of 1919. The history of successive years confirmed his view, for it records a perpetual clash between the two Governments on vital issues. Reading persisted with his representations and made a very useful observation in his letter to the P. M., ... 'The GOI...is required to pay due obedience to...S.S...this last provision of the GOI. Act (section 33) contains the seeds of trouble unless these powers of the S. S. of over-ruling the Indian Government's views are used only in exceptional circumstances and with wise judgement......a frequent use of these powers (of certification) would gravely impair the influence and authority of the Parliament created'.[4] The worst thing was that Government was unable to show that it was working not according to its own light but to that of the British Government. This made the position of the officials very awkward, who had to stand up in Assembly to make speeches, which were basically contrary to their judgement. They put forth views, which they had strenuously combated in their correspondence with the Imperial Government.[5] The hinderance to growth of self-government in India thus began to crystalise and Reading's representations helped to focus on some of the deeper issues involved in the problem of administration according to the newly laid principles.

Initially, Viceroy made positive gestures and showed his confidence by agreeing to appoint committees to look into the possibility of repealing those laws, which underlined India's political subjection to foreign rule. The appointment of Repressive Laws Committee and Racial Distinctions Committee is remarkable in this context. Viceroy rightly judged that the Indian unrest was not a disease but a symptom of the disease and he explained himself to Montagu, 'We cannot say that we mean to place power in the hands of the peoples' representative and yet refuse to recognise their objection to a law which, in principle, is contrary to democratic spirit.'[6] Repressive Laws Committee ended up by promising to repeal Press Laws of 1910, Newspapers' Incitement Offences Act of 1908, Indian Criminal Law Amendment Act of 1905, Defence of India Act 1915, Rowlatt Acts etc., 'all of which had supplemented the ordinary criminal laws. Racial Distinctions Committee was another logical step in the direction, and its aim was to remove racial distinctions between European subjects and Indians in the mode of trial, right to appeal etc. The instances of violence, discourtesy and differences in legal procedures applicable to Europeans and Indians, seemed to offend Reading's sensibility and it condemned one section of British subjects to be inferiors in their own country. 'I should intensely deplore it if we failed,' Reading wrote, 'to take advantage of favourable atmosphere.'[7] But provisions of section 65 of the GOI Act nullified all endeavours in this direction by making it obligatory for the legislature to obtain S.S's sanction on any plan of abolishing existing racial distinction. Peel gave directions to Reading[8] on the matter, and so the legislation as it finally came into force in september 1923 did nothing more than just levelling up a bit in favour of Indians. However, these steps added confidence which Viceroy had already been able to infuse in Assembly by accepting H. S. Gour's plan of creating democratic party and expanding the network of standing committees

and provide stronger links between executive and legislature. A Fiscal Commission was also appointed which in recognition of India's advance did not came a day early. P.S.S. Aiyer commented thus, 'It is wonderful how quickly things ripen now a days.'[9] In his letter of 14 July 1921, Montagu conveyed to Reading, 'Your telegram, both official and private, are giving me evidence of the degree of respect which...your Government think it right and proper to pay to the constitutional position of the Assembly. That is very much to the good, indeed any other attitude would, ...seriously compromise the success of the reforms.'[10] It is this aspect of his viceroyalty which seems striking though his achievements do not seem very visible. During his tenure Reading worked with two Assemblies, both being of different complexion, but with both he tried to maintain a strong and consistent policy.

The report on his administration indicates that the first budget of reformed government anticipated a serious deficit and predicated the necessity of drastic adjustments and repairs. There were contadictory pulls on matters of *finance* and because of it, the relations between executive and legislature could easily disrupt. To mention a few, the *Meston Settlement* had created a contradiction of means and ends in the provinces. While the recognition of autonomy in field of transferred subjects conduced to competition in their efforts to find money for schemes for economic and social development, provinces were sore to find that a great deal of their savings went away by way of contributions to the centre. The conditions of *ICS* were such that a Viceroy had to work under constant pressure from the Home Government for bringing it in line with the great increase in cost of living. The stagnation of trade due to causes partly economic and partly political, had made the economy further deplorable. Altogether, the circumstances in which Reading and the reformed constitution began to function, could hardly have been worse.

Realising though, the gravity of situation, created owing to reluctance of British youth to enter the ICS (because of its insufficient renumeration)—Montagu still held that 'To appoint another Commission now to investigate all these matters would create a howl of fury in India...India is hard up, there is no denying it, and yet, on the other hand, we cannot get recruits if all the Services have grievances.'[11] To meet this vexed problem, S.S. suggested an amenable course, before the problem reached climax. He opined that the Government ought to replace Britishers by Indians and should make a big splash about their training. This was followed by his announcement in november 1921 that those ICS men who were dissatisfied with the conditions of services, were to be allowed to retire on proportionate pension. The success of reforms could have been jeopardised owing to freezing of British recruits and the inexperience of Indians, but under the prevailing conditions, it was however desirable to make enquiries into the direction suggested. Reading responded fully because he thought that, 'We must keep a watchful eye on the Assembly, for if once the Government got at loggershead with the unofficial members we should be faced with very real trouble.'[12] To the ICS Central Association, the Viceroy refused to hold out hopes for higher emoluments.[13] Consequently, the famous 0'—Donnell Circular, issued towards end of may 1922, tried to deal with the problem squarely, and was an appreciable effort towards compromise, realising that 'it is impossible to ignore the changes that have recently occured the emergence of new factors and the enhanced importance that is now attached to considerations which...were less prominent and less urgent a few years ago.'[14] It frankly stated that if in future, as is widely circulated, it was difficult to obtain recruits of the same quality, this fact by itself discounted necessity of a strong Europen element in Services. 'Again.. as the ICS is concerned, the whole tendency of the reforms...is to reduce the status of it...The Civil Servant of the future cannot

expect to play the same part as his more fortunate predecessor It is doubtful whether these considerations are fully realised in England, but any advantages that may accrue thereby to the Government in respect of the quality of recruits secured may be more than offest by resentment and discontentment if expectations are disappointed.'[15] Reading took a clear stand about solving the problem expeditiously by a committee of experts appointed by India Government and working on data, already collected. This kind of enquiry, Viceroy thought, 'will not produce the politicl agitation which the appointment of the Royal Commission will provoke', and it 'may...lead to accentuation of racial feeling in press and otherwise just when it has tended to subside.'[16]

But very soon there was to be a volte-face. Quite unexpectedly for the Indians, but a natural culmination of events in England, came the pronouncement of P. M. Lloyd George in H. C. on 2 August 1922, calling the ICS 'steel-frame' of the whole structure and therefore not to be crippled. Montagu was already gone from India Office, and new S. S. Peel, decidedly thought that nothing short of a Royal Commission would meet the true needs of the case and that in case he felt satisfied with the report of Commission, I cannot bind myself to delay my decision until Assembly has met and discussed them.'[17] At this, Viceroy made a significant observation, which seems crucial. He said that any sort of scheme had eventually to be worked and financed by Indians and so, even if, Parliament was the sole judge of time and advance, not only in progressive realisation of responsible government but also in increasing association of Indians in every branch of administration, there was no reason why the claims of Indians would not be adequately recognised. But nothing availed.

In sequel to the whole controversy, followed the appointment of a Royal Commission headed by Lee and in this

context too, Peel did not appreciate Reading's proposal of manning the Commission with 4 Indians and 4 Europeans because the idea behind the enquiry, he expressed, was to determine sphere in which more Britishers were needed. The fact that British government at last did agree to have 4 Indians speaks well of Viceroy's endeavours. It is interesting to know here that Peel hinted the Viceroy, to choose only those Indians, who were ready to do positive and constructive work in the interest of ICS.

The wave of resentment had long been brewing since Montagu's resignation and it now exploded in Assembly where T. Rangachariar and K. B. L. Agnihotri protested against the gesture of British government, conveying that Reforms might be whittled down and scrapped at the sweet will of those distant masters. Reading clarified it in his letter to Peel, 'The position must always be a delicate one, for the S.S. is responsible to the British Parliament if difficulties arose with the Viceroy...but, in the first instance, his duty is to govern India for the benefit of India.'[18] At this Llyod George had to make it clear to Reading that as the Government of India became more and more parliamentary in character and Viceroy spoke more on behalf of the Indian opinion, 'the duties of arbiter must by that very fact in future fall less upon the GOI and more upon the Government at home.'[19] He further said, 'So far as weight-carrying goes, the Indian Members do not count very much and are not likely to count for some time.'[20] The tendency to meddle with Viceroy's discretion grew and Reading could not effect an honest implementation of policy, with which he was in full accord. Even as late as March 1925, when Basil Blackett expressed in Assembly that in the matter of appointment of an Indian as Financial Commissioner for Railway Board, 'scales would be weighed quite definitely in favour of the Indian candidates."[21] Birkenhead, the then S. S. rebuked the GOI for taking such bold stand.

In his first speech to legislature, Viceroy emphasised that the value and character of a constitutional body could not be gauged save by a reasonably long experience of its working. By this he meant that legislature must give sufficient time to executive to show, that it was not the old autocratic types and that in wake of the new reforms, the GOI had become highly sensitive to public opinion. An important outcome of the first session of Assembly under Reading, was the establishment of Standing Finance Committee, meant to advise Government in financial matters. Later during Delhi session of 1922, GOI accepted to enlarge the functions of this committee so as to include scrutinising all proposals for new votable expenditure, sanction of allotments out of lumpsum grants, retrenchments and economy in expenditure. Montagu had appreciated this move and said that although 'the Finance Committee already appointed goes beyond anything so far in this country and to that extent is in itself a novelty...But I also want you to remember this. The whole institution of parliamentary forms in India under the new scheme is in itself a novelty which may justify our taking experimental steps.'[22] However, imparting powers to Assembly was one thing, but, the balancing of budget was another, for which, initiative had to come from the executive only. There were indications of the coming storm. In provinces Reforms had already been nullified due to paucity of funds. Ronaldshay, Governor of Bengal, intimated Reading that he 'felt bound to acquaint you with my considered opinion that the whole delicately poised structure of the reformed constitution in Bengal would be shaken from top to bottom.'[23] Viceroy also believed that abolition of provincial contributions would have been the ideal course provided, GOI had its own resources to be able to do away with that amount of 9 to 10 crores. to ask Assembly for more money 'was frankly inconceivable.'[24] The impending discussion on 'disasterous budget' for 1922-23 seemed

to threatened a repetion of deadlock, which had somehow been averted last year due to moderation of new legislature, Assembly took a more determined tone this time and a special feature of the debate was the threat given by members of Democratic Party, that unless Government undertook substantial reductions in military expenditure, they would refuse all responsibility for the budget. The argument was that as Assembly had been refused power to vote on military budget, it would be highly unfair to hold it responsible for imposing extra taxation. As a corollary to such discussions, the budget was left uncovered. And to all this, a peculiar interest was lent by the fact that Viceroy refused to certify the Finance Bill.[25] Reading established a convention by not resorting to certification. Said he, 'there is a serious constitutional question involved....it seems to me difficult to understand how a Viceroy can be directed to certify when the conditions precedent to the exercise of his powers must depend upon his views of conditions in India.'[26]

It is interesting here to know what correspondence was going on between the GOI and the India office at the time when Malcom Hailey, the finance member, told point-blank in the Assembly that no curtailment in military expenditure was possible.[27] Reading had always insisted that with the delicate constitutional machinery in motion, it was necessary not to run in conflict with the Indian opinion. The delicacy of mechanism ought to have been taken care of. Montagu admired Reading's 'unimpartable power of getting at the heart of things.'[28] On 30 June 1921, Viceroy had written home, 'Every minute of the day serves to bring home to one the difficulties of financial conditions, more particularly having regard to the Legislative Assembly.'[29] Earlier he had said, 'as the weeks and months progress I am sure the Assemely will come to a fuller realisation of their powers we must seek by every means to avoid until the last moment

coming into conflict with the Assembly on some matter of finance.'[30] Hence, his next issue, for vociferous representation to Home government was regarding the curtailment of military expenditure; that as a matter of principle the cost of Imperial army which was maintained for purposes other than Indian be borne by Imperial exchequer; control of War Office be relaxed so that India's financial obligations might not be made onerous.

If Viceroy did not challange the entire premises, he at least fairly realised that it was 'useless to make pronouncement of our policy to give India in the near future full Dominion Status and yet at the same time to hesitate to put herein the position to manage her affairs when they have been entrusted to her'.[31] The idea of self-defence was an inseprable attribute of autonomy and responsible government. After having denied Indians, the opportunities for military training and admission to higher ranks in army as a matter of deliberate policy, it was not now fair to lay down as an axiom that Indians must first be capable of self-defence before they could claim self-government. Reading did not deny the Imperial aspect being imported; he did object to the burden of it being placed upon India. In a revealing telegram, Viceroy wrote how impossible it was for India to bear the heavy military budget, which was further aggravated due to 'forward policy' being followed in Waziristan. GOI thus bore responsibility of a policy, which was directed from Britain, in opposition to recommendations made by his own government.[32]

In the budget debates, the Government was criticised for a policy that was not her's. 'This is a position we cannot adopt, for we cannot tell the Legislature in the public that notwithstanding our views we are bound by the Act of Parliament to carry out the directions of the Home Government, although contrary to our own views, because the expe-

nditure and taxation and all the risks involved are thrown upon India, and yet India's views are not to receive their due weight. I cannot but feel strongly upon this point.'[33] It was thought that army which consumed half of central revenues, afforded widest field of retrenchment and hence a sub-committee of Viceroy's Executive Council was set aside to explore possibilities of effecting economy.[34] Thus the establishment charges were widely scrutinised; a reduction of 77 laks was proposed in addition to a reduction of 85 laks in establishment charges; military budget was brought down to a total of 65,09 crores and Reading requested British Government to permit it to make these suggestions of Military Requirements Committee, public. As regards method and period of advance in Indianisatian, details were laid out in a scheme which obviated costly re-organisation on one hand, and expensive forms of experiment on the other. Reading thought that such a scheme could assure 'Indian people that honest endeavour to give effect to their aspirations is being made'.[35] Little immediate relief would have been affected by the scheme, but would have tended to close the gap between revenue and expenditure in future years. It would have saved the GOI's position in Assembly and without which 'they come before the Legislature simply as the mechanical recorders of views entertained by His Majesty's Government.'[36] GOI was of the opinion that reduction of British troops must be regarded from India's view-point, in relation to her internal security, her capacity of defence against external aggression. Why it should be that India is asked to do, something which is not asked of any British dominions !

Peel was agreeable only for indianisation of 4 battalions and this negated GOI's promise to Assembly of ensuring atleast 25% recruits for Indian army. The result was. as Reading expressed, 'Here is now the situation which I have always seen coming and have dreaded, i.e. definite

conflict between you at home and us out here.'[37] and that 'I see the serious menace to the Reforms.'[38] All these hints by the GOI were an accepted corollary of the 1917 declaration and Reading reiterated that joint Report on Constitutional Reforms, as far back as 1918, emphasised the necessity of giving practical effect to the policy which 'has hitherto been accepted by us in principle only'.[39]

General Rawlinson, Commander-in-Chife, noted in his diary once, 'The fact is that the Home Government, having introduced the Reform schemes, are now afraid they are going fast. They are trying to put on the brake, and the machine is inclined to run away from them. But we must either trust the Indian or not trust him. The schemes have got to be carried out honestly in their entirety, with a view to eventual Dominion self-government or else we must return to the old method of ruling Indian with the sword. There is no half-way house'.[40] Cabinet and War Office issued repeated warnings to the GOI. British government feared that if any comprehensive scheme of indianisation is adopted, it might create a situation more serious than that of ICS containing even more dangerous possibilities. It was after a prolonged negotiation that in Delhi session of 1923, the Commander-in-Chife was able to make a statement that 8 units (mainly infantry but a part of cavalry) were to be entirely officered by Indians under a progressive scheme and the process was to be completed by 1946. But no reductions on military front were to be made. There was a mounting pressure from India office on Viceroy, now, that he should make use of his certification powers in order to balance the budget. On previous occasions, Reading had preferred leaving budget, as it was, despite Peel's opinion that the use of certification powers in early days were more essential—lest Viceroy's reluctance my lead to the growth of a convention for the Assembly. And if discretion about the use of certification power was left to Viceroy alone, it

was difficult to see how the S.S, was to discharge his responsibility to Parliament.

Under such circumstances, but in pursuance of Assembly's wishes, it was a great step which Viceroy had taken in appointing Retrenchment Committee under Lord Inchcape. He was moreover particular not to let it seem useless to Inchcape at the outset 'to examine into the only questions that really matter,'[41] and that 'this was essential if Committee is to be of any real value'.[42] But, its practical utility was cut-short due to considerations, put forth by Peel, 'The main business of a Retrenchment Committee is to apply the criterion of cost and efficiency, but the criterion may be irrelevant and even misleading if applied to matters in which other considerations must be paramount'.[43] The difference between two government were becoming so explict that London Press was full of rumours about Reading's resignation.

The Assembly session of 1923 was momentous. Apprehensive about the dangers of leaving the budget defficit and motivated by a sense of obligation towards the whole country, Reading now decided to balance the budget. I consider it', he said, 'essential that the budget should balance and am ready to face the consequences'.[44] In Assembly the finance bill was rejected wholesale not so much on economic grounds as on the constitutional ground. Viceroy's certification of the finance bill amounted to a total over-riding of Assembly's control on purse. Since its inception, this Assembly for the first time was provoked into making a much bolder demand in the successive session—viz. scrapping of 67-B section of the Government of India Act, which empowered Viceroy to over-rule the Assembly. This was the first solid dent on a structure, which had emboldened representatives in their venture Indian of 'self-government'this extended them hopes and gave the direction in which they could possibly travel in order to forge ahead. The snag was clear.

———

REFERENCE:

1. Newspaper opinion. For ex. *Hindustan Times* opined that Reading assiduously shattered the expectations reposed in him and that one rises from a contemplation of his regime with anger and weariness. 'His regime has been a tragedy'. Delhi, 30 March 1926. *Amrit Bazar Patrika Hindu, Swarajya, Daily Express, New India, Leader etc.* also held the same opinion.

* *Leader*, Allahabad, 2 February 1921 said that 'A chorus of praise and congratulation has risen from almost all quarters at the Pri-Minister's brilliant selection As politician, lawyer, judge, statesman, financier, diplomat he has to his credit a series of uninterrupted successes such as have fallen to the lot of no other man in public life. By race he is non-British. By origin, he comes of humble parentage....And commonsense tells one that what Indians are more concerned with . is what the new Viceroy's personal character and qualifications are, and what his policy will be'.

2. A note stating policy with reference to the GOI Act. Correspondence of S. S. with Viceroy, April-December 1922, p. 75. *Reading Papers*.
3. *Assembly Debates*, vol. III, Part I, 1922, p. 7.
4. Viceroy to Prime Minister, letter, 4 May 1922. *Reading Papers*.
5. *Ibid.*
6. Reading to Montagu, letter, 18 Oct. 1921. *R. P.*
7. Reading to Peel, Telegram No. 581, 25 July 1922. *R. P.*
8. Peel to Reading, Telegram No. 1021, 30 August 1923. *R.P.*
9. Letter, 22 September 1921. File 5597. *P. S. S. Aiyer Papers.*
10. Montagu to Reading, letter, 14 July 1921. *R. P.*
11. – do – letter 27 April 1921. *R. P.*
12. Reading to Montagu, letter, 23 July 1921. *R. P.*

13. J. N. Downing's letter to S. S. on behalf of C. P & Berar Asso. of ICS. *Indian Annual Register*, Calcutta. 1922-23.
14. *Ibid.* p. 208 (xlii)
15. *Ibid.* p. 208 (xlii–iii)
16. Reading to Peel, Telegram No. 20, 14 January 1923 *R.P.*
17. Peel to Reading, Telegram No. 788, 6 July 1922.
18. Reading to Peel, letter, 18 May 2922.
19. Lloyd George to Reading, letter, 26 July 1922.
20. *Ibid.*
21. Quoted in Birkenhead's letter to Reading, 5 March 1925.
22. Montagu to Reading, letter, 14 July 1921.
23. Ronald shay to Reading, letter, 12 July 1921.
24. Viceroy to Secreatary of State, letter, 23 June 1921.
25. – do – , Telegram 897 F. 15 March 1928.
26. – do – , letter, 20 April 1922.
27. Speaking on army reduction in India, Sydenham said, 'The reduction of the Indian Army...raises great Imperial questions and....needs more justification...Decisions which may have the most serious consequences seem to have been taken without the previous knowledge of Parliament...'
    Debates on Indian Affairs, HL, 1921, London, 1922, p. 80.
28. Montagu to Reading, Letter, 25 May 1921.
29. Reading to Montagu, lerter, 30 June 1921.
30. – do – , letter 16 June 1921.
31. – do – , letter, 18 August 1921.
32 – do –, Telegram No. 76, 25 January 1922.
33. Reading to Peel, Telegram No. 358, 24 April 1922.
34. Secretary, Military Requirements Committee to Motilal Nenru, letter, 27 May 1921, Confidential. Correspondence, Serial Nos. 295-98. *Motilal Nehru Papers.*
35. Reading to Montagu, Telegram P , 23 Janury 1922.
36. – do – , Telegram, 18 February 1922.
37. – do – , Letter, 16 February 1922.
38. *Ibid.*

39. Reading to Montagu, Telegram, 18 February 1922.

40. Frederick Maurice, *Life of General Lord Rawlinson of Trent*, London, 1928, P. 307.

41. Reading to Peel, Telegram No. 45–c, 6 November 1922.

42. – do – , Telegram No. 807 F, 15 March 1922.

43. Peel to Reading, Telegram No. 1360, 21 November 1922.

44. Reading to Peel, Telegram No. 213, 16 March 1923.

Abbreviations Used :

GO I–Government of India; S. S -Secretary of State; HC&HL Housc of Commons and Lords; P. M.–Prime minister; R. P.–Reading Papers.

NATURE OF THE FUNCTIONS OF THE STATE IN ANCIENT INDIA

KAUSHEL KISHOR MISHRA*

Functions of the State indicate that the state in ancient India was not a mere Police State Wielding its rod of chatisement only against the deliberate transgression of law, but its authority was also utilised for restraining beforehand all unsocial acts by prohibitary regulations, and that it also under took direct actions in the form of concrete help in the material and moral well being of the people. As much the functions can be categorised under three heads. They are retributive, prohibitive and of Positive action in nature.

The military, Judicial andpolice functions are retributive in nature. These departments become active only when a wrong has been committed and try to get things right by inflicting punishment on the wrong-doer.

The function of the army is to defend against foreign invasion and to suppress internal revolts. That means the army becomes active only when there is an invasion or an internal rising. But as regards the military activities of the states in ancient India, it cannot be said that role of the army had always been that of goint into action only when necessity arose for-meeting for with force. Idealisation of Samrajya and glorification of the conquests of the four directions or Digvijaya led to many war of conquests by ambitious monarchs. Inspite of this however, war for the love of conquests did not become the accepted purpose of the army. The art of diplomacy developed by our political speculators prescribed resort to war only in the

* *Research Scholar, Deptt. of Political Science. B. H. U.*

last instance when all the diverse methods of dissension conciliation and temptation had been exhausted.[1] It shows that though at times the army was engaged inunprovoked wars, generally its activities were limited to defensivive ections. Defeat of the enemy aggressor and suppression of revolts with in the country, the two most important duties expected of the army departments in its defensive role, may be called retributive in nature. For in these cases action is taken, only when peace of the realm is threatened and military operations which follow there after, are taken for teaching a lesson to the invader or to the conspirator.

Function of the Judiciary is to try cases of offence against law and to inflict just punishment on the offenders. The duty of the police is to bring such offenders to Justice and then to carry into effect the verdiet of court. The law in Ancient India was synonymous with the concept of Dharma. As such violation of law implied deviation from the path of Dharma. From the contents of Dharma such deviations would mean violations of rules of righteous conduct enjoining respect for the life, liberty and Property of others, and abandonment of the traditional duties of one's station in life. Thus the Judiciary and the police tried to guarantee security of life, liberty and property and upheld the established social system by the indirect method of punishing offence against them.

As already explained, the above functions imply retributive measures after a worng has already been committed. But attempts were also made to check before hand by prohibitary restrictions, the unsocial tendencies with thereatened security, prosperity and moral well being. These restrictions were embodied in the laws of the state which prohibited under state penalty all attempts on life, liberty and property of others, laws which forbade such uneconomic measures which hampered the flourish of wealth producing

enterprises and such other laws which banned un-moral habits. The criminal code of Kautilya, Manu, Brihaspati and Narada testify that there were in Acient India systematic codified laws against criminal offences. The rules laid down by Kautilya prohibiting combinations of artisans and merchants for increasing prices, his statutes on labour baning the undue demands of both the employer[2] and the employees[3], and his provisions for controlling the sale of commodities were all meant to protect the realm against capitalist explaitation to guarantee efficient work by the labour and ensure fair deal in the daily transaction of business. Moreover, there was restrictive laws on excessive indulgence ingambling, betting and drinking which had the tendency of leading to unmoral ways.[4] Through these various prohibitary regulations the King was expected to prevent perpetration of crimes, to restrain the adoption of unsound economic methods which hindered the prosperity of the nation, to check moral dereliction.

The states in ancient Indian moreover, made a more rational approach to the problems of the preservations of security, prosperity and moral well-being through positive actions instead of merely retributive and prohibitary measures. It tried to root out the basic reasons which generated in unsocial tendencies in men. Poverty, ignorance and indolence are the greatest evils in that way. Miseries of poverty may drive a man to sinful deeds which will not only remove the chance of his own spritual betterment, but shall also cause similar harm for others. For poverty, breeds discontent which, if not mitigated, instigates distrubances. theft, loot and murder in the country. Under such disquieting conditions, no progress material or moral is possible. Theoreticians in ancient India seem to have realised it, and therefore provided states maintenance for the poor and helpless.[5] These provisions of state support had at least one beneficial effect of preventing the poor and the helpless from growing into public criminals out of sheer desperations.

Along with the effort to rootout the basic economic factor creating unsocial tendencies, attempts were also made to instill in the people a sense of duty through moral practice and preaching inorder to overcome the general apathy and ignorance of the public. The king who stood at the apex of the governmental machinary was supposed to be the epitome of moral excellence.[6] So that he might set up a lasson for all through his own practice For providing moral teaching to the subjects, the state maintained learned Brahmans-moral guardians of society. The education imported by them was such that it instilled in the minds of the students a sense of righteousness, aspirit of self denial and reverence fortraditions which had the practical effect of ensuring observance of caste duties. These attempts to root our poverty and to mould the public mind towards adherence to the prescribed duties were radical cures tried by the states in Ancient India for removing the unsocial tendencies. Measures involved there in viz. Provision for the maintenance of the poor and the helpless, and for the education of the people implied positive actions on behalf of the states. All constructive projects under taken by the states for the development of agriculture, trade and industry like irrigation, reclamation of fallow lands, preventive and remedial measures against famine and draught, construction and upkeep of roads and bridges for facilitating trade, all indicate positive actions on behalf of state.[7] Even more such positive actions followed in these fields when the government exploited the crown properties by virtue of which the state in ancient India happened to be the biggest land owner, trader and industrialist, The enarmous income derived from these sources did not constitute the private purse of the King. Infact the Ancient Indian conception of Rajdharma propounded in the Dharma sutra and smriti literatures made no distinction between the public and the private duties of the King. Logically so no distinction between the general and personal purse of the

King was recognised. The entire royal treasury was supposed to have been utilised forgeneral use. The more a King spent in such purposes, the greater spritual merit he earned. The Epic writer wrote "Filling thy treasury, thou shouldest do good to thy Kingdom."[8] Sukrenitiadvises the King to collect all his taxes duly, but use them for the protection of his subjects.[9]

Functions of a state may be classified under two heads; essential and unessential. The essentiality of a function of the state in ancient India may be determined by two factors. Firstly by seriousness of the cousequences of non-performance of an act, and secondaly by the imperative necessity of certain-acts for the achievement of the ultimate end of the state into enable the subjects to attain their salvation.

Protection of life, liberty and property of the subjects is the most essential dutiy of a king, because in the absence of protection might determines right, and no one can be sure of his life and possessions or even of his wife and children. Under such constant threate of danger no organised life is possible, no moral laws are worked and no sacrifices are performed with the result that universal chaos ensues. Under these considerations functions involved in the duties of protecting life, liberty and property must have constituted essential functions in the state of Ancient India.

To the Ancient mind steeped in religiosity, Similar dire consequences must have appeared to have followed if Dharma was not preserved. For Dharma denoted that universal law which regulated the phenomenal world of nature, the world gods as well as the world of human beings. As such violation of Dharma meant upsetting of the entire universal scheme. Moreover, as Dharma was ascribed to divine origin its breach was supposed to incure sin. The fear of incuring divine warth must have acted as a strong sanction

behind preservation of Dharma, which thus constituted an essential duty of the Indian king.

one of the factors which are of imperative necessity for enabling man to pursue the four fold end of their life, was guarantee of at least a minimum standard of material prasperity. Pravirti Marg which was to preceds renunciation leading to salvation prescribed precedence of Garhasthey asbram before Vanaprastha and Sanyas. The Socio-economic organisation of our caste system was such that the Brahmanas and sudras, the highest and the lowest orders depended for their subsistence on the Kshatriya and Vaishya. The caste functions required the Brahmanas to devote themselfs excluisively to learning and religion, and enjoined the sudras only to serve the higher castes.[10] Working of the whole system thus depended on the financial stability of the kshatriya and vaishya householders.[11] It is therefore of imperative necessity that the government maintained conditions which were conducive to prosperity.

The essential duties of ensuring the protection of life, liberty and property of preservation of Dharma and of hindering the hinderances in the way of the prosperity of the nation had corresponding essential functions. Protection involved army, police and Judicial activities. Preservation of Dharma so far as its caste rules were concerned fell under the domain of Judiciary which administered the traditional laws embodying the caste rules. So far as Dharma respresented the established religion. its preservation implied religious functions. The other essential duty of doing the minimum for securing prosperity of the realm must have implied firstly preventive and remedial measures against natural calamities running agricultural secondly, such police action as was necessary for rendering the roads safe for commerce and thirdly regulations safe guarding the profit of both the employers and employees absence of which was a great hindrances in the free flow and working of capital.

———

References

1. Adiparva, CXLII 4 &, Kautilya Book IV Chapter XVI, Manu VII, 10, ... 108.
2. Kautilya III 13.
3. Ibid, Book IV, 1, Manu VIII. 399
4. Kautilya III ch. XXV. Manu IX 220, 224, Sukra, I 600...608
5. Shanti Parve. XCI 38, Vasistha CXIX 35, Gautama X, 9, 12, Kautilya III, 1.
6. Kautilya VI, Ch. I verse 3 . 6.
7. Sabha Parva Sec V, Shanti Parva LXV, and LXIX, Kautilya Book II.
8. Anusasan Parva LXI
9. Sukraniti chapter IV, Section II
10. Shanti Parva LX 8.. 38,
11. Shanti Parva, XVII, 27...28,

———

11 BIAS IN INDIAN HISTORIOGRAPHY

Dr. J. CHAUBE*

"There is no object in itself isolated from subjects who makes it objective. The modern prejudices which look upon objective things as only reality, translates itself in History into an execessive growth of the most exterior modes." Dardel.[1]

If history is to be pronounced a science, there must be found in it some features answering to the objectivity of natural sciences.[2] Should the historian remain impartial when he tells his story ? Here is a genuine problem, the responsible historian and--methodologists disagree about the solution. According to Gardiner, "it is unlikely for the historian to write objectively. If you ask whether the whole history is objective, the reply is no but if you mean some history the reply is yes."[3] Science is considered objective on account of its freedom from conflicts, then history will appear subjective by comparison.[4] According to Maurice Mandelbaum "History is written in the service of every man's emotional needs."[5] Beard is of the view that "Every student of history knows that his colleagues have been influenced in their selections and ordering of materials by their biases, prejudices, beliefs, affections, general upbringing and experience paricularly social and economic, he applies the connon to himself leaving no exception to rule."[6] Simmel says, "The picture in the historian's mind is subjective mental construction. But he claims this subjective construction possesses objective truth. The historian feels

* *Reader in History, Banaras Hindu University.*

convinced of the objective reality of his subjective construction.'"[7]

There are many factors which help the historians to be bias in their approach. Personal likes and dislikes, prejudices and association with groups; races, social classes.[8] The conflicting theories such as Marxist interpretation of economic factors and liberatism; religious beliefs are descisive factors in history.[9] Absence of bias is not something as secure knowledge. Historian's narrative cannot be a faithful and total reproduction of a section of the past.[10] Professor Butterfield in his perface to Whigh Interpretation of History says—there is a distinction between general history and historical research. The general history may be objective but it is not possible in historical—research which is full of personal touch.[11] Professor G. N. Clark also shares the same view and asserts that historical interpretations are full of personal touch of the historian.[12] The selection of the facts are presupposed according to Professor Oakeshott.[13] History cannot be objective because it is relative to mental climate or the personal bias of historian.[14] According to Prof. Mandelbaum–Historical judgements are historically conditioned. The historian is conditioned by personality, politics, class or nationality or mental climate of his time.[15] "Impersonal knowledge should be admitted to be an abstraction, a fiction. and an impossibility" wrote Schiller.[16] According to Hazlitt, "in art, in taste, in life, in speech you decide from feeling and not from reason."[17] Henry Pirenne has explained why the historian can not leave his personality out of the story. "The historian's subject is society itself. His task is to understand and recount events of which the factors are like the men himself, nations like that to which he belongs. However impartial he may be, he cannot remain totally objective. However strong his personality, he cannot escape from

social environment. His own time expresses itself in his work his points of view is determined by the level of civilization of the public which he address and of which he is a member.[18] Clearly then, the historian is present in his work with his whole personality, with his temparament and with his group consciousness as well as with his reason. It would be absurd, it would be dangerous to ask him to disguise.[19] Halphen points out that open partiality of an historian has the advantage of warning us against his limitations.[20] G. M. Trevelyan considers that the bias to some extent is inevitable.[21] Bauer explains that evil of objective presents serious drawbacks, Since its objects can nearer be achieved.[22] The historian, a creation of flash and blood cannot abdicate his personality in admiring or condemning the activities of men of the past.[23]

History should be free from bias :

Though the historians look upon the events from points of their own and every generation finds it necessary to rewrite the history written by its predecessors, there are different and inconsistent versions of the same set of events.[25] But impartiality in history is a must. The facts of history are selective and therefore subjective. But according to Sir P. C. Scott interpretation is very important in history.[26] History has its own discipline which should be supreme in the interpretation. The historians demand objectivity and impartiality and repudiate the construction of the past which reflects emotions, interests and propaganda. The historians should recognize certain objective rules in accordance with which he must argue. These are the cherished aspirations of our age and the bias should not have any placc in historical writing.

Medieval Indian Historiography :

Bias in historical writing during medieval period of Indian history has affected to a great extent. Two main

factors were mainly responsible for such writing, religion of the ruling class and court patronage extended to the historians. Under these circumstances objectivity and impartiaiity could not be expected from them. The bias attitude of the historians found full exposure when they had to describe the relations of the rulers with the Hindus in general and the Rajput princes in particular. The history of Gujarat Kingdom is full of such bias attitude. when Malik Mufarrah Farhat-ul-Mulk defied the central authority of Delhi Sultanate, Ferishta condemns him, "Farhat-ul-Mulk encouraged the Hindu religion and idol worship inorder to get the support of the Hindus."[27] He also permitted the Hindus to repair the temple of Somnath.[28]

Local Rulers and the Sultans of Gujarat :

The historians of medieval period of India failed to give an objective and impartial picture when they describe the relations of the local rulers of Junagarh, Champaner, Jhalawar, Idar and Nandor with the Sultans of Gujarat. The imperialist Ahmad Shah wanted to conquer Junagarh, but the author of the Mirat-i-Sikandari attributes the cause of attack as it had become the place of insurgents.[29] Not only the Muslim historians but the court historians of the Rajput local, Rajput rulers also failed to give objective and impartial account. Gangadhar the author of Mandalik Mahakavya gives exaggerated account of Ahmad Sha's retreat as defeat.[30] Under these circumstances, it becomes imperative for the researcher of the present period to weigh evidences in true persepective and give impartial account.

Despite the fact that the Rao of Jungarh maintained friendly relations with Mahmud Bagarh and attacked Dudo Gohil of Sorath at his suggestion, Sikandar accused him as as refractory.[31] Nizamuddin Ahmad and Sikandar further accuse him of worshipping idol in the temple.[32] Thus the attitude of the religious minded historians is biased. On

the religious plea of Maulana Mahmud Samarqandi, Mahmud Shah Bagarh attached Dwarka,[33] and compelled Jayasinha and his prime minister Dungarsi to accept the faith of Islam.[34]

Relations with the Rana of Mewar :

The modern researcher of medieval Gujarat finds himself in embarassing situation in weighing two sets of evidences of the Muslim and Rajput chroniclers. Luckily the evidences of the Muslim historians are contradicted by the Rajputs-chroniclers. But both the evidences are not free from bias. In inteapreting the facts, the modern researcher has to weigh the available evidences in proper perspective. The Rana of Mewar considered himself as the champion of the Rajputs in Malwa and Gujrat and therefore incurred the displeasure of the rulers of Gujarat and Malwa. When Rana Kumbha attacked Nagor, Sikandar and Ferishta mention the reverses suffered by the Rajput army.[35] But Rana Kumbha's possession of Nagor is confirmed by the Chitor inscription.[36] This fact is confirmed by another inscription.[37]

Nizamuddin Ahmed, Ferishta and Sikandar have given a religious tinge to to the Raisen campaign of Bahadur Shah of Gujarat.[38] Silhadi, the ruler of Raisen was accused of having Muslim women in his harem.[39] According to Sikandar, Bahadur Shah was very angry and decided to punish Silhadi.[40] Bahadur Shah was influenced by political considerations and keeping Muslim women in harem was an accuse as rightly Briggs remarks,[41] In rejecting or accepting the biased views of the Muslim historians, the modern researcher has to weigh the evidences in properly.

Despite the fact that Rana Ratan Singh of Mewar maintained friendly relations with Bahadur Shah of Gujarat. The Muslim historians accuse him that he had helped the

Rajput ruler of Raisen.[42] According to Ojha-the existence of a Rajput State was regarded as a thorn and a part of the Sultan's imperialistic design.[43] This seems more correct.

Relations of Gujarat with Malwa and Deccan :

So far as the relations of the Sultans of Gujarat with the Muslim rulers of Malwa and Deccan are concerned, the Muslim historians have pleaded the moral obligation of Muzaffar Shah II and Bahadur Shah to help the rulers against the odds. Bahadur Shah's conquest of the Deccan and Malwa was a part of imperialistic plan, but the Muslim historians say that it was his moral duty to help the victims of aggression. Their accounts are not impartial and free from bias.

Economic History :

Although the chroniclers of medieval Gujarat have narrated at great length the character and activies of the rulers of Gujarat, but whenever they had depicted the trade, commerce, and economic prosperity of the kingdom, their accounts are true, impartial and without bias and prejudices.[44]

Conclusion :

Thus it is clear from the above facts that the historians of the medieval period of Gujarat are not free from partiality prejudices and bias. Under these circumstances it becomes the duty of the present researcher historian to observe certain discipline of history. The interest of the subjects which guide his historical interpretations are universal and necessarily valid recognition of cultural values. In that case every historical account while dictated by values would be objective in the sense it would be recognized as true by all other historians.[45] In the historical accounts, the selection, individuality, totality and meaning-fulness are employed. The historien's ability to portray the real character

and relations of historicai events.[46] Simmel may be quoted, "The picture of the historian's mind is a subjective mental construction. But he claims that his subjective construction possesses objective truth. The historian feels convinced of the objective reality of his subjective constructions."[47] The historian must look the past from his own–presuppositions but it is not thereby to cut of all understanding of it. The objective historical consciousness would provide a framework for rational thoughts in history, must remain no more than a pious aspirations.[48] The spirit of the historian must always respond to the demand of his age and the perpetual rewriting of history is direct consequence of this necessity.[49] The historlcal objectivity lies in the framework of argument, To be objective means to show the desired proportton of truth.[50]

REFERENCES :

1. Dardel, quoted by Ranier, G.T., History – Its purpose and Methods, London 1961, p. 259.
2. Walsh, Philosophy of History, London, 1967, p. 96.
3. Gardiner, p., History of Historical Writing, pp. 333-34.
4. Ibid, 336.
5. Maurice Mandelbaum – The Problem of Historical Knowledge, London, 1917, p. 17.
6. Beard quoted by Mandelbaum, p. 18.
7. Collingwood R. G., Idea of History, London, 1961, pp. 170-71.
8. Hockett, H.C., The Critical Method in Historical Research aud Writting, New York, 1961, p. 10
9. Walsh, p. 99.
10. Carl Becker, Can History be objective, p. 331.
11. Butterfield, Whig Interpretation of History, London, 1931, P.3.
12. G. N. Clarrk, Historical Scholarship and Historical Thought, p. 20.
13. Okeshott, Experience And Its Modes p. 98.
14. Carl Becker, p. 331.

15. Mandelbaum : The Problem of Historical Knowledge, p. 67.
16. Schiller, Our Human Truths, p. 11.
17. Revue Historique p. 51.
18. Ranier, History : Its purpese and Methods, p 250.
19. Ibid, p. 250.
20. Halphen, p. 30.
21. Trevelyan, Bias in History, Address to Historical Association 1947, (History XXXII).
22. Bias in Historical writing, Oct. 1926.
23. Ranier. P. 251.
24. Walsh p 98.
25. Ibid, p. 97.
26. Rowse, A.L., The Use of History, London, 1963, p. 21.
27. Ferishta, Tarikh-i-Ferishta tr. Rise of Muhammadan Power in India by John Briggs, IV, p. 455.
28. R.M. Pl. IV, p. 2, Ali Muhammad Khan, Mitat–i–Ahmadi tr. Lokhandwalla p. 32.
29. Sikander–Mirat–i–Sikandari p. 31
30. यवनेन्द्रभयात झल्ल कृष्णस्य रक्षणम्
कुर्वंता येन सहसा महीनिर्यवनीकृता । 87
यहिम्मदसुरत्राणं निजदुर्गं ग्रहाग्रहम्
न्यग्रही द्रव्यग्रहीतेन तत्सर्वस्वं समग्रहीत । 88 प्रथम सर्ग ।
Gangadhar – Mandlik Mahakavya p. 43, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1953-54.
31. Mirat–i–Sikandari text p. 88.
32. Ms. Text p. 93. Tab. AK 6. III, p. 146.
33. R.M.Pl. IV, p. 60.
34. Chaube J., History of Gujarat kingdom New Delhi p. 83.
35. Ms. Text p. 62 R.M. Pl. IV p. 401. M. A. p. 42.
36 शकाधिपानां व्रजतांमधस्ताददर्शयन्नागपुरस्यमार्गं
प्राज्वल्य परोजमशीतमुच्चां निपात्य तन्नागपुरं प्रवीरः
निपात्य दुर्गंपरिखामं प्रपूर्यं गजानन्गृहीत्वा यवनीश्चवध्वा
अदण्ड्यो यवनानन्तात विड्म्वन् गुर्जर भूमिभर्तुः ।
Chitor Ki Kirtistambha,
Ojha, Gaurishanker Hirachand, Udaipur Rajya Ka Itihas,

37. स्फूर्जगुर्जरमालवेश्वर सुरत्राणोसैन्यार्णव
व्यस्ताव्यस्त समस्तवारण वनप्राग्भारकमोदभव ॥
Kirtistambha Vs. 1317, 1460, tr. R.I.I.P. 305.
38. Tab. Akb. III, Text. P. 218, Ms. Text. p. 225, RMPL IV p. 116.
39. Bom. Gaz. I. p. 225.
40. Ms. Text. p. 281,
41. RMPI, IV. p. 220.
42. Faridi p, 173, Mir : Ahm p. 61.
43. Ojha, Udaipur Rajya Ka Itihas Vol.I.p. 305.
44. Ali Muhmmad in his Mirat - i - Ahmadi has discussed in details the economic life and administrative accounts. Mira – Ahmadi Baroda 1926. James Bird - Political and Statistical History of Gujarat, has also given a full account of economic life of the people. Political and Statistical History of Gujarat London, 1735.
45. Walsh op. cit, p. 98.
46. Mandelbaum, op. cit. p. 178.
47. Collingwood op. cit. p. p. 170–97.
48. Walsh op. cit. p. 111.
49. Mandelbaum op. cit. p. 35.
50. Gardiner op. cit. p. 340

—

37. [illegible]
[illegible]
Kirtikaumudi V. 1317, 1460, tr. P.I.L.P. 305.
38. Ibid. [illegible] III. Text P. 218. Ms. Text. p. 225. RMPI. IV p. 1[illegible]
39. Bom. Gaz. I. p. 235.
40. Ms. [illegible] p. 345.
41. RMPI, IV. p. 220.
42. Farsi p. 173, Mir-i Ahmadi p. 61.
43. Ojha Udaipur ka Itihas Vol.I.p. 305.
44. Ali Muhammad in his Mirat-i-Ahmadi has described in details the economic life and administrative measures Mirat-i-Ahmadi Baroda 1926. James Bird - Political and Statistical History of Gujarat has also given a full account of economic life of the people. Political and Statistical History of Gujarat London, 1835.
45. Welsh op. cit. p. 98.
46. Mendelsham, op. cit. p. 173.
47. Collingwood op. cit., p. p. 190-97.
48. Welsh op. cit. p. 111.
49. Mendelsham op. cit. p. 35.
50. Gardiner op. cit. p. 146.

SOME ANCIENT CAVE MURALS IN LADAKH : A NEW BREAKTHROUGH

AJAY KUMAR SINGH & SUNIL KHOSA*

The plateau of Ladakh situated as it is at altitude of more than 11000 ft. above sea level, the people there developed a composite culture over the centuries under the influence of the countries bordering it. Till recently not much was known about the various aspects of Ladakhi culture due to the geographical location of the place, extreme climatic conditions and the absence of any easy transport system leading to the interior. The history of the art of painting as it developed in Ladakh from time to time is not available in a comprehensive manner although some work has been done by some foreign scholars. During our recent survey of Ladakh we have explored a new chapter of Indian Buddhist painting at Saspol near Leh and Karsha in Zanskar valley.

Brief history and background

Indian art occupied an important place in the culture of the people of Ladakh, once an integral kingdom of Western Tibetan Empire. From the period of great Emperor Ashoka, who held the famous Buddhist council in Magdha, it was resolved to sent the missionaries outside India to Gandhara, Central Asia, Kashmir and China through Ladakh for the propagation of Buddhism.[1] It was for the first time when Buddhism was introduced to Ladakh but somehow it could not get a foot-hold in this nomadic land. After a period of nearly four hundred years, Great Kushana

* *Research Scholars Department of history of Art, B. H. U.*

The present reserch paper is based on the discovery the authors made in summer of 1978, when they were exploring in Ladakh in connection with their Ph. D. dissertations.

king Kanishaka called fourth legendary Buddhist council in Kashmir valley and Buddhism once again tried to penetrate into this secluded land surrounded by torrential rivers and stark naked mountains. This fact is based on the evidence of ample inscriptions in Brahamanic and Kharoshti script which can be seen scattered all over Ladakh; but it was only after meeting tough opposition from the local population who were not prone to change their religion that Buddhism was able to take deep roots in Ladakh. The local people were following their own native religion which was known as Bon, In fact Bon religion is a form of Shamanism advocating black magic and demon worship. For the first time in the 7th century a Tibetan king Shrong–btsan-sgampo (629 A.D.) openly accepted Buddhism and made it the state religion.[2] This is largely attributable to his matrimonial relations with both China and Nepal where Buddhism was already flourishing at the time.[3]

After the reign of shrong–btsan-gampo Buddhism was overrun by the Bon religion during the reign of king Langdarma and after his death Central Tibetan Empire was fragmented into the two sovereign units namely Central Tibet and Western Tibet.[4]

From the beginning of the 10th century Buddhism got a firm hold in Western Tibet. The king of Guge state in Western Tibet (now occupied by China) Ye-she-od (1025 A. D.), who resided at Tholing was not satisfied with the prevailing form of Buddhism and decided to bring it in line with the prevailing Indian Buddhism. For this purpose he gave careful education to twenty one boys of his dominion and sent them to Kashmir and other parts of India to be educated in Sanskrit and Philosophy; prominent among them was Rinchen-bzangpo (958-1055 A. D.) the great translator and builder of temples.[5]

Rinchen-bzang-po returned to Guge with a party of Indian monk painters, craftsmen and scholars where he star-

ted a great movement of rebuilding and erection of the new monasteries and temples. These all were built and painted by Indian craftsmen and painters. Thus the work of art was purely Indian in which Kashmiri elements were distinct.

According to Ladakhi chronicles and Tibetan records, construction of 108 temples is attributed to Rinchen-bzang-po out of which few are known to us for instance, Alchi, Mongyu, Sumda, Kanika in Zanskar (now renovated); Tabo in Spiti; Tholing, Tasparang, Mannang and Nyathang (now under Chinese occupition,) all these are richly decorated with Indian murals.

The tradition of decorating temples, palaces and monasteries walls with paintings is very ancient; this is witnessed in Ajanta, Ellora and Bagh caves; the evidences correctly affirm that art of painting was associated with religion and civil life in ancient time.

In Buddhism monasteries are considered as educational institutions of culture, philosophy and religion. Traditionally, these were erected in calm and secluded areas but on the trade routes approachable to the devotees who were generally traders and made donations to these institutions during their halts on journeys, there by serving a great economical factor to flourish the monasteries,

Indian artistic traditions were carried into Himalayan regions by the missionaries and traders in the form of portable art examples as scroll paintings, bronze images and painted and carved wooden plaques. These prototype work of Indian art played an important part in spreading the Indian art style beyond the high Himalayas and were used as models.

During the course of our recent expedition in Ladakh, we have discovered ancient murals at two sites namely

Saspol near Leh and Karsha in Zanskar which are very important in relation to the history of painting of the 11th century in Ladakh and these sites are contemporary to famous Alchi monastic complex built by Rinchen-bzang-po. On the basis of paintings we can assert that it might have been done under the auspices and direction of Rinchen-bzang-po,

HIGH LIGHTS

SASPOL–Saspol was an important station on the caravan route from Kashmir to Lhasa via Leh and was used as trade route to Central Asia through Yarkand and kashgarh. Saspol is situated on the right bank of the river Indus, 62 Kms down to Leh. On the northern hill there are ruins of an ancient castle called Alchi-mkhar-Gog. Opposite to the castle across the river Indus lies the famous Alchi monastic enclave known for its beautiful Indian murals. We have noticed sevaral cave-dwellings near the ruined castle, out of which three bear ancient wall paintings and one among them bears magnificient murals which are in a good state of preservation. These murals illustrate scenes of Jataka stories, Buddhist divinities and secular life in beautiful manner. The features and characteristics found in the paintings bear close resemblance and bring them close to Lhakhang-Soma temple of Alchi complex. But cave murals are not as fine as those of Tsum-tsek (tiered) temple of Alchi complex which was constructed by Rinchen-bzang-po about 1000 A. D. the style of paintings suggest somewhat later date than that of Tsum-tsek but contemporary with the 12th century. There are however, a few panels which reveal a close resemblance to Ajanta paintings, althogh the draftsmanship is as good as in Tsum-tsek temples. We are of opinion that the artist who initally painted the Lhakhang-Soma temple subsequantly painted the caves as well.

An interesting example of murals shows a goddess with a sensuous figure rounded full bosom, sweeping curves

of hips, narrow slender waist and gesture of hands which are distinctive features of Kashmiri style. Modelling of figure is portrayed in a lovely manner with the help of brick red, yellow, and blue colours, the plasticity is very much raised by the marvellous use of colours in different grades and shades of yellow, blue, green and red. Black and brown colours are used for outlines.

The figure is executed in an elegant and supple posture in *tribhanga* (pose of three bends) and combination of modelling, well shaped limbs and rhythmic flow in the line drawings are the main characteristic features of 10th–12th century paintings.

Another example of this cave is an elaborate painting of a royal couple seated on separate thrones. Evidently, these few panels are done by the sensitive and expert hands of the master painter, probably from Kashmir. This panel is very close to Ajanta in composition. The artist has tried to show a careful play of light and shade by the help of colours to produce depth. The typical element is farther eye (projecting eye) out of the profile line of a half turned face. (see plate–1)

KARSHA

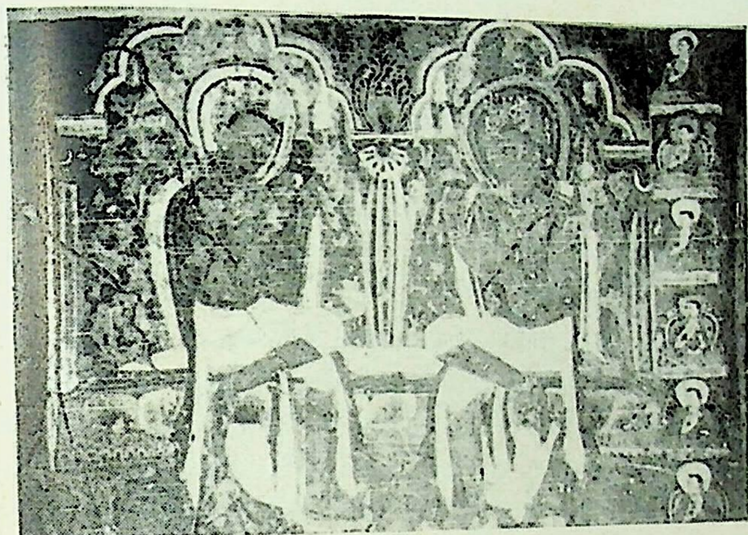
Another discovery of ours falls at Karsha in Zanskar valley. Karsha is the biggest monastic complex and village of Zanskar situated on the left bank of Doda river a tributary of Zanskar river opposite to Padam-subdivisonal headquarter of Zanskar. The Zanskar valley is secluded and engirdled by gigantic snowy mountains of inner Himalayan range. Like all high Himalayan countries it is approachable by foot-paths winding their way through high passes of great beauty and grandeur but equally hazardous, passes through the high mountains covered with permanent glaciers. . . . .

Although Rinchen-bzang-po's specific routes of travel are not known, he paid three visits to kashmir from Guge. Most probably he travelled through Zanskar and Kistwar to Kashmir for borrowing the services of Indian craftsmen and scholars for Western Tibet..

Karsha and Sani are the most ancient settlements of Zanskar. Dr. A. H. Francke in his book "A history of Western Tibet" states that Rinchanbzang-po, the great translator on his way back to his homeland Guge after being educated from Kashmir stayed at Sani with his party of Indian craftsmen and scholars. They built a monastery at Sani and decorated it with murals, but some paints remained; they resolved to make use of it by painting other monasteries at Sumda, Alchi and Mongyu. Karsha was an existing village in the neighbourhood of Sani so there is a probability that he might have halted at Karsha during his travels and directed to paint temples at Karsha. On the basis of Dr. Francke's observation we are of opinion that the oldest temple of Karsha Labrang-khar-bo was painted in the time of Rinchen-bzang-po. Local tradition also attributes Rinchen-bzang-po as the builder of two ancient temples and some Chortens of Karsha; but the antiquity and style of paintings of one temple suggest the date of construction during the period of Rinchen-bzang-po or a little later.

These wall paintings are exclusive in their style. It is purely Indian style of the 11 the century which was prevailing in Kashmir and other Himalayan foothills in those days. In the case of Alchi, paintings were renovated in Indo-Tibetan style in the 14th and 15the century, so there are two phases of style; but in Karsha paintings are surviving in original state.

Usally the composition of illustrations follow a certain schematic principle of balance; main divinity always relatively longer, standing or seated in the centre and flanked on



PLATE–1



PLATE–2

either sides by lesser divinities. In the illustration of goddess with her typical Indian costume-Dhoti, Dupatta; Jewellary; Tribhanga Mudra; (triple flexion of body) and gestures of hands (Varda and Abhaya) above all the linear draftsmenship suggest a strong Indian origin. (See Plate–2)

The colour modelling of the body stresses over the smoothness and curvature of breasts, hips and fleshy contour of abdomen. The source of inspiration of these paintings may be datable around the 11th century and possibility of drawings by Kashmir artist cannot be denied. Colour modelling is an important feature of the paintings. This is more obvious in the representation of female figures; chiaroscuro effect is well produced by gradations of different colours. Plasticity and sensitivity of fingers, ovailod face, slender and supple body with fine treatment of flesh remind us of an art distantly related to Ajanta and Karnataka in which regional style is predominantly depicted. Blue, Yellow, and Indian-red colours are used in background against which figures are painted in green, blue, red, yellow and pink shades.

The subject of paintings is related to Buddhism, scenes are arranged in groups which show monks, gods, female divinities and asuras. Scenes from Buddha's life portrayed as preaching to his devotees, seven steps on lotus etc., are beautiful narrative illustrations with an architectural and landscape background.

The paintings require a meticulous preservation; some panels are badly damaged, their colours are gone, plaster has started chipping off and equally washed by dripping water.

CONCLUSION

These findings are the documents of history of painting in Ladakh and have illustrativelly grafted a new theme and style. Stylistically, theses paintings are an offshoot of

Kashmiri painting which were transplanted in Ladakh and had its roots in Bihar, Bengal and Central India. These findings bridge the gap between two phases namely early Indian paintings and later Ladakhi or Tibetan paintings which were derived and developed from the earlier style. Although Alchi represents elegant exemples of Indian murals, it is blend of different styles of different periods. In contrast to Alchi paintings, cave paintings of Saspol and murals of Karsha are still surviving in their original state. These paintings appear to have been done in one attempt sometime in the 12th century. The Karsha murals draw attention towards their exclusive style and bear a clear stamp of pala style of Bangal of the 12th century which suggests presence of Bengali artist in the craftsmen group taken by Rinchen-bzang-po to Western Tibet.

———

REFERENCES :

1. Bamzai, P.N.K, "A History of Kashmir," Metropolitan Book Co., New Delhi, IInd Edi, 1973, p. 96.
2. Francke, A. H., "Antiquity of Indian Tibet", S. Chand & Co. (Pvt) Ltd, Edited under the authority of the Government of India, reprinted 1972, Vol I, p. 82
3. *Ibid* P. 67
4. *Ibid*, P. 16, 33, 35, 37, 40-41, 46, 50, 52, 78, 82, 86-89
5. Francke, A.H, "A History of Ladakh", with critical introduction and annotation by S. S. Gergan & F. M. Hassnain, Starling publishers (pvt) Ltd New. Delhi, 1977, P. 87.

The present research paper is based on the discovery, the authors made in summer 1978, while they were in Ladakh, in connection with their Ph. D, dissertations,

A STUDY OF KITCHEN HYGIENE IN THE FOOD ESTABLISHMENTS AT I. I. T., KANPUR

A. SHUKLA,* RITA GUPTA,** R. R. GUPTA***

Contaminated Food from the kitchen is known to be one of the causes or the Chief source of producing illness in human beings. It is therefore important to adopt hygienic procedures in the kitchen. The need for kitchen hygiene is universal. Model public health act (1955) of the Government of India for restaurent and eating places refers to proper location, provision of adequate lighting fly proofing and facility for proper storage of food, There should be provision of cleaning utensils and crockery in hot water followed by dis infecting faeilities. Similarily there should be a good provision for a retiring place, for food handlers so that they may not sleep in the kitchen. Longree (1967) stated that the presence of flies, rodents unclean food equipment etc., may spread food borne illness.

The W. H. O. expert committee (1956) mentioned that the bacteria may be conveyed by utensils. Freizer (1958) noted that unless the equipment that comes in contact with food is adequately cleaned. it may be an important source of contamination of food. Parry (1969) observed that the

* *Dr. Mrs. A. Shukla, Head, Deptt. of Home Science, B. H. U. presently working as Visiting Professor & Director, Insti. of Home Sci., Kashmir Univ., Srinagar.*

** *Km. Rita Gupta, research Scholar, Deptt. of Home Sci., B.H.U.*

*** *Shri R. R. Gupta, Social worker, G.S.V. M. Medical College, Kanpur.*

utensils and crockery, used by different people, If not washed thoroughly may affect the other users, A common and undesirable kitchen habit is to forget about the periodic cleaning of kitchen equipments and gadgets. In general, the prompt cleaning of the equipment and its immediate surrounding is of paramount importance.

Material & Method :

The present study was conducted in the food establishments of I. I. T. Kanpur by the researcher. The kitchen maintained by different food establishments, in the campus include, faculty restaurant, canteen, and messes in each of the seven hostels of the Institute. These food establishments employ cooks, dishwashers, bearers, helpers and others (For miscellaneous work). The Majoriry of them were less than 30 years of age, illiterate, untrained for their jobs and working for the last 4-6 years. The source of water supply was tubewells. Water was chemically treated before being distributed. The whole area was provided with underground drains and seweage pipes.

During the study information regarding personal habits, health status of the workers and kitchen hygiene with special reference to material and method used for washing, utensils, frequency and place of cleaning, utensils, insects and rodents in the kitchen and bacteriological examination of swab's taken from washed utensils was collected.

Observations and Discusions :

Of the total workers engaged in different food establishments included bearers (46.95 percent); Cooks (15,65%). dishwashers (5.22%) helpers (16.95%) and others (15.23%), In these workers while at work certain unhygienic habits were observed, the prominent were spitting, wiping of nose, licking fingers before touching food, arranging hairs, scratching body parts, (30.3%) workers had

more than one unhygienic habits. The habit of starting work without washing hands after touching body parts and recovering utensils from the floor were found in 62.5% food handlers. Dorling (1942) observed that these unhygienic habits may cause food borne diseases in consumers.

It was further observed that these unhygienic habits in workers had no relationship with the educational status of the workers.

Table No. 1

Previous history of Diseases in workers of Food Establishments :

History of diseases.	Cook,	Dishwasher.	Bearer.	Helper.	Other.
Typhoid	—	1	1	—	1
Paratyphoid	1	1	3	—	1
Cholera	—	—	1	—	1
Diarrhoea	11	3	32	11	9
Dysentry	6	2	36	7	16
Furunculosis	21	5	63	5	15

Many of the workers (35.21 percent) in different food establishments gave the history of recurrent furunculosis; in (8.6 percent) of the workers the skin lesion were present at the time of clinical examination. These workers were verlnerable for causing staphylococcal food poisoning in the consumers. Previous history of diarrhoea and dysentry together was observed in 40.97 percent of the cases. Of these workers majority had unhygienic habits including scratching of body parts. Although less number of cases with previous history of typhoid and cholera were observed but these may act as carriers and thus be dangerous.

Besides having previous history of disease, 50.0 percent of the workers were found with one or more than one com-

plaints at the time of study, 43-48 percent had symptoms pertaining to Gastro-intestinal tract, 30.43 percent had respiratory sysmptoms and 17.4 percent had skin infections.

Other source of contamination of food in food establishment may be the utensils. Although the design, construction and material used for crockery and utensils are important in maintaining good hygiene, but even if the material is good it may prove hazardous if the utensils are not cleaned properly and bacteria are allowed to grow. The well cleaned utensils may also be recontaminated by an unhygienic worker in the kitchen. The observations on the hygiene of the kitchen utensils are given in Table no. 2 and 3.

Table no. 2

Material used by workers for Cleaning Utensis :

Material used for Cleaning.	Category of workers. Cook	Dishwashers.	Bearer.	Helper	Others
Water only	– (0.00)	– (0.00)	4 (3.7)	1 (2.56)	– (0.00)
Ash	3 (8.33)	3 (25.00)	2 (1.85)	2 (5.13)	1 (2.86)
Soap or Vim.	18 (50.00)	5 (41.67)	90 (83.33)	21 (53.85)	25 (71.43)
Soil	15 (41.67)	3 (25.00)	8 (7.41)	15 (38.46)	6 (17.14)
Others	– (0.00)	1 (8.33)	4 (3.71)	– (0.00)	3 (8.57)
	36 (100.00)	12 (100.00)	108 (100.00)	39 (100.00)	

In the present study it was observed that the utensils were cleaned mostly by soap and vim in various food esta-

blishments, only 25.0 percent of the dishwashers and 38.46% of the healpers used soil. Higher percentage of the workers were using soap and vim for cleaning the utensils might because of better supervision in the establishments.

Table No. 3

Result of Bacteriological Colony count. in swabs from utensils.

Place of Work,	Colony Count								
	Unto 50		50–100		100–150		Above 150		Total
	No	5%	No	5%	No	5%	No	5%	No
Hall–I	1	16.67	4	20.00	9	13.64	0	0.00	14
Hall–II	0	0.00	5	25.00	9	13.64	0	0.00	14
Hall–III	1	16.67	4	20.00	8	12.12	1	12.50	14
Hall–IV	0	0.00	0	0.00	13	19.70	1	12.50	14
Hall–V	0	0.00	1	5.00	7	10.61	6	75.00	14
Girls Hostel	0	0.00	2	10.00	1	1.52	0	0.00	3
Canteen	1	16.67	1	5.00	5	7.58	0	0.00	7
Visitors Hostel	3	50.00	1	5.00	6	9.00	0	0.00	10
Restaurent	0	0.00	2	10.00	8	12.12	0	0.00	10

Further study of the utensils was made by taking swab specimens for bacteriological examination, from cleaned utensils just before using them for service. For the purpose swabs were taken from inner and outer surface of the cups, glasses to a depth of 5 cms below the brim 1 inner and outer surface of the plates in contact with food, The 4.5 public health service standard, based on the swabbing and standard plate count technique allows a maximum of 100 colonies for utensils cuttured. Higher counts are presumptive evidence of inadequate cleaning or contamination by workers.

In the present study in all 100 swabs from utensils used in different food establishments were taken for testing for colony 100-150 and 20 in the range of 50-100. Swabs showing

colony count below 50 and above 150 were 6 & 8 respectively. This high percentage of swabs showing colony count above 100 might be mainly due to recontamination of the utensils by the infected workers or lack of proper cleaning of the utensils.

Besides colony count, swabs from utensils were tested for the presence or absence of coliform Organisms and positive results were seen in 27 samples indicating faccal contamination. The findings of the faccal contamination was in conformity with the findings of Freizer (1958).

Thus the present study confirms the existing belief that even though, how best is the supervision in food establishments, the employment of untrained and illetrate workers in them is hagardous from the view point of health of the consumers. The slightest negligence on the part of the workers, in the food establishment, in observing hygienic standards in respect of themselves and as well as the equipment, may be responsible in transmission of infection to the consumers.

In order to attain hygienic standards in food establishment it is essential that pre-employment medical check-up and repeat medical checkup should be carried out pathological investigations of the workers should also be done. They should be properly educated and trained in kitchen hygiene, before they actually start working in the establishment. In addition to these the supervision by frequent checking is also important.

Another important aspect of the kitchen hygiene : is the mental aspect of the workers. Each of the workers in the food establishment be provided with adequate uniform, residential accomodation, good wages and future security which may act as an incentive for a worker and thus prevent frequent change over.

Summary :

A study was undertaken in food establishment of Indian Institute of Technology, Kanpur in order to know the standard of kitchan hygiene. Different food establishments within the campus included messes, canteen and restaurants and employed workers for the purpose of cooking, serving and cleaning utensils. These workers in majority belonged to younger age group, were untrained in their job and illiterate. Most of the workers, while at work, were observed to have unhygienic habits of ali the workers 35.21 percent gave the history of recurrent feruncu-losis. 40.97 per cent had sufferred from diarrhoea and dysentery during their period of stay in the food establishment.

Although the utensils were washed with soap and vim by majority of the workers, still 74 percent of the swabs taken from different type of utensils on bacteriological examination showed colony count above 100. 27 percent of the swabs were found positive for caliform organisms indicating contamination of the utensils by the infected workers.

REFERENCES :

Government of India (1952); Planning Commission, New Delhi, First Five year Plan.

Government of India (1956); Planning Commission; New Delhi, Second Five year Plan. (1956).

Venkatachalam, P.S., et al (1966) I.C.M.R. Special Report Series No. 41, 1966.

A Chandra—Introduction to Home—Science, Metropolitan book Co: Pvt: Ltd:, New Delhi: F......1928:

Editor's note :— This article is being published in view of its possible implications for the Hostel messess in the University Campus. Many of the problems discussed in this article have general applicability to all educational institutions. It is hoped that the students and staff concerned with hostel kitchen arrangements in the campus would benefit from this article.

NATURE AND DESTINY OF MAN

(In the light of *Acarya Sankara*)

DR. BHAGWANT SINGH*

Man is born in the universe with finite relations of father, mother, brother, sister, mine and yours and hence, he identifies himself with his body senses etc. He is quite unconscious about the ambiguities of his life and its existential situation. He is, generally, unaware of the fact that he is not confined merely with his body and senses but is identical to the absolute-Reality, Brahman himself.

The nature of man may be studied in two senses-existential and the essential, The existential nature is the nature of all worldly-men who are suffering from *ajnana* and who are not conscious about their essential nature. The essential nature of man is *Atman* (Self), Spirit itself. According to existential point of view the self, with its adjuncts, is called *Jiwatman* which is taken to be the agent and enjoyer whice aquires merit and demerit and experiences pleasure and pain[1]. He thinks himself to be the *bhokta*, subject to attachment and hatred etc. But the same Self, when viewed in the light of essential nature, is the transcendental Self (*Atman*) which is completely free from all sorts of limitations and bondage. The realization of such a transcendental Self is the destiny of man which cannot be attained so long as he is suffering from *avidya.*

Under the conditions of existence man is governed by the law of *karma*, by the cycle of birth and death and by *avidya* and *adhyasa*. Above all this finitude is due to *avidya.* The individuality is due to *karma*, which is a product of *avidya* itself. *Karmas* involove men in the time-process and

* *Deptt. of Philosophy, B. H. U.*

detach them from their essential nature. The kind of world into which we are born is just the return of the works on the doer (*Kriya Karaka-phalam*). To be free from the law of *Karma* means to come out of the bonds of *avidya* which is not possible so long as man is suffering from his finitude. In his existential life man suffers from the cycle of birth and death. He finds himself heading towards death and knows it as something inevitable. In spite of this he has a keen desire to live long and hence, he refuses to submit himself voluntarily and gracefully to death. This is the contradiction in which man's life is involved, But the fact behind this is that due to *avidya* man is unable to come out of the contradiction of life and to recognise his own essential nature,

Actually, man is neither subject to *Karma* nor he is *Karta* and *bhokta* nor the sufferer of birth and death. All these categories are superimposed on him by *avidya.* This problem of *avidya,* the error of confusing the self with not-self, is not only common but is almost natural and beginningless. It is the basis of all our experience and of all our knowledge of things, "We first confuse the self with the not-self", Says Professor Malkani, "and then we function with the body and the mind and make use of various methods of knowledge. At the root of all knowledge, thus, lies the fundamental error of mutual superimposition or *adhyasa* of the diametrically opposed entities."[2]

Maharsi Vasistha also indicates towards the conditioned status of man's existence and says that all this is due to mental categories. He asserts that after the purification of *mana* the *antahakarana,* there will remain no duality between conditioned and the unconditioned Reality.[3]

Thus, we conclude that the empirical life of *jiwatman* is solely due to *avidya.* Here, it naturally follows that *Moksa*

or liberation can be attained only by the removal of *avidya* or *ajnana.* But the question remains : How can *avidya* be removed ? *Sankara* asserts that *avidya* or *ajnana* can be removed by *jnana,* the right knowledge; knowledge of the non-duality only. The knowledge of Reality does nothing more but it removes the *ajnana* only and then, Reality shines forth by itself then and there. Right knowledge displaces the erroneous identification of self with its adjuncts. This change has to be effected not in the world of being but in the world of thought only. *Avidya* effects only our notion of knowledge and not the Reality itself. It is ever-accomplished (nitya-siddha-sva-*bhavam*). That is why when right knowledge removes *avidya,* Reality shines forth by itself, as stated above. Madhyamikas also hold that *sansara* and *nirvana* are the same but our viewpoints in both cases are different,[4] "The universe, when viewed as a process of causes and effects, is called *sansara* but when these causes and effects are disregarded, the same is called *nirvana*[5]

Now, the question is : How can right knowledge be received ? Can it be received through reason ? *Sankara* holds that reason operates only in the domain of our practical life. It analyses and evaluates our experience i.e. perception, illusion etc, and maintains a distinction between them. It distinguishes right knowledge from that of false knowledge. It tries to give a systematic interpretation of the statements of *Srutis.* As critical and dialectieal reason it refutes the views of the opponents and, ultimately, demolishes the whole structure of the phenomenal world. So, the dialectical criticism of *dvaita* leads to *Advaita. Srutyanugrihita tarka* speculates and points to the absolute-Reality or Brahman which is finally realized in the state of intution or *Anubhava.* Thus, it paves the way to intuition.

Here; we find that the practical life is not, at all, useless. It constitutes a way to liberation or *mukti* which is the

end or destiny of man. Jain philosopher Kunda Kunda also holds the same. He also takes *vyavahara* as a preparatory condition for *paramartha* or *niscaya*.[6] We find a close resemblance, in this context, between the viewpoints of *sankara* and *Nagarjuna* also, *Nagarjuna* hold that apart from *vyavaharika satya* the *paramartha* (noumenal or absolute-Reality) cannot be attained.[7]

Thus, we observe that complete realization of the real nature of Self (*Atman*) is possible through *jnana* only. *Dharma* and *Karma*, in this context, can do nothing because it is *vastutantra* and eternal (*kutastha nitya*) whereas *dharma* and *Karma* are *purushatantra* and hence, transitory. This realization of oneness with Reality is the destiny of man[8] which, in the philosophy of Sankara, is called *Moksa*, It is the ultimate end of all the Vedic assertions and spiritual prescriptions. *Moksa* is the state of Brahmanhood.[9] As a matter of fact the realization of Moksa is not the attainment of something new but it is the realization of that which is one's very nature. It is *praptasya praptih. Sankara* never pleads about a heaven which is apart from us. He ever asserts a heaven which is already with us but has been forgotten by us for the time-being. So, it is a process of being Brahman and not of becoming Brahman. I, in this context, would like to quote some lines from Dr, Deussen's work, "Accordingly in liberation there is no question of becoming something which does not already exist, but only of the attainment of the knowledge of what has existed from all eternity."[10]

In the Advaita-Vedant a of *Sankara Sravana*, *Manana* and *Nididhyasana* are the means to the real knowledge.[11] These are the means through which we can attain our destiny. But a genuine question arises, here : can anyone attain the real-knowledge through *Sravana*. *Manana* and *Nididhyasana ?* Sankara says-no. He lays down four-fold requirements[12]

which are necessary to be possessed for the study of *Vedanta*—

A. *Nityanityavastuviveka*,
B. *Ihamutrarthaphalabhogaviraga*,
C. *Shamadamoparatititiksa*, and
D. *Mumuksatwa*.

According to these requirements the person concerned must have (A) ability to discriminate between the eternal and the non-eternal; (B) freedom from desire for securing pleasure or avoiding pain, here or elsewhere; (C) calmness, temperance, the spirit of renunciation, fortitude, the power of concentration of mind, faith; and (D) keen desire for liberation.

So, we conclude that after fulfilling aformentioned requirements *Mumuksu* becomes able to study the Vedanta and then he follows *Sravana, Manana* and *Nididhyasana*. Let these terms be explained here. The hearing of *Vedanta*-texts purposely for the realization of non-duality of Brahman is called *Sravana*.[13] First of all *Mumuksu* hears the *Vedanta*-texts through a learned teacher or *Guru* with a keen interest to have a realization of absolute-Reality, But mere hearing of the texts or *Sravana* will pay nothing to *Jijnasu* because without *manana* or reflection through *tarka* there will be no stability in his *Sravana*. Manana is mental activity. It is reflection through *tarka* to eliminate confusing elements in the pathway of understanding the right meaning of Sravana.[14] After *Manana* there comes *Nididhyasana*. Now, *Jijnasu* attaches his mind (*chitta*) in the eternal, undecaying, one without second and absolute-Atman after detaching it from temporary and *vasanotpadaka* objects.[15] He thinks and reflectects so much about Brahman that he himself becomes Brahman. So, *Mumuksu*, after a proper exercise, recognizes himself and hence, becomes identical to Absolute Brahman. Now *Jijnasu* comes to know that he is not merely an object among other

objects of the world just produced and after sometimes destroyed but is identical to the Reality itself and hence, enjoyes the everlasting pleasure of Brahmanhood. Then, he feels that his essential nature is beyond the empirical coverings of the nature. He, now, recognizes all those elements that made him *Jiwatman* and feels that all such coverings are *mithya* and he [Self], Atman or Brahman only is real.

Now, a question arises : Has liberation become complete ? Not yet, holds Sankara. It is only *Jiwanmukti* as *Sankara* believes in two types of *Moksa* or *mukti-Jiwanmukti* and *Videhamukti*, Even after *Jiwanmukti*, holds *Sankara*, *Jiva* will continue his bodily existence on account of fruitful-*karmas* done earlier just like Potter's wheel which goes on revolving even when the vessel by which it was being pushed is withdrawn. Right-knowledge burns only the seed of works so that no material can be found to cause rebirth. But it cannot annihilate those works which seed is already germinated i. e. those on account of which the present life is going on. So, it is clear that after *Jivanmukti*, the action and *Karma* of future time of life (before death) will not affect the release. At death the physical body is cast off and the freed Soul attains *Videhamukti*. But death is possible only after the complete end of fruitful *karmas* because only due to them the bodily existence, even after *Jivanmukti*, was going on. Now, man is finally and completly liberated and reached his destiny.

REFERENCES

1. *Sariraka Bhasya*, I.2.8.
2. Malkani. G. R. : Metaphysics of Advaita-*Vedanta*, 1961, p. 78
3. Chakravarty, K. C. : *Yogavashisthasar*, *Section* 10, p 197.
4. *Madhyamika Karika*, XXV. 19.
"na *sansarasya nirvanat kincidasti visesanam,*
na *nirvanasya sansarat kincidasti visesanam,*"
5. *Madhyamika, Karika* XXV, 9,
"Ya *ajavam-Javibhava upadaya pratitya* va,
so *pratitya, nupadoya nirvanamupadisyate.*"

6. KundaKunda. : *Samayasara*, page Introduction-cli.
7. *Madhyamika Karika*, XXIV. 10,
"*vyavaharamanasrtya* parmarth na *desyate*."
8. *Taittiriya Upanisad*, II. 1. 1, : "*Brahmavidapnoti* param
also. *Sariraka Bhasya*, 1. 1, 1, : *Brahmavagatirhipurusarthah* "
9. *Sariraka Bhasya*, I. 1. 4. : "*Brahmabhavasca* moksah",
10, Deussen, Paul : The System of the *Vedanta*, p, 401.
11. *Vedanta Paribhasa*, translated by *Vidyanandajijnasuh*, p, 424
"*Sravamanananididhyasananyapi jnanasadhanani*"
also, *Brhdaranyaka* Upanisad, II, 4, 4,
12. *Sankara Bhasya* on *Brahmasutra*, I, 1, 1,
also, *Vedanta Paribhasa* p, 434.
13, *Vedanta Paribhasa*, p, 425.
14. *Vedanta Paribhasa*, p, 425.
15: *Vedanta Paribhasa*, p, 425:

———

THE GREATNESS OF THE NOVEL AS AN ART-FORM

(The Views of D. H. Lawrence and Albert Camus)

Dr. K. C. SHRIVASTAVA* AND G.D. MEHTA**

In the twentieth century, some of the great literary figures have written about the greatness of the novel as an art-form, It is rather surprising that the writers coming from different cultural milieus should hold almost the same opinion about the novel. This is apparently explainable because the novel has a universal appeal as literature and reading material. Albert Camus,[1] the French Nobel Prize Winner in Literature in 1957 who belonged to a set of luminary intellectuals in France during the post-1930 period and who took a leading part in the French Resistance Movement during the Nazi occupation of France in the Second World War wrote in the same refrain on the potentialities of the novel as D. H. Lawrence, one of the most remarkable literary figures of the twentieth century English literature, did in his own days, Their views on the novel, its potentialities and the challenges it faces coincide because of the fact that the former being a rebel and the latter being an exiled citizen, having spent a major portion of his creative iife outside England, fought tenaciously against the false values of their times and came to bear some broad conclusions upon life and letters which have universal validity. It is against this background that an attempt is being made to show that these two literary men of courage and distinction set a great store on the novel and its potentialities beneficial for modern man for some very valid reasons.

---

* *Senior Lecturer,* ** *Research Scholar,*
Department of English. Agra College, Agra.

D. H. Lawrence recognised the importance of the novel as an art-form and at the same time, he also knew how difficult it was for a novelist to harmonise the multi-dimensional facets of reality with his philosophy of life.[2] According to Lawrence, the novelist has to bear a heavier responsibility than a poet, a philosopher, a scientist or a saint because he has to cover a greater canvas of reality than these creators in the realm of art, philopsohy, science and religion. The entire canvas of many-hued manifestation in this world is the novelist's field. This is how Lawrence assesses its great merit : 'The wind bloweth where it listeth, and auras will be red when they want to'.[3] In plain language, the novel provides a greater scope for representation of life and reality than other creative disciplines like poetry, philosophy and science, It correlates man in the circumambient universe and helps him in identifying his felt and unfelt desires and impulses.

Albert Camus also stressed the importance of the novel as an art-form. Being a keen observer of life and letters, Camus knew that man in his elevated awareness seeks a better life not in terms of material co-efficients but in a deeper sense. Albert Camus has argued that the novel is important because if a novel is a good one it helps readers in fulfilling their deepest urges of life. He has maintained a line of argument that there is a lurking desire in every man to seek some from of order and harmony in his life, and in this great adventure, the novel can help him a great deal. His views on this aspect of human life in the course of his reflections on the novel and its problems and the challenges a serious-minded novelist has to face are worth quoting :

> There is not one human being who, above a certain elementary level of consciousness does not exhaust himself in trying to find formulae or attitudes which will give his existence the unity it lacks. Appearance and action, the dandy and the revolutionary, all demand unity, in order to exist on this earth. In those

> pathetic and miserable relationships which sometimes survive for a very long time because one of the partners is waiting to find the right word, action, gesture or situation which will bring his adventure to an end on exactly the right note...... It is not sufficient to live, there must be a destiny which does not have to wait on death...... This passion which lifts the mind above the commonplaces of a dispersed world, from which it nevertheless detatches itself, is the passion for unity.[4]

The average man falters in his realisation of a higher unity in his life; even as it is true, he all the while gropes for some form of finality and harmony through the various cultural and religious activities. It is here a good novel can show him a suitable pathway. A worthy novel helps a man in realising his deeper ambitions and impulses in a quiet and dignified manner. Both D. H. Lawrence and Albert Camus concur on this score, This is primarily because they recognise the value of phenomenal reality and also know that a true novel is able to take into account thc phenomenality of life given to unpredictable turns and quirks.

At one stage in his deliberations on the various problems of life, literature and history, Albert Camus says that to exist is to rebel.[5] This is true in terms of heightened awareness and is also borne out by the fact that the actual reality does not remain acceptable for long to human organism. The human being willy-nilly feels disenchanted with the selfsame reality after a lapse of time. It is also equally true that in comparison to the average human being, the mind of a novelist is more easily susceptible to the spirit of change and rebellion owing to his sensitiveness to the dynamic spell exercised by the innumerable forces emanating from the circumambient universe as well as from within himself. By rendering the ordinary matter-of-fact drab reality shine

with a magical shimmer through the medium of good prose, the novelist is able to make his readers aware of the subtle changes taking place around them. When in rare moments the rsader's sensibility gets awakened on reading trenchant observations in a novel, he is able to establish a rapport with the fleeting life and its deeper impulses.

Similary, D. H. Lawrence also makes a very pregnant observation in *Lady Chatterley's Lover* wherein the heroine out of the feelings of suffering and attendant boredom remarks that if we cannot realise the ideal. We can at least idealise the real. Even though this exclamation has a romantic tinge, it explains away the typical human dilemma in the face of actual reality in a succint form. The craving for an ideal is nothing but a latent desire for change and the change for the better. Hence, the romantic longing for ideas and ideals one after another. Unless a man has gone completely a deed wood, he would at one stage or another try to seek a change in the slipshodic mode of existence to which he is condemned by fate in a given historical sitution. Man in a state of *Dasein*[6]—to use the meaningful expression of Martin Heidegger—is a mere cluttered-up thing, not a living being. In this background, a good novel can act as a catalyst for the recovery of vision and life in man. The novel enables a reader to experience a sense of unity and direction which one somehow misses in actual existence. The novel derives its moral fibre from the metaphysieal passion for unity which the mind of a matured novelist is imbued.

> What, in fact, is novel but a universe in which action is endowed with form; where final words are pronounced, where people possess one another completely and where life assumes the aspect of destiny ? The world of the novel is only a rectification of the world we live in, in pursuance of man's deepest wishes.[7]

Lawrence in his observations on the novel also lays emphasis on the unique importaoce of the novel for man provided it has not degenerated into a didactic document. If the novel is a real one, it can be a very significant instrument for opening new pathways of human sympathy and passional awareness between man and woman and between one man and another.

> It is the way our sympathy flows and recoils that really determines our lives. And here lies the vast importance of the novel, properly handled. It can inform and lead into new places the flow of our sympathetic consciouseness, and it can lead our sympathy away in recoil from things gone dead. Therefore, the novel, properly handled, can reveal the most secret places of life, above all, that the tide of sensitive awareness needs to ebb and flow, cleansing and freshening. But the novel, like gossip, can also excite spurious sympathesis and recoils; mechanical and deadening to the psyche. The novel can glorify the most corrupt feelings, so long as they are conventionally 'pure'. Then the novel, like gossip, becomes at last vicious, and, like gossip, all the more vicious because it is always ostensibly on the side of the angels.[8]

So Lawrence knows what are the redeeming features of a good novel and what are the factors which make it vicious. Lawrence has also stated that 'the novel is a great discovery far greater than Galileo's telescope or sombody else's wireless. The novel is the highest form of human expression so far attained.'[9] The novel can help man in realising his 'ontic bearings.'[10] It can pryvide the very *raison d'etre* for man provided the reader listens mindfully to the whisperings and intonations of a good novel.

Even as the novel has a destined role to fulfil, it is expected of a novelist not to betray his calling by compro-

mising with his freedom. Besides, much depends also on the capacity and capability of a novelist in fusing the desparate elements of life and in giving an enlightened interpretation of the inner and outer reality of man. In this context, both the eminent men of letters have stated that the novelist should not go life-dry by being obsessed either with the dialectics of form or with considerations of an ideology. To Lawrence, the novel is a representational and imaginative account of an author's feelings, failures, frustrations, longings, triumphs and achievements. He should be authentic to his deeper impulses and should not spoil his creative elan by didacticism and philosphical predilections.[11]

Further, formalism and such other movements like 'art for art's sake' weaken the sinews of novel because being the mirror of life in all its limpidity and variety, it gets either anaemic owing to lack of life or gets hooked to some exclusive viewpoint where by it is deviated from its central purpose as a testament of life and reality.

> Art disputes reality, but does not hide from it. Nietzsche could deny any form of transcendence, whether moral or divine, in saying that transcendence drove one to slander this world and this life. But perhaps there is a living transcendence, of which beauty carries the promise, which can make this mortal and limited world preferable to and more appealing than any other.[12]

Since there is a close relationship between life and literature, it is desirable for a novelist not to hide from the reality, but to make it broader, deeper by extending its areas in unexplored regions so that he redeems the world not only for himself but also for his readers. The greatness of a novel arises because of the freedom its form offers for an

imaginative novelist. The stance of relativism that a matured novelist is able to bear upon enables him to do justice to anything and everything from heaven to earth. Since the novel in the hands of a consummate artist gets unpredictable pliability, its characters can be a source of strength and understanding to a discerning reader.

> Let us learn from the novel, In the novel, the characters can do nothing but live...... To be alive, to be alive, to be whole man alive : that is the point. And at its best, the novel, and the novel supremely, can help you, It can help you not to be dead man in life.[13]

The same point about the unique importance of a novel has been stressed by Albert Camus.

> The heroes speak our language, the illusion, the love are the same. The heroes speak our language, have our weakness and our strength. Their universe is neither more beautiful nor more enlightening than ours. But they, at least, pursue their destinies to the bitter end and there are no more fascinating heroes than those who indulge their passions to the fullest, Kirilov and Stavrogin, Madame Graslin, Julien Sorel, or the Prince de Cleves. It is here that we can no longer keep pace with them, for they complete things which we can never communicate.[14]

In the pages of a novel, one can find the identity of a greater man than what one finds in actual life. In a novel this is made possible because of the mysterious alchemy of an author's imagination. As to why the novelist is able to catch the pulse-beat of destiny and not the average man with an obtuse sensibility, it is gratifying to refer to the trenchant observation of D, H. Lawrence when he says that the novelist in his creative spell is a different being in comparison to

his social personality.[15] The imagination-charged mind of a seasoned novelist carries tryst frequently with destiny which is not at all possible for man in the ordinary situation, Ivan Karamazov in Dostoevsky's Brothers Karamazov has a tryst with destiny when he, as the Grand Inquisitor, carries a thought-provoking dialogue with Jesus Christ; and to this day, the chapter *The Grand Inquisitor* remains a rewarding source of understanding and inspiration for readers throughout the world.

Albert Camus and D. H. Lawrence held to the viewpoint that if a novel fails to convey a sense of direction and reality to the reader, it is the novelist who is to be blamed and not the novel because much depends upon the integrity aud maturity of the novelist in making his fiction as a fitting instrument for the enlightement and regeneration of man,

———

REFERENCES :

1. Albert Camus (1913–1960), the Algerian–born French philosopher, novelist dramatist, journalist who got the Nevel Prise for Literature in 1957 was a bold thinker. Associanting himself with Jean Paul Sartre (d. 1980) who rejected the Nobel prise and who can be called the most brilliant exponent of the modern Existentialist movement, Albert Camus differed greatly from Sartre in his philosophical approach to lIfe and revolution. Between 1937 and 1947 he wrote the novel THE STRANGER (1942), the essay THE MYTH OF SISYPHUS and the play CALIGULA which made him famaus, Other works of Camus are : the Symbolic Novel

THE PLAUGE (1947), plays : STATE OF SIEGE (1948), the JUST ASSASINS (1950), THE REBEL (1951) an essay collection and the six short stories : THE EXILE AND THE KINGDOM (1957). During the late 1950's Camus made and directed stage adaptations of Faulkner's REQUIEM FOR A NUN and Dostoevsky's novel, THE POSSESSED.

2. D. H. Lawrence, *Phoenix*, William Heinemann Lld , London, 1970, pp. 579-80

3 D. H. Lawrence, *Phoenix II*, William Heinemann Ltd. London, 1968, P. 445

4. Albert Camus, *The Rebel*, Hamish Hamilton, London, 1960, p. 231

5. Albert Camus, *The Rebel*, Ramish Hamilton, London, 1960 p. 28

6. 'Dasein' means 'being in the world', according to Martin Heidegger, the leading existentialist philosopher in Germany. He showed the incompleteness of the Kantian and Cartesian approaches to life. In Simple language, 'Dasein' means the human condition in which man as yet remains uncrystallised. In such a situation, he is not an authentic being to speak ontologically. Man's potentiality as a being remains unmanifested so long as he remains a part of 'Dasein', Man must recover his being in historical concreteness to realise his true identity.

7. Albert Camus, *The Rebel*, Hamish Hamiltion, Lodon, 1960, p. 231,

8. D. H, Lawrencs, *Lndy Chatterley's Lover*, Octopus Edition, Heinemann, London, 1976, p. 826

9. D, H. Lawrence, *Phoemix II*, William Heinemann Ltd., London, 1968, p. 416.

10. 'Ontic bearings' means the metaphysical roots of man, ONTOLOGY (Ontos pr. p. of 'einai'—To be plus Logos--Discourse). 'Ontic' is an adjectival derivative from 'Ontos.'

11. D.H, Lawrence, *Phoenix*, William Heinemann Ltd., London, 1970, p. 481

12. Albert Camus, *The Rebel*, Hamish Hamilton, London, 1960, p. 227.

13. D.H, Lawrence, *Phoenix*, William Heinemann Ltd., 1970, pp 537–38

14. Albert Camus, *The Rebel*, Hamish Hamilton, Lodon, 1960 p. 232.

15. D.H. Lawrence, *The Sympolic Meaning*, Centaur Press Ltd., Fontwell, Arundel, 1962, p, 18

———

THE MIDDLE GANGETIC BASIN : A PLACE OF URBAN REVOLUTION IN THE AGE OF THE BUDDHA

ASHOKA K. MISHRA*

The Harappan towns finally disappeared in about 1500 B. C. After that for about 1000 years we do not find any town in India. With the appearance of towns in the middle Gangetic basin (mainly comprised Majjhimdesa[1], the birth place of Buddhism, which chiefly covered eastern Utter Pradesh and Bihar) in the sixth century B. C., a second urbanization after Harappan civilization began in India. At present 62,000 sq. miles[2] of Majjhimdesa are also called a transition zone between the upper Gangetic plains and the deltaic zone of Bengal[3]. The rainfall in this area ranges between 40 inches in the west to 70 inches in the east by which this area must anciently have been more densely forested than the upper Gangetic plains (rainfall is 10" to 15").[4] The colonization of the middle Gangetic basin is affirmed not only by *Satapatha Brahmana*, but also by the hypothesis regarding the development of the PGW into NEPW.[5] The *Pali* texts speak of twenty towns, six of them being associated with the death of Buddha. Archaeology shows a large number of towns in the middle Gangetic basin during this period. At last ten urban sites such as *Champa*, Rajagraha, Pataliputra (though later) *Vaisali*, Varanasi, *Kausambi*, *Kusinagara* and *Sravasti* are attested not only by early *Pali* texts but also by the NBPW archaeology. In addition we may mention Chirand, *Sringaverpur*, Piprahwa and Tilaurakot. Although 450 NBPW sites are

**Department of Ancient Indian History Culture & Archaeology. Banaras Hindu University.*

casually explored in the alluvial tracts of U. P. and Bihar, but if a systematic efforts is done in this region then the figure might push upto 2000 or so.[6]

There is at present no indication, from which direction the first sattlers came in Majjhimdesa, but it is sure that it was the Central zone for the production of NBPW. When C^{14} dating were not in use, stsatigraphically the date of NBPW was fixed in the bracket C.600 B. C. too 200 B. C. but now on the basis of C^{14} dates so far available to show that the NBPW in U. P. ranges between sixth century B. C. to 2nd century B. C., but in Bihar it may be assigned to an early date, both on the basis of stratification and C^{14} dating At Chirand[7] (Saran District) stratigraphically it has been dated around c. 800 B. C., which may also be supported by that C^{14} date (765$\pm$100 B. C.) At Sonepur[8] (Gaya District) also it has been dated between c. 850 B. C, to c. 650 B. C. on the basis of stratification, but C^{14} date was placed it 635$\pm$110 B. C., which support that it belongs to the seventh century B. C., because this sample is rcported from the last phase of NBPW. But C^{14} dates does not allow us to postulate seventh century B. C. for *Kausambi* and eight century B. C. for Mathura for the above of the NBPW as has been done recently.[9] All the three early C^{14} dates of Mathura (610$\pm$150 B. C., 660$\pm$110 B. C. and 730$\pm$150 B. C.) on the basis of sample recoverd from trench 11, carry question mark.[10] It is rightly held by the Mathura excavator that the NBPW phase began in Mathura in Maurya times.[11] So the material remain of the NBPW may roughly be divided into two phases i.e., 700$\pm$400 B. C. and 400$\pm$100 B. C.

While the second phase of the NBPW is marked by the profuse use of NBPW (especially around third century B. C.) more coins, plenty of terracottas, more iron tools, burnt brick structures, occasional tiles and ringwells, the first phase is marked by the absence of burgt brick structu-

res and ringwells and shows less of NBPW Sherds, coins, terracottas and iron tools, although semi-precious stone beads, glass and sometimes ivory objects are also found in this phase. In the second phase the frontiers of Majjhimdesa come to include not only Kuru, *Panchal* and *Surasena* but also Vanga and Kalinga, and extension of boundaries took place in the case of the *brahmanical Madhyadesa* also. The use of iron was the main cause of change in the Meterial and social life of the people of Maijihimdesa by which the thickly forest of the middle Gangetic basin was cleared. It is suggested that clearance could have been carried out with the help of fire. But even when trees are burnt with fire there remains the problems of removing the burnt stumps. In the middle Gangetic basin trees strike roots and cultivation becomes difficult unless those roots are cleared with the iron axe and shade. It is argued that the wooden plough share may have been used in cultivation.[12] But for the type of the hard clayey soil we generally have in the alluvial tracts of the middle Gangetic basin such shares are not effective.

Some indication of clerance and expansion of the new rural economy in Majjhimdesa can be found in early *Pali* canonical texts. Almost in every city visited by the Buddha we find a *vana* rendered by several *Pali* scaolars as grove, but the germ should mean 'forest' which was now only a portion of the larger jungle left uncleared. Most cities associated with early Buddhism are named after some plant. *Kausambi*, *Kusinagara*, *Kusagrapura*, all had something to do with the plentiful growth of *Kusa* grass. *Pataligrama* later called *Pataliputra*, was connected with *Patali* tree, and *Champa* with the campaka tree. *Kajangala* a township, which near Rajmahal[13] and formed the eastern boundary of Majjhimdesa, denotes a place forested. We may further note that forests of *Sala* tree (*Sallavana*)[14] a re frequently

mentioned in early *Pali* canonical texts. Kapilvastua, the capital of *Sakyas*, may have owed its origin to the presence of monkeys, naturally living in the forest and in any case Lumbinivana or the forest of Lumbini was the birth place of Buddha.

The arly *Pali* texts of pre-Maurya time do refer to the use of iron for purposes other than war. The therm *ayanangala* or iron plough share is mentioned in a later *Pali* text.[15] In the prose introduction to sutta of the *Suttanipata* we here of a *Phala* or share being heated the whole day and making a sound when placed in water.[16] However, the hammer (*ayokuta*) is known to the verse portion of *Suttanipata.*[17] An early *Pala*[18] text and *Panini*[19] speak of the ayoghana which was either a hammer or an anvil. Iron ploughsares called *ayovikara kusi* appears in *Panini.*[20] Iron ploughshares also seem to have been necessary for growing sugarcane.[21] In eastern U. P. and Bihar there is evidence for the use of iron foom c. 700 B.C. onwards but so far no ploughshare has been discovered, and iron tools for agriculture are not found in good numbers. Nevertheless this can be explained by ecological grounds. The acid, humid warm alluvial soil of eastern U. P. and Bihar has proved to be hightly corressive. It may be noted that, in the low laying trads of the lower Gangetic plains of eastern U. P., the water table is very high during the monsoons, and is about three metres during the summer season. Water-logging is common in several parts of the middle Gangetic plains. We further learn that the soil belonging to the alluvium found south of the Ganges in Bihar are acidic in the southernmost parts.[22] Naturally the excavated sites of Bihar and Eastern U, P. speaks of the heavily rusted iron tools, many of which have become unrecognizable. The nature of the soil has led to greater oxidization of the tools. It has been pointed out that more a agricultural tools of the NBPW

phase have been fouud in Taxila than in other sites in northern India,[23] but it has to be added that this preservation is due to the dry soil of the area. At Ujjain also the iron implements are better preserved because the soil is comparatively drier than the soil of eastern U. P. and Bihar.

Two socketed iron axes, both of the early NBPW phase and an iron share belonging to the mid-NBPW phase have been fouud in *Kausambi*. One of them is of a large size, but it is heavily corroded. At least we have an axe from Sonpur[24] which may be assigned to c. 400 B.C. As regards the ploughshare, it has been reported in association with the NBPW phase at *Raghuasion*[25] in Vaishali district. Iron slags and objects recovered from Rajghat deserve our special attention. Altogether 100 slags and artifacts belong to early phase of Period II. Iron artifacts show a preponderenee of objects used for hunting, agriculture, artisanal activities and household purpose. In the age of the Buddha, people had come to utilize the richest iron ores of Singhbhum and Mayurbhani.[26] Once the twin advantages of the knowledge of the richest ores of iron and of manufacturing wrought[27] and semi-steel[28] iron became available to the people of the Majjhimdesa, they were certainly in a much better position than the PGW phase people to use iron. The use of iron tools can also be inferred from the large scale wooden structures, found in the from of palisades in Maurya times.

It is aruged that before 300 B. C. no visible change in the material life of the people can be detected on the basis of the archaeological, excavations.[29] Altough at some excavated sites such as *Kausambi, Sringaverpur*, Rajghat, Mason, Prahladpur, Chirand, *Vaisali* Sonepur etc. They are preceded by a horizon of culture represnted by the black-

and-red ware or black slipped ware, but in most cases this horizon is very thin, and the real settlements starts with the NBPW phase around 500 B. C. or so. In chirand howeve, we have three metres of black-and-red ware habitational deposits in several trenches. The end of this phase of this site is followed by the NBPW phase, which starts with ringwells and some burtn brick structurcs in several trenches.

It will not be out of place to mention here that the people using BPW started first urbanization in middle Gangetic plains. Magadha had become one of the centres of artistics, religious and political activites. One of the first indications of these developments is the construction of great new mud or mud brick ramparts as defences for the cities. By contrast the settlements at Hastinapura and most of the early PGW sites aıe really villages, rather than cities. Whatever may be the origin of these cities they eventually turned out to be markets and came to be inhabited by artisans and marchants called setthis. At some placed there was concentration of setthis. Saddalputta a *Vrisrli* had 500 potters shops.[30] Trade was facilitated by the use of punchmarked coins which was stratigraphically ascribed to the fifth century B. C. and may have appeared earlier. More than three hundred hoards of punchmarked coins are known and many of these have been found in middle Gangetic basin. Although certain terms in later vedic literature are not found before the age of the Buddha. Both artisans and marchants were organized into guilds under their respective headmen. We hear of 18 guilds of artisans but only the guilds of carpenters, leather workers, painters and smiths are specified. Both artisans and merchents lived in fixed localities in towns. Thus specilization in crafts developed on account of the guild system as well as localization.

This emergent class may have played an important role in the appropriation of the resources and surplus and also in the foundation of the social order and the State. Most of the sixteen Mahajanpadas had a material background associated with the NBPW culture. With this establishment in Ancient India by about sixth century B. C. the details of India history begin to emerge with greater certainty.

References :

1. Majjhimdesa, Dictionary of *Pali* proper Names, Malalasekra, G. P. (London 1960).
2. Sopte, U. K. and Learnmonth A. T. A., India and Pakistan (London 1966) p. 564.
3. Ibid; p. 564.
4. Ibid; p. 564.
5. Sinha, K. K., *Puratattva*, No. 5 (1971-72) p. 38.
6. Sharma, R. S. 'Material Culture and Social Formations in Ancient India' (Delhi 1983) p. 105.
7. *Puratattva*, No, 4, (1970-71) p. 19-24.
8. IAR 1963-64, p. 45.
9. *Puratattva* No. 9 (1977-78) p. 68-78.
10. IAR 1976-77 p. 88.
11. Joshi, M. C. unpublished paper on Seminar on Mathura (New Delhi Jan. 1981).
12. Puratatattva No. 8 (1975-76) p. 134.
13. Dey. N. L. The geographical Distionary, p. 83.
14. *Digha Nikaya* ii, 134; Majjhima *Nikaya*, i, 124 and *Samyutta Nikaya* i, 157.
15. S. V. ayangola, Rhyo Davids, T. W., Pali-English Dictionary.
16. *Kokalika* Sutta.
17. Ibid.
18. Ayoghana, in the sence of an iron club, occurs in *Udana* p. 93.
19. Agrawal, U. S,, '*Paninika* in Paninikal*in*Bharatwarsh' (Varanasi 1969) p. 224.
20. *Panini*, IV. 1.42; Ram Gopal, India of Vedic *Kalpasutras* (Delhi 1959) p. 134.

21. Agrawal, U. S., op. cit. p. 48; Rama Gopal op. cit. p. 134.
22. Randhawa, M. S. 'A History of Agricultnre in India' (New Delhi 1980) p. 14.
23. Puratattva No. 8 (1975-76) p. 135.
24. Sonepur Excavations p. 129; Reg. No. 935.
25. D.A.R. 1974-75.
26. Bhardwaj, H. C. 'Aspects of Early Technology in India' p. 397.
27. Agrwal, D. P. & Ghose, A. 'Radio carbon and Indian Archaeology' Bombay (1987) p. 397.
28. Bharadwaj, H. C. op. cit. p. 397.
29. Chakravarti, Dilp K. (Beginning of Iron and Social change in India) Indian Studies : Past and Present XIV, No. 4 (1973) p. 329-338.
30. Sharma, R. S. 'Ancient India' New-Delhi (1933) p. 79-80.

———

SOCIAL FORESTRY IN BIHAR-AN ATTEMPT TO RETAIN ECONOMIC AND ECOLOGICAL BALANCE

PUSHPA KAPOOR*

One of the major global problems today is the checking of the environmental pollution, which in turn is the 'Evil' of development, specially industrial development.

Pollution is easily controlled at the onest. It becomes almost in-curable at a later stage. The environmental pollution in the developing countries is still at a stage where timely action can check its bad effects. The developing countries should take advantage from the experiences of the developed countries to curb and control environmental pollution right at the start. The natural resources of the earth are classified into non-renewable and renewable. The forests fall under the second category. The value of trees is recognized since time immemorial as a safe-guard to the environment. But the concept of resources in relation to man's approach to equilibrium with his environment, changes from time to time and from place to place. The main problem in dealing with resources is the endowment of these resources in a region, the technical capabilities of the people to utilise these resources and also to find out 'substitutes' that modify the resource bases without interfering with the ecological balance. In formulating long term resources, policies, popula tion, growth and the material well-being of the quality of life are the main parameters. There is always a great necessity to find out a durable compromise between the population

**Department of Geography, Mahila Maha Vidyalaya, Banaras Hindu University.*

and the resources of a region before the situation gets out of control. In many advanced countries the non-renewable resources are already been explored and exploited to a very high degree, and the renewable resources are also reaching the ultimate point of recoverability. Fortunately the developing countries are at a stage where the resources still lie unexplored and under-utilised. Thus they have to formulate their own programmes for resource surveys in order to have an integrated approach to their exploitation and management to further up economic development without any interference with ecological system. Problems of developing countries are often very different from those of the developed countries. Most of the Developing countries are situated in the tropical belt which has very different characteristics from that of the temperate zone of the earth where most of the developed countries are located.

The total geographical area of Bihar is 173867 sq. kms. It has two distinct physical divisions—the Gangetic plain and the Chota Nagpur plateau. The plain region is thickly populated flat land with intensive cultivation and very little natural forests. The Chota Nagpur plateau, on the other hand, is hilly, rich in minerals, forests, and is inhabited mostly by tribal people.

The total area under forests is 29232 Sq. kms, which is roughly 16·8% of the total land area of the state. The most forested districts are Ranchi, Gumla, Hazaribagh, Singhbhum and Palamau. The per capita forest area is 0.05 ha. against All India average of 0. 14 ha. The rapid population growth is causing additional demands bringing pressure upon natural resources. Villagers have begun expoiting their limited resources without any constraints in order to meet their demands and to imrove their socio-economic conditions. Even the forest based villages, where the tree loving tribals reside, are facing indiscriminate exploitation of the forest resources

without giving thought to the fact that a change in any compartments are interlinked with one another. The unregulated fellings as well as uncontrolled grazing by cattle has caused great damage to tho forests which have been relegated to a bushy stage. About 33% of the forests in Bihar are now in a degraded condition. Sudden reduction in the size of producer Compartments, particularly forests, has increased soil erosion, run off and silting, increasing the loss of essential nutrients of productive lands. Such abrupt great losses from the system disrupt its homeostatic mechanism. As a result the system can not recoup fast enough to counteract erosive forces and thus finally succumbs to biotic pressures.

The villagers of the forest based villages, who depend altogether upon the forest products for their daily requirements are hard pressed. The soil of Chota Nagpur is poor in productivity besides lack of irrigation facilities in the hilly tracts. It give a weak base to agriculture. As a result the economy of the people living around the forests is very poor. They are also adversely affected by their cultural inhibitions and illiteracy to cope with change and adapt to newer situations. As a result the already poor (as per the national per capita income) but self-sustained tribals become poorer. It is a common sight in the forest belt of the state to find people walking for several miles with head loads of fuel wood, even leaves collected from forests, to sell it in the nearby markets.

Since man is the nucleus of all the changes, the pressures and principles involved should be examined in light of the resource and process interaction and their final interaction with man vis-a-vis his socio-economic and cultural evolution.

In order to overcome the problems of forests and forestry, for environmental conservation and also to give econo-

mic relief to people living in the forest belt, a massive programme of tree plantation is started in Bihar under the new 20-point programme of the country. The 12th item of the programme reads "Pursue vigorously programmes of afforestation, social and farm forestry and the development of biogas and other alternative energy sources."

The start of social forestry programme during 1978-79 is an important point in the forestry development of the country, where the government has introduced an integrated approach to the development of community forestry programme for sound land use, upkeep of environment and improved standard of forest communities. A major policy decision was taken to start economic plantation on farmers, land with active participation of the land owners. Earlier all plantation activities were confined to government lands. In Bihar, as elsewhere, the decision of raising economic trees on farm land of farmers specially belonging to various tribes (Advivasis) was taken. The choice of species is in accordance with the demand of the people. This scheme is exclusively in the tribal belt of Chota Nagpur and Santhal Paraganas with the principal aim to boost up tribal economy. The programme aims to help and guide the farmers and rural people to grow and protect trees on their farms, community land, tank foreshores, roads, and other similar available sites.

The social forestry is a comprehensive scheme. It aims to meet such basic needs of the community such as supply of fuel wood, fodder, timber for housing and agricultural implements and thorns for fencing. It also plans raising fruit trees and host plants for lac and Tassar silk-worms to enhance lac-trade and tassar culture which are closely associated with the tribal economy of the state. The choice of species comprise Gamhar, Sisham, Siris, Chakundi, Cassia Siamea, Neem, Eucalyptus, Mango, Jamun, Guava, Papayas,

oil bearing trees such as Karanj, Kusum, Asan and Arjun (for Tassar) and Ber (for lac).

Even though community forestry is of recent origin, it believes in far reaching effects on the regional economy via enhanced employment, additional income generation and also through conceivable saving in subsidies through a better accounting of outputs and revenues. Thus its aim is to bring stability to the villages (in this case, mostly of tribal people) both economically and ecologically.

———

RURAL FINANCIAL MARKETS IN DEVELOPING COUNTRIES : THEIR USES AND ABUSES

Author : J. D; Von Pischke, Dale W. Adams, Gorddo Donald (Eds.),

Publisher : *Published for the Economic Development Institute of the World Bank, Hopkins, London, 1983, pp. 441*

The editors have enriched the volume with fifty articles arrnaged in six parts, dealing with functions of financial markets, credit and finance in farm households and rural firms, urban financial institutions in rural markets, local rural financial institutions and government policies toward ruarl finance.

The first part of the volume deals with the financial theories of economic development and the financial sturcture of the developing countries. It critically evaluates the contributon of finance to agricultural development. The contributors to this part of government private and commercial finance institutions. The monetary authorities have an important institution building role. They encourage the establishment of a wide array of financial markets and institutions operating in these markets to allocate savings more competitively to the most productive investors (55). Rate of saving is the major problem in the developing countries. If the peasant's ideal is changed from non-productive to productive orientations, only then savings may be used for development purposes. It has been rightly observed that lack of capital in the developing countries is the major factor preventing adoptation of new in-puts. Low participations in saving and credit services in rural areas is explained by four factors, inaccessibility of borrowers to routine transctions, costly to use credit (as bribes are common), rules are too rigid and negative real rates of interest. Therefore,

increased attention must be given to the terms and conditions of loan. Group lending is successful in rural areas of Malawi, Korea and Kenya. In order to mobilize the considerable sums of money available in rural communities, it is suggested that a net-work of services should be provided for accepting saving deposit at attractive interest rates. The main theme of these articles in the volume is how to procure rural finance in developing countries, A general conclusion, reflecting the spirit of the facts and arguments, is to promote and mobilise voluntary household saving for two reasons. First, voluntary savings enable more rapid accumulation of real capital in agriculture. Second, the challenge presented by a voluntary decision to save helps engender and develop an entrepreneurial spirit. The editors are successful in presenting a volume of articles of sound academic arguments based on research facts and findings.

Vinai Kumar
JRF, IRDP.
Banaras Hindu University

नियम

(1) 'प्रज्ञा', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी : प्रथम अंक दीपावली के तुरन्त बाद और दूसरा अंक होली के पूर्व।

(2) सभी प्रकार का शुल्क संपादक 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी–221005 के नाम भेजें।

(3) पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों के लेख प्रथम अंक के लिए 20 जुलाई तक और द्वितीय अंक के लिए 20 नवम्बर तक संकाय संपादकों के पास तथा संपादक-मंडल के पास क्रम से 30 जुलाई और 30 नवम्बर तक पहुँच जाना चाहिए।

(4) लेख फुलस्केप कागज पर एक तरफ टंकित होना चाहिए और सामान्यतः 10 पृष्ठों से अधिक नहीं होना चाहिए। लेखकों को उनके लेख की रिप्रिन्ट्स की 25 प्रतियाँ दी जायेंगी।

(1) The 'Prajna', shall so far as possible, be published twice a year: one issue immediately after the Dipawali, the other immediately before the Holi.

(2) All subscriptions should be sent to the Editor, "Prajna". B.H.U. Journal, Varanasi–221005.

(3) Articles intended for publication in this Journal by B.H.U. scholars should be submitted to the Faculty Editor before July 20 for the first issue and November 20 for the next issue and should reach the Editorial Board on July 30 and Nov. 30 respectively.

(4) Ariticles should ordinarily be type-written on foolscape paper on one side only and should not ordinarily cover more than 10 pages. Authors contributing original articles to the Journal are entitled to receive 25 off-prints gratis.

——

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-संपदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि संवंधी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTS OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit Literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India.
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches.
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country: and
4. To promote building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.

मुद्रक : सिंह प्रिंटिंग प्रेस, नाटी इमली, वाराणसी।